प्रकाशक—नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
मुद्रक—महताब राय, नागरी मुद्रण, काशी
संवत २०११, द्वितीय संस्करण १५०० प्रति



स्व० कुँवर श्री रामविलास जी पोदार

दो शब्द

कुँवर रामबिलासजी पोदार नवलगढ़ तथा बंबई के लब्धप्रतिष्ठ व्यापारी सेठ आनंदीलालजी पोदार के कनिष्ठतम पुत्र थे। उनका जन्म ३ सितम्बर सन् १६१३ को बम्बई नगर में हुआ था। 'प्रसाद चिन्हानि पुरः फलानि' के अनुसार उनकी गुण-गरिमा बाल्यकाल ही से प्रगट होने लग गई थी।

प्रारम्भिक शिक्षा घर में ही प्राप्त करने के बाद रामबिलास जी बम्बई के मारवाड़ी विद्यालय हाई स्कूल मे प्रविष्ट हुए; वहाँ से उन्होने मैट्रिक्युलेशन परीक्षा पास की। इसके बाद वे सेंट जेवियर्स कालेज में भरती हुए और सन् १६३४ में उन्होने बी० ए० की उपाधि प्राप्त की। इसके एक वर्ष पहिले ही कलकत्ते के मान्य व्यवसायी सेठ भूधरमल जी राजगढ़िया की सुपुत्री कुमारी ज्ञानवती से उनका विवाह सम्बन्ध हो गया था। तदनन्तर वे एम० ए०, एल-एल० बी० का अध्ययन करने लगे, पर व्यापार सम्बन्धी उत्तरदायित्व के बढते जाने के कारण उन्हे अध्ययन स्थगित कर देना पड़ा।

मैट्रिक्युलेशन पास करने के बाद से ही रामबिलासजी ने व्यापार की ओर ध्यान देना आरम्भ कर दिया था और बी० ए० पास करने के बाद तो आनन्दीलाल पोदार एण्ड को० की सम्हाल और देख-रेख का अधिकांश कार्य-भार उन पर आ पड़ा। अपने थोड़े से व्यापारिक जीवन में भी उन्होने बहुत अधिक सफलता प्राप्त कर दिखाई और न केवल फर्म के प्रत्येक विभाग की ही उन्नति की किंतु अनेक नवीन विभाग भी स्थापित किये।

व्यापारोन्नति से अधिक महत्वपूर्ण उनकी समाज-सेवा तथा देशभक्ति थी। अध्ययन-काल में भी वे असहाय छात्रों की हर तरह से मदद किया करते थे। पुस्तकें दिलवा देना, कपड़े बनवाना या फीस आदि दे देना उनके नित्य के कार्य थे। मारवाड़ी युवको की उन्नति के लिये उन्होने 'मारवाड़ी

स्पोर्टिङ्ग क्लब' की स्थापना की। बम्बई के प्रसिद्ध 'मेरी मेकर्स क्लब' के भी वे संरक्षक तथा संस्थापको में थे।

शिक्षा-संस्थाओं से रामबिलासजी को विशेष प्रेम था। 'सेंट जेवियर्स कालेज' के गुजराती इन्स्टीट्यूट की स्थापना में उनका प्रमुख भाग था। 'मारवाड़ी विद्यालय' तथा 'सीताराम पोद्दार बालिका विद्यालय' के प्रत्येक समारोह में वे बड़े उत्साह से भाग लेते थे। अपने पिता द्वारा स्थापित और संरक्षित संस्थाओं की सुव्यवस्था का उन्हें सदैव ध्यान रहता था। विशेषतः नवलगढ़ के 'सेठ जी० बी० पोदार हाई स्कूल' और साताक्रूज स्थित 'सेठ आनंदीलाल पोदार हाई स्कूल' का तो प्रबंध भार बहुत कुछ उन्हीं पर था और उनकी देखरेख में इन संस्थाओ ने उल्लेखनीय उन्नति की।

रामबिलासजी को देश का भी पूरा ध्यान था। अल्पवयस्क होते हुए भी वे आधुनिक युग के उन्नत विचारों से भली भाँति परिचित हो गये थे। उनके विचार पूर्णतया राष्ट्रीय थे, जिनमें समाजवाद की भी कुछ झलक थी। कांग्रेस के प्रति उनकी श्रद्धा असीम थी और देश के महान् आन्दोलनो में उन्होने बड़े नाजुक मौको पर सहायता दी थी।

सब से बड़ी बात उनमें यह थी कि अन्य लक्ष्मीपात्रों की तरह वे कभी अर्थ-मदान्ध नहीं हुए। उनमें सहानुभूति, उदारता और स्वार्थत्याग कूट कूट कर भरे थे। उनका सादा गार्हस्थ्य जीवन, कर्त्तव्यशीलता और निष्कपट व्यवहार अनुकरणीय था। संक्षेपतः रामबिलासजी बड़े शिक्षाप्रेमी, विद्वान् और व्यापार-कुशल थे और इनसे भी बढ़ कर थी उनमें सदाचारिता, सौजन्य, सहृदयता और देशभक्ति। यदि वे जीवित रहते तो निःसंदेह समाज और देश की उनके द्वारा बहुत सेवा होती और वे जाति तथा देश का मुख उज्ज्वल करते, पर शोक है कि ६ जुलाई सन् १९३६ को कराल काल ने अकस्मात मोटर दुर्घटना के बहाने इस युवकरत्न को केवल २३ बर्ष की अवस्था में अपना ग्रास बना लिया।

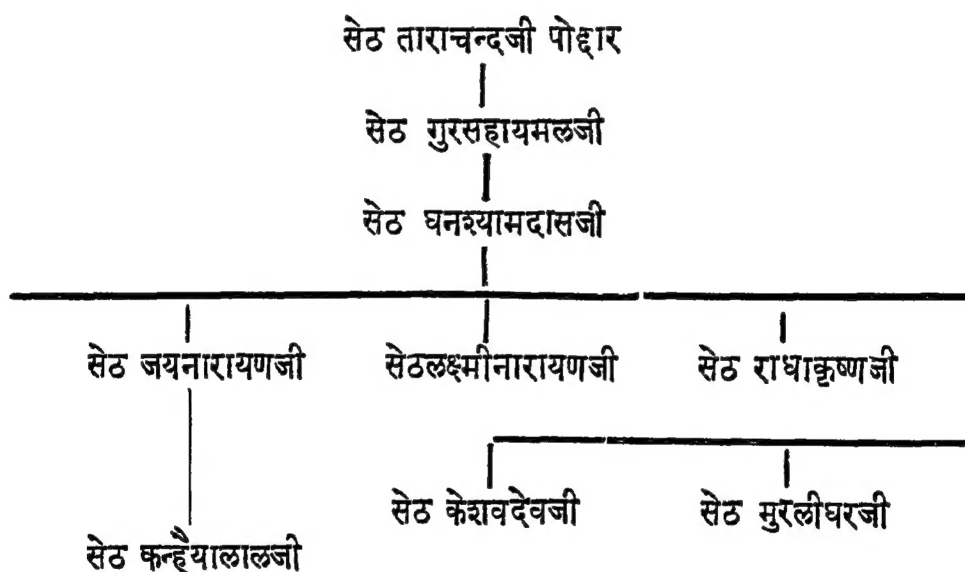
ऐसे होनहार युवक के अकाल देहावसान से उसके कुटुम्बीवर्ग, मित्रों तथा उसके सम्पर्क में आनेवाले अन्य व्यक्तियों को कितना शोक हुआ, यह

शब्दो द्वारा प्रगट नहीं किया जा सकता। सबने मिल कर उसकी स्मृति रक्षार्थ '**श्री रामबिलास पोदार स्मारक समिति**' की स्थापना की। इस समिति ने मित्रो तथा प्रेमियो के विशेष आग्रह के कारण रामबिलासजी की जीवनी तथा स्मृतियो का संग्रह प्रकाशित करने का निश्चय किया और देश तथा विदेश के उच्चकोटि के साहित्य को हिन्दी भाषा में प्रकाशित करने के उद्देश्य से '**श्री रामबिलास पोदार स्मारक ग्रंथमाला**' की स्थापना की। इस माला में चार सौरभ पुष्प गुंफित करने के अनंतर संवत् १९९८ से समिति ने यह कार्य काशी नागरीप्रचारिणी सभा को सौप दिया। समिति की इच्छा के अनुसार राष्ट्र भारत की अर्चना के लिए सुंदर सुरभित सुमनो के संचय का जो दायित्व सभा ने लिया है उसकी पूर्ति में आशा है उसे विद्वद्वर्ग का सहयोग सुलभ होगा और इस मालिका की दिवंगतात्मा की गौरवगरिमाके अनुरूप प्रस्तुत करने में उसे सफलता मिलेगी।



ग्रन्थकार-परिचय

साहित्य-मर्मज्ञ सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार का जन्म सं० १६२८ वि० में मथुरा नगरमें हुआ। इनके पिता का नाम सेठ जयनारायणजी था जो सुप्रसिद्ध ताराचन्द जी पोद्दार के प्रपौत्र थे। निम्नलिखित वंशावली से पाठकों को सब स्पष्ट हो जायगा—



सेठजी के पूर्वजों का निवास-स्थान चूरू (बीकानेर राज्य) में था। इसके पश्चात् वे लोग रामगढ़ (जयपुर राज्यान्तर्गत सीकर ठिकाना) में स्थायी रूप से रहने लगे। सं० १९०० के लगभग सेठ गुरसहायमलजी ने आकर मथुरा में श्री गोविन्ददेवजी का मंदिर बनवाया और उस समय से मथुरा में प्रायः निवास भी करने लगे।

सेठ जयनारायणजी अनन्य भगवद्भक्त थे, उनकी दानशीलता व्रजमंडल में सुप्रसिद्ध है। उनको अंग्रेजी शिक्षा मे अरुचि थी, अतः सेठजी को धार्मिक तथा व्यापारिक शिक्षा हिंदी-संस्कृत में ही मिली। सं० १६४० में

पिताजी का देहांत हो जाने पर गृहस्थी और व्यापार का सारा भार इन्हीं पर आ पड़ा। इस समय इनकी अवस्था केवल १२ वर्ष की थी, परन्तु इन्होंने धैर्य न छोड़ा, और व्यापारादि में संलग्न रहते हुए भी वे विद्याध्ययन की ओर प्रयत्नशील रहे। श्रीमद्भागवत, श्री वाल्मीकीय रामायण तथा श्री रामचरित मानस आदि के निरंतर पठन तथा मनन के कारण इनके हृदय में काव्य-संबंधी अभिरुचि जागृत हो गई और साहित्य-ग्रंथो के अध्ययन का अनुराग बढ़ता गया। सेठजी काव्य-रचना का भी अभ्यास करने लगे।

सं० १९४७ में इनका भर्तृहरि के तीनों शतकों का ब्रजभाषा पद्यानुवाद कालाकांकर (प्रतापगढ़) के प्रसिद्ध दैनिक 'हिन्दोस्तान' में निकला तब से समय-समय पर सामयिक पत्र-पत्रिकाओ जैसे सरस्वती, माधुरी, सुधा, वीणा आदि में इनकी रचनाएँ प्रकाशित होती रही हैं।

सं० १९५९ में अलङ्कारप्रकाश नामक ग्रंथ प्रकाशित हुआ। हिंदी में यह अलङ्कार विषयक गद्यात्मक विवेचन का सर्वप्रथम ग्रंथ था। इसमें सेठजी ने अलंकारो का नवीन शैली से विवेचन किया था। विद्यार्थियो के लिए यह ग्रंथ विशेष उपयोगी सिद्ध हुआ और इसका सर्वोपरि प्रमाण यह है कि हिंदी-साहित्य सम्मेलन ने मध्यमा परीक्षा के पाठ्य ग्रंथों में इसका समावेश किया।

इसके पश्चात् सेठजी का द्वितीय ग्रंथ पंडितराज जगन्नाथ कृत गङ्गालहरी का तथा तृतीय ग्रंथ श्री श्रीमद्भागवत के दशमस्कंध के ५ अध्यायों का समश्लोकी पद्यानुवाद पंचगीत के नाम से प्रकाशित हुआ।

तदनंतर इनकी प्रसिद्ध रचना 'हिंदी मेघदूत विमर्श' जनता के सामने आई। इसकी विस्तृत भूमिका में लेखक ने मेघदूत संबधी अनेक विषयों की खोजपूर्ण गवेषणा की है और कालिदास के समय-निरूपण के संबंध में ऐतिहासिक विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त मेघदूत के समश्लोकी पद्य तथा गद्यानुवाद के साथ-साथ उस विषय की ऐतिहासिक, भौगोलिक और साहित्यिक बातों का भी विवेचन किया गया है।

सं० १९८३ में कनामक ग्रंथ आगर,।साह्रु व्पल्यकनागरीप्रचारिणी सभा

द्वारा प्रकाशित हुआ। इसमें अलंकारो के साथ रस, ध्वनि, व्यंग्य, गुण, रीति, काव्यदोष आदि सभी काव्याङ्गो का समावेश किया गया है। यह ग्रंथ भी हिंदी-साहित्य-संमेलन की मध्यमा परीक्षा के लिए स्वीकृत हुआ था। यही नहीं बल्कि हिंदी के उद्भट लेखको जैसे बा० जगन्नाथ दास 'भानु' लाला भगवानदीन आदि ने भी अपनी रचनाओ में इसका पर्याप्त उपयोग किया है।

सं० १९९१ तथा ९३ में काव्यकल्पद्रुम का नवीन संस्करण रस-मंजरी और अलंकारमंजरी के नाम से दो भागो मे मुद्रित हुआ। इनमे काव्य-साहित्य जैसे जटिल विषय प्रसिद्ध संस्कृत ग्रंथो के आधार पर सरलतापूर्वक समझाये गये हैं। इन पुस्तको मे केवल विषय-निरूपण ही नही है किंतु आचार्यों के विभिन्न मतो का आलोचनात्मक विवेचन भी है। ये दोनो ग्रंथ हिंदी-साहित्य-समेलन की उत्तमा परीक्षा तथा आगरा एवं कलकत्ता विश्वविद्यालयों की एम० ए० परीक्षाओ में निर्वाचित हैं। अभी हाल में हिंदी-साहित्य-संमेलन ने मध्यमा के परीक्षार्थियो के लिए संक्षिप्त अलंकारमंजरी इनसे लिखवा कर प्रकाशित की है।

सेठजी की नवीनतम कृति 'सस्कृत साहित्य का इतिहास' पाठको के सामने है ही। यह ग्रंथ कितना विवेचनापूर्ण, गम्भीर तथा उच्चकोटि का है, यह अध्ययन से ही ज्ञात होगा। यहाँ मैं केवल इतना ही कहूँगा कि हिन्दी भाषा मे इस कोटि का ग्रन्थ आज तक प्रकाशित नही हुआ।

समालोचक के रूप में भी इनका हिन्दी संसार में एक विशिष्ट स्थान है। बा० जगन्नाथप्रसाद 'भानु' के काव्य प्रभाकर[1], लाला भगवानदीन की व्यंग्यार्थ मंजूषा[2], और अलङ्कारमंजूषा[3], पं० रामशंकर शुक्ल (रसाल) के अलङ्कार

---

१ माधुरी वर्ष ७ खड १ सख्या १ पृष्ठ ५४-६२ और अलङ्कार मजरी की भूमिका
माधुरी वर्ष ७ खण्ड १ सख्या ५ पृष्ठ ८३२-३७
माधुरी वर्ष ६ खण्ड २ संख्या ३ पृष्ट ३१३-३१८
३ माधुरी वर्ष ८ खण्ड २ सख्या ३ पृष्ठ २९०-९५ और अलङ्कार मंजरी की भूमिका तथा समालोचक त्रैमासिक हेमन्त १९८४ पृ० १५१-६०

पीयूष[१], कविराजा मुरारिदान कृत जसवन्तजसोभूषण[२] आदि पर इनके आलोचनात्मक लेख पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं जिनका प्रतिवाद आजतक नहीं निकला।

सेठजी साहित्य-संसार में ही नहीं किन्तु मारवाड़ी समाज में भी एक विशेष स्थान रखते हैं। ये कुल परंपरागत सनातनधर्म के दृढ़ अनुयायी हैं। मारवाड़ी समाज ने आपकी सामाजिक सेवाओं का समुचित आदर किया है। हाथरस में होनेवाली प्रान्तीय मारवाड़ी अग्रवाल महासभा का सभापतित्व इन्होंने ग्रहण किया था। अखिल भारतवर्षीय मारवाड़ी पंचायत का जो प्रथमाधिवेशन बम्बई में किया गया था उसका सभापति इन्हीं को बनाया गया था। लक्ष्मणगढ़ (जयपुर राज्यान्तर्गत सीकर ठिकाना) में होनेवाले अखिल सनातन–धर्मानुयायी मारवाड़ी युवक-सम्मेलन के भी सभापति सेठजी ही थे। इन अधिवेशनों में दिये गये भाषण इनके धार्मिक तथा सामाजिक विचारो के अच्छे परिचायक हैं।

विद्वान् होने के साथ-साथ सेठजी बड़े मिलनसार, सादगी-पसन्द और विनोद-प्रिय व्यक्ति हैं। एक बार सम्पर्क में आनेवाला भी इनके व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। व्यापारादि कार्यों से समय निकाल कर इन्होने जो साहित्य-सेवा की है, इसके लिए ये वास्तव में बधाई के पात्र हैं।

जवाहिरलाल जैन

---

१ माधुरी वर्ष ८ खण्ड २ संख्या ५ पृष्ट ५८६-९२ और अलङ्कार मंजरी की भूमिका

२ द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ और काव्यकल्पद्रुम द्वि० सं० पृ० २२४-३२

भूमिका

"वन्दे कवीन्द्रवक्त्रेन्दुलास्यमन्दिरनर्तकीम् ।
देवीं सूक्तिपरिस्पन्दसुन्दराभिनयोज्ज्वलाम् ॥"

'साहित्य' शब्द सहित शब्द से भाव के अर्थ मे 'ष्यञ्' प्रत्यय के संयोग से बनता है। सहित का अर्थ है मेलन—सहित + ष्यञ्=मेलनम्। साहित्यस्य भावः साहित्यम्। अर्थात् जिससे एक से अधिक वस्तु मिली हो वह 'साहित्य' कहा जाता है। शब्दशक्तिप्रकाशिका आदि ग्रन्थो मे साहित्य की जो— 'तुल्यवदेवकक्रियान्वयित्वम् बुद्धिविशेषविषयत्वं साहित्यम्' इत्यादि परिभाषाएँ दी गई हैं उनसे भी यही अर्थ सिद्ध होता है। इसी अर्थ को लेकर भाषा-विशेष के समस्त विषयो का ग्रन्थ-समूह उस भाषा का साहित्य कहा जाता है। व्याकरण, न्याय, मीमासा आदि शास्त्रो के ग्रन्थ-समूह के लिये साहित्य शब्द का प्रयोग किया गया है—

साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं,
काव्यामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः।
यत्तास्य दैत्या इव लुण्ठनाय
काव्यार्थचोराः प्रगुणी भवन्ति ॥
—विक्रमाङ्कदेवचरित १।११

इसमें संस्कृत के समस्त विपयो के ग्रन्थ-समूह के लिये सामान्य तथा साहित्य शब्द का व्यापक रूप में प्रयोग किया गया है। किन्तु प्राचीन-काल से ही साहित्य शब्द का प्रयोग अधिकतर काव्य के पर्यायवाची विशेष अर्थ में प्रचलित है। जैसे—

'पञ्चमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः।'
—कविराज राजेशेखर काव्यमीमांसा पृ० ४

'व्याकरणमीमांसातर्कसाहित्यात्मकेषु चतुर्षु शास्त्रेषूपयोगात् ।'

—मुकुल भट्ट, अभिधावृत्तिमात्रिका पृ० २१

'मीमांसासारमेधात् पदजलधिविधोस्तर्कमाणिक्यकोशात् ।
साहित्यश्रीमुरारेर्बुधकुसुममधोः सौरिपादाब्जभृङ्गात् ॥'

—प्रतिहारेन्दुराज[१]

'बिना न साहित्यविदा परत्र गुणाः कथञ्चित्प्रथते कवीनां ।'

— महाकवि मखक, श्रीकण्ठचरित २।१२

इन वाक्यों में काव्य के लिये ही 'साहित्य' शब्द का प्रयोग विभिन्न साहित्याचार्यों द्वारा किया गया है। अच्छा, अब यह विवेचनीय है कि सभी शास्त्रों के लिये व्यापक रूप में प्रयोन किये जाने वाले 'साहित्य' शब्द का 'काव्य' के विशेष अर्थ में कब से प्रयोग होने लगा है। ऊपर जिन के वाक्य उद्धृत किये गये हैं, वे साहित्याचार्य या काव्य-लेखक हैं और वे सभी लगभग ईसा की दशम शताब्दी मे हुए हैं। किन्तु, इनके पूर्व भी काव्य के लिये 'साहित्य' का प्रयोग प्राचीन समय मे अन्य शास्त्रकारो द्वारा भी किया गया है। भर्तृहरि का समय मि० मेक्समूलर के मतानुसार ६५० ई० है[१]। भर्तृहरि महान् वैय्याकरण भी थे इनकी 'सार' नामक महाभाष्य की टीका का परिचय कराते हुए व्याकरणाचार्य कैयट अपनी 'प्रदीप' टीका में कहते हैं—

'तथापि हरिवद्धेन सारेण ग्रन्थसेतुना ।
क्रममाणः शनैः पारं तस्य प्राप्तोऽस्मि पङ्गुवत् ॥'

ऐसे महान् व्याकरणाचार्य भर्तृहरि ने भी 'साहित्य' शब्द का प्रयोग काव्य के लिये किया है—

'साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः ।'

बस उपलब्ध ग्रन्थो मे ईसा के सप्तम शताब्दी के लगभग से काव्य के

---

१ देखिये उद्भट का काव्यालङ्कारसारसंग्रह की व्याख्या का अन्तिम पद्य ।

१ देखिये India what can it teach us P. 347

विशेष अर्थ में साहित्य' शब्द का प्रयोग मिलता है। और इसका कारण यह है कि काव्य में शब्द और अर्थ दोनो सम्मिलित रूप में प्रयुक्त होते हैं। आचार्य भामह ने (जो ईसा की सप्तम शताब्दी के ही लगभग हुआ है) काव्य का लक्षण—

'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।'

—काव्यालङ्कार १।२६

यह लिखा है। किन्तु प्रश्न होता है कि शब्द और अर्थ परस्पर सापेक्ष होने के कारण काव्य के अतिरिक्त अन्य सभी शास्त्रो में भी शब्द और अर्थ सम्मिलित ही रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में अन्य शास्त्रो की अपेक्षा काव्य में प्रयुक्त शब्द और अर्थ मे क्या विशेषता है, जिसके कारण काव्य को 'शब्दार्थौ सहितौ' कहा गया ? इस प्रश्न का समाधान राजशेखर की दी हुई साहित्य की

'शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या।'

—काव्यमीमांसा पृष्ठ ५

इस परिभाषा द्वारा हो जाता है। इस परिभाषा में 'यथावत् सहभाव' पद द्वारा स्पष्ट है कि काव्य में शब्द और अर्थ दोनों का सहभाव समान रूप में तुल्य-कक्ष होना अपेक्षित है, जब कि अन्य शास्त्रों में केवल अर्थ की प्रतीति के लिये ही शब्द का आश्रय लिया जाता है। किन्तु काव्य में शब्द के अनुरूप अर्थ का और अर्थ के अनुरूप शब्द का होना आवश्यक है। जैसा कि राजानक रुय्यक ने कहा है—

'न च काव्ये शास्त्रादिवदर्थप्रतीत्यर्थं शब्दमात्रं प्रयुज्यते।
सहितयोः शब्दार्थयोस्तत्र प्रयोगात्। साहित्यं तुल्यकक्षत्वेनान्यूनातिरिक्तत्वम्।'

—व्यक्तिविवेक व्याख्या

वक्रोक्तिजीवितकार राजानक कुन्तक ने साहित्य शब्द का विवेचन करते हुए इस बात को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है। कुन्तक का कहना है—

"वाच्यार्थो वाचकःशब्दः प्रसिद्धमिति यद्यपि।
तथापि काव्यमार्गेऽस्मिन् परमार्थोयमेतयोः॥
शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाल्हादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः॥"

—वक्रोक्तिजीवित १।८-९

अर्थात् प्रथम तो अन्य शास्त्रो की अपेक्षा काव्य में प्रयुक्त किये जाने वाले शब्द और अर्थ में बड़ा भेद है। अन्य शास्त्रो मे वर्णनीय अर्थ के किसी भी वाचक शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु काव्य में वर्णनीय अर्थ के वाचक अन्य बहुत से शब्दों के होते हुए भी ऐसे ही शब्द का प्रयोग होता है, जो कवि के केवल विवक्षित (ईप्सित) अर्थ का ही वाचक होता है। इसी प्रकार अन्य शास्त्रो मे अर्थ भी केवल विषय-प्रतिपादक मात्र होता है, किंतु काव्य में जो अर्थ होता है वह भी काव्य-मर्मज्ञ सहृदयजनो के चित्त को एक बार ही आल्हाद से परिप्लुत करने वाला होता है। फिर काव्य में शब्द और अर्थ का परस्पर सहित भाव (साहित्य) भी अन्य शास्त्रो की अपेक्षा विलक्षण होता है, बस काव्य के लिये 'साहित्य' शब्द का प्रयोग किये जाने में यही विशेषता है। कहा है—

'साहित्यमनयोः शोभा शालितां प्रति काव्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः॥'

—वक्रोक्तिजीवित १।१७

अर्थात् जिसमें शब्द और अर्थ दोनो की अन्यूनानतिरिक्त परस्पर में स्पर्धापूर्वक मनोहारिणी श्लाघनीय स्थिति हो वह साहित्य है। साहित्य मे वाचक (शब्द) की वाचकान्तर के साथ और वाच्य (अर्थ) की वाच्यान्तर के साथ परस्पर एक की अपेक्षा दूसरे का अपकर्ष या उत्कर्ष न होकर समान रूप में स्थिति होना आवश्यक है। शब्द और अर्थ की ऐसी समान स्थिति अन्य शास्त्रो में न रहकर काव्य में ही रहती है। जैसे—

> "द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां
> समागमप्रार्थनया कपालिनः ।
> कला च सा कान्तिमती कलावतः
> त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥"
>
> —कुमारसम्भव ५।७१

इस पद्य मे भगवान शङ्कर के साथ विवाह के लिये तपश्चर्या करती हुई पार्वतीजी के प्रति प्रेम-परीक्षा लेने को ब्रह्मचारी का छद्मवेश धारण करके गये हुए स्वयं श्री शङ्कर की उक्ति है—हे पार्वती, तेरे द्वारा कपाली (महादेव) के समागम की प्रार्थना किये जाने के कारण अब दो व्यक्ति शोचनीय अवस्था को प्राप्त हो गये हैं। एक तो कलाधारी चन्द्रमा की वह कान्तिमती कला और दूसरी तू जो अखिल विश्व के नेत्रो को आल्हादकारिणी है।

भगवान् शङ्कर के नाम-वाचक सहस्रो शब्दो के होते हुए भी यहाँ 'कपाली' (नरकपालो की माला धारण करनेवाला) शब्द का प्रयोग ही कवि के विवक्षित अर्थ का (जो शङ्कर को अत्यन्त घृणास्पद और निंद्य सूचन करना है उस अर्थ का) वाचक है। यदि 'कपाली' के स्थान पर यहाँ 'पिनाकी' आदि शङ्कर के नामवाचक किसी अन्य शब्द का प्रयोग किया जाता तो वह कवि के इस विवक्षित अर्थ का वाचक नहीं हो सकता था। प्रत्युत 'पिनाकी' (धनुष धारण करनेवाला) आदि शब्द द्वारा शङ्कर का वीरत्व आदि सूचन होता जो कि शङ्कर की निन्दा के प्रसङ्ग-विरुद्ध है। फिर यहाँ 'सम्प्रति' और 'द्वयं' यह दोनो शब्द भी कवि के इस विवक्षित अर्थ के वाचक होने के कारण इनका प्रयोग भी बहुत उपयुक्त हुआ है अर्थात् अब से पहिले कपाली के संसर्ग मे रहने के कारण एक चन्द्रकला ही लोक मे शोचनीय हो रही थी पर 'सम्प्रति'—अब—'कपाली' जैसे घृणास्पद व्यक्ति के समागम की प्रार्थना करनेवाली दूसरी तू भी उसी शोचनीय दशा को प्राप्त हो गई है। यहाँ 'प्रार्थनया' शब्द भी अपना एक महत्व रखता है। अर्थात् तेरी यह शोचनीय दशा

काकतालीय घटना द्वारा अकस्मात् नहीं हो गई है, किन्तु तू तो समझ बूझकर ऐसे अमङ्गल और घृणास्पद व्यक्ति की प्राप्ति के लिये घोर तपश्चर्या द्वारा प्रार्थना कर रही है। इन शब्दों के अतिरिक्त यहाँ 'कलावतः' 'कान्तिमती' और 'लोकस्य च नेत्रकौमुदी' यह विशेषणात्मक शब्द भी क्रमशः चन्द्रकला और पार्वतीजी के अलौकिक सौन्दर्य के उत्कर्षक और कपाली के साथ उनके सम्बन्ध की अयोग्यता-सूचक होने के कारण शोचनीय अवस्था की परिपुष्टि कर रहे हैं। अतः यहाँ एक शब्द दूसरे शब्द के साथ स्पर्द्धापूर्वक समान रूप में चमत्कारक है। यह प्रधानतया शब्द-सौन्दर्य विन्यास के परस्पर साहित्य का दिक्दर्शन है। अब देखिये, परस्पर वाच्य (अर्थ) के रमणीय-साहित्य का भी एक उदाहरण—

'तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी
मुनिः कुशेध्माहरणाय यातः।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः
श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः।'

—रघुवंश १४।७०

इसमें भगवान् श्री रामचन्द्र की आज्ञा वश सीताजी को लक्ष्मणजी द्वारा वन में छोड़े जाने के बाद का वर्णन है कि—कुश और समिधा लेने को जाते हुए कवि (महर्षि वाल्मीकि) सीताजी के रुदन का अनुसरण करते हुए उनके (सीताजी के) सन्मुख प्राप्त हुए। कौन से कवि—वही कवि जिनका वह शोक—जो व्याध द्वारा विद्ध किये गये क्रौञ्च पक्षी को देखने से उत्पन्न हुआ था—श्लोक में परणित हो गया था।

यहाँ 'कवि' शब्द द्वारा निर्देश किये हुए मुनि का परिचय 'वाल्मीकि' कह देने मात्र से दिया जा सकता था। किन्तु यहाँ पद्य के उत्तरार्द्ध में महर्षि वाल्मीकिजी का परिचय पूर्वानुभूत क्रौञ्च पक्षी के वृत्तान्त द्वारा देकर कविशेखर कालिदास ने यह सूचित किया है कि जिन परम कारुणिक मुनि के अन्तःकरण

का, वह शोकोद्गार जो एक पक्षी की शोचनीय दशा देखने पर उत्पन्न हुआ था, श्लोक रूप मे वलात् मुख से निकल पड़ा था, उनके अन्तःकरण की वह करुणाप्लावित विवश दशा, जो निर्जन वन मे परित्यक्ता जनकराज-पुत्री साकेताधिपति महाराजाधिराज श्री रामचन्द्र को प्राणप्रिया गर्भिणी सीताजी की तादृश अत्यन्त शोचनीय अवस्था को देखने पर हुई, किस प्रकार कथन की जा सकती है—अनिर्वचनीय है।

इस पद्य के पूर्वार्द्ध का अर्थ जिस प्रकार करुण रस परिपूर्ण है उसी प्रकार उत्तरार्द्ध का अर्थ करुण रस का परिपोषक होने के कारण दोनो अर्थ स्पर्द्धापूर्वक सहृदय-जनो के हृदय के आल्हादक हैं।

ऊपर के दोनो उदाहरणों में जिस प्रकार वाचक के साथ वाचकान्तर की तथा वाच्य के साथ वाच्यान्तर की समान रूप में सौन्दर्य-स्थिति है, उसी प्रकार वाचको (शब्दो) की वाच्यो के (अर्थों) के साथ भी तुल्य-कक्षता है—वर्णनीय विषय के अनुकूल पदावली है। शब्द और अर्थ की परस्पर तुल्य-कक्षता का एक उदाहरण और भी देखिये—

"ततोऽरुणपरिस्पन्दमन्दीकृतवपुः शशी।
दध्ने कामपरिक्षामकामिनीगण्डपाण्डुताम्॥"†

अरुणोदय के प्रारम्भ समय में अस्तायमान निष्प्रभ चन्द्रमा को यहाँ काम-पीड़ा से क्षीण-काय होनेवाली कामिनी के कपोलों की पाण्डुता धारण करनेवाला कहा गया है। अतः जिस प्रकार यहाँ निदर्शन अलङ्कार की स्थिति द्वारा अर्थ की चमत्कृति है उसी प्रकार स्पन्द, मन्द आदि में वर्णों की साम्यता के कारण वृत्यानुप्रास है उसके द्वारा शब्द की चमत्कृति भी है। यहाँ अर्थ

---

† इस पद्य को सुभाषितावली संख्या २१५३ में श्री वाल्मीकिजी का और काव्यप्रकाश की वामनाचार्य की टीका मे पृ० ५९९ में महाभारत के द्रोणपर्व का कमलाकर भट्ट के अनुसार वताया गया है किन्तु यह वाल्मीकि रामायण और महाभारत दोनों ही मे नहीं मिलता है।

और शब्द परस्पर स्पर्द्धापूर्वक शोभायमान हैं। इसके विपरीत जहाँ शब्द या अर्थ का समान-रूप में सह-भाव (साहित्य) नहीं होता है वह वर्णन साहित्य या सत्काव्य पद के अधिकार से च्युत भी हो जाता है। इसका भी एक उदाहरण देखिये—

'कल्लोलवेल्लितदृषत्परुषप्रहारै
रत्नान्यमूमि मकराकर मा वमंस्था।
किं कौस्तुभेन भवतो विहितो न नाम
याञ्चाप्रसारितकरः पुरुषोत्तमोऽपि।'

—भल्लट शतक

इस पद्य में अन्योक्ति रूप में समुद्र को उपालम्भ दिया गया है कि हे मकराकर, तू अपनी उत्तुङ्ग तरङ्गावली से सञ्चालित पाषाणों के भयङ्कर प्रहार से इन रत्नो का तिरस्कार न कर। देख, कौस्तुभ रत्न ने तेरा कैसा यश प्रसिद्ध कर दिया है—जिसके लिये स्वयं पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण ने हाथ पसार कर तेरे से याचना की थी।

यद्यपि अन्य शास्त्रों के समान शब्दो द्वारा यहाँ अर्थ की प्रतीति अवश्य हो जाती है। किन्तु काव्योपयोगी यहाँ शब्द-प्रयोग समान रूप से नहीं हो पाया है। यहाँ सामान्य रूप में रत्नो की अवहेलना करने का समुद्र को उपालम्भ देकर कवि का ईप्सित तात्पर्य यह है कि उन रत्नों में के एक रत्न ने ही तेरा कितना उपकार किया है। किन्तु उत्तरार्द्ध में सामान्य रूप में रत्नो का महत्व न बतला कर एक विशेष रत्न 'कौस्तुभ' का प्रयोग किया है जिसके द्वारा सामान्यतया सभी रत्नों का महत्व-सूचन नहीं हो सका है—केवल कौस्तुभ की ही प्रशंसा सूचित होती है। इस कथन से कवि के दिये हुए उपालम्भात्मक अर्थ की पुष्टि नहीं हो सकी है—कौस्तुभ के सिवा अन्य रत्न ऐसे महत्वपूर्ण न होने के कारण उनका तिरस्कार समुद्र द्वारा किया जाना अनुचित नहीं हो सकता। यदि तीसरे पाद में—'किं कौस्तुभेन विहितो' के स्थान पर—'एकेन

किन्न विहितो'—ऐसा प्रयोग किया जाता तो कवि के विवक्षित अर्थ (उपालम्भ) की पुष्टि हो जाने से अर्थ के अनुरूप शब्दन्यास हो सकता था। क्योंकि उनका अर्थ यह होता कि 'जिनकी तू अवहेलना कर रहा है उनमें के एक रत्न ही ने तेरा दिगन्त-व्यापी यश प्रसिद्ध कर दिया।'

इस विवेचन द्वारा स्पष्ट है कि शब्द और अर्थ का तुल्य-कक्ष सहभाव काव्य में ही होता है और इसलिये साहित्य शब्द का वास्तविक प्रयोग काव्य के लिये ही उपयुक्त और समुचित है। अस्तु। वर्त्तमान काल में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग काव्यग्रन्थो के लिये ही रूढ़ हो रहा है।

काव्य या साहित्य क्या है। इस विषय पर संस्कृत के सुप्रसिद्ध आचार्यों ने अनेक रीति-ग्रन्थ लिखे हैं। उनमें काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी अत्यन्त गवेषणा-पूर्ण गम्भीर विवेचन किया गया है। क्योंकि काव्य के रहस्य से अभिज्ञ होने के लिये एवं उसके आनन्दानुभव के लिये काव्य-सम्बन्धी 'रीति' ग्रन्थ ही एक मात्र साधन हैं। केवल व्याकरण आदि शास्त्रो के जो विद्वान् हैं वे 'कर्णावतंस' और जघनकाञ्ची' आदि प्रयोगो के साहित्यिक रहस्यों को नही समझ सकते—साहित्य के अध्ययनशील विद्वान् ही यह जान सकते हैं कि इन शब्दो के प्रयोग में कौनसा निर्दोष है और कौनसा सदोष*। रघुवंश आदि महाकाव्यो मे किस-किस शब्द, पद अथवा वाक्य का प्रयोग स्थल विशेष पर क्यो किया गया है, और उन प्रयोगो में क्या विशेषता है—उन प्रयोगो के व्यङ्ग्यात्मक या अलङ्कारात्मक रचनाओ में क्या चमत्कार है उसका दिक्दर्शन ऊपर कराया ही गया है। इस रहस्य को साहित्य-मर्मज्ञ विद्वान् ही समझ सकते हैं। व्याकरण आदि शास्त्रो के ज्ञान से शब्दार्थ मात्र का ही बोध हो सकता है, न कि महाकवियो के रचना-रहस्य का। आलङ्कारिको के शिरोभूषण महान् साहित्याचार्य ध्वनिकार ने कहा है—

---

* 'कर्णावतस' का प्रयोग निर्दोष और 'जघनकाची' के प्रयोग में दोष है।

'शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स हि काव्यार्थतत्वज्ञैरेव केवलम्॥'

—ध्वन्यालोक १।७

अतएव संस्कृत-साहित्य के इतिहास में हमारे विचार में सर्व प्रथम काव्य-रीति ग्रन्थों का ऐतिहासिक विवेचन किया जाना ही उपयुक्त है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम भाग में काव्य-शास्त्र के सुप्रसिद्ध रीति ग्रन्थों के † एवं उनके प्रणेताओं से परिचय तथा काल-निर्णय के सन्बन्ध में ऐतिहासिक निरूपण किया गया है।

द्वितीय भाग में काव्य-ग्रन्थों के विषय, काव्य का प्रयोजन (फल), काव्य का हेतु एवं काव्य के लक्षण आदि पर विभिन्न आचार्यों के मतों का मनोवैज्ञानिक आलोचनात्मक विवरण और काव्य के सिद्धान्त, रस, अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि का स्पष्टीकरण तथा इन पांचो सिद्धान्तों की प्रचलित पॅचों सम्प्रदायों (schools) के प्रवर्त्तक प्रधान प्रतिनिधि साहित्याचार्यों के विभिन्न मतों के स्पष्टीकरण में यह विवेचन किया गया है कि किस-किस आचार्य ने रस आदि काव्य के मुख्य तत्वों में किस-किस तत्व को प्रधानता दी है। और उनके परस्पर विभिन्न मतों की आलोचना में उनका रहस्य उद्घाटन करने की भी यथासाध्य चेष्टा की गई है।

ऐसे महान् साहित्याचार्यों के मतों पर आलोचनात्मक विवेचन करने का यह अल्पज्ञ स्वयं अपने को अनधिकारी समझता है। फिर भी आशा है सहृदय विद्वान्—'**ननु वक्तृविशेषनिस्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चितः**' इस महाकवि भारवि की उक्ति के अनुसार इस ग्रन्थ की उपेक्षा न करेंगे।

अलङ्कार-सम्प्रदाय के अन्तर्गत सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों के विशेष समूहों के

† जिनके अध्ययन से काव्य का स्वरूप एवं रहस्य तथा काव्य के रस, ध्वनि, अलंकार आदि भेदों का ज्ञान एवं दोष, गुण के विवेचन की शक्ति उत्पन्न हो उन ग्रन्थों को रीति ग्रन्थ कहते है।

समय तक कालक्रमानुसार किस-किस नाम के कितने अलङ्कार आविष्कृत हुए हैं उनकी विवरण तालिकाएँ भी दी गई हैं। इसके अतिरिक्त साहित्य का क्रम विकास किस-किस समय किस-किस साहित्याचार्य द्वारा किस प्रकार हुआ है, उस विषय पर भी प्रसङ्गानुसार दोनो ही भागों में प्रकाश डाला गया है।

आगे के भागो मे महाकवियो और उनके काव्य-नाटक आदि ग्रन्थो के विषय में विवेचन किया जायगा।

खेद है कि भारतवर्ष के प्रत्येक शास्त्रकारो का इतिहास घोर तमसाच्छन्न है। इसका कारण यह है कि भारतीय प्राचीन शास्त्रकारों का लक्ष्य केवल सिद्धान्तो को सुरक्षित रखना और जन-समुदाय का उपकार करना मात्र ही रहा है—वे महानुभाव ग्रन्थ-रचना द्वारा अपनी प्रसिद्धि प्राप्त करने के इच्छुक नहीं थे; यही कारण है कि उन्होने अपने विषय में स्वयं कुछ भी उल्लेख नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि भारतीय इतिहास का कार्य एक बड़ी विकट समस्या हो रही है। ऐसी परिस्थिति में इस विषय पर इस अल्पज्ञ का लेखनी उठाना यथार्थ में महाकवि कालिदास के शब्दो मे—'प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः' दुःसाहस मात्र है। किन्तु प्रस्तुत विषय पर हिन्दी भाषा में स्वतन्त्र और आलोचनात्मक कोई ग्रन्थ न होने के कारण यह दुःसाहस करना पड़ा। इसके सिवा इस कार्य मे प्रवृत्त होने का एक कारण यह भी है कि पाश्चात्य लेखको ने संस्कृत-साहित्य के विषय में बड़ी निरंकुश लेखनी चलाई है। वाल्मीकीय रामायण और महाभारत आदि आर्ष ग्रन्थो के समय के सम्बन्ध में जो कुछ उन्होंने लिखा है वह सर्वथा भ्रममूलक है। इन आर्ष ग्रन्थो का समय कुछ लेखको ने ईसा की दो-चार शताब्दी के पूर्व और कुछ लेखको ने तो ईसा के बाद तक भी निर्धारित कर दिया है। इसका कारण केवल उनका अपूर्ण अन्वेषण या उनकी भ्रमात्मक कल्पना मात्र ही नहीं, किन्तु उनको हमारी भारतीय संस्कृति को प्राचीनतम बतलाना भी अभीष्ट नहीं है। खेद का विषय तो यह है कि पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित होकर भारतीय

लेखकों ने भी उन्हीं पाश्चात्य लेखकों का अनुसरण किया है। किन्तु हमने महाकवि कालिदास के—'सन्तः परीक्षान्यतरद् भजन्ते मूढ़ः परप्रत्ययनेयबुद्धिः' इस सिद्धान्त के अनुसार पूर्व लेखकों का अन्धानुसरण न करके प्रस्तुत ग्रन्थ में स्वतन्त्र विवेचन किया है। और इस विषय पर भी प्रकाश डाला जाना आवश्यक समझा है कि उन विद्वान् लेखकों ने कैसे निमू‌ल आधारों पर अपने कल्पना-जाल की विशाल अट्टालिका निर्माण की है।

ऐतिहासिक ग्रन्थों में प्रायः एक ग्रन्थ की दूसरे ग्रन्थ के साथ कुछ न कुछ सादृश्य का होना अनिवार्य है। अतएव ऐसे ग्रन्थों में विवेचना-शैली और आलोचनात्मक स्वतन्त्र विचारो को शृङ्खला आदि ही मौलिकता की कसौटी है। वह प्रस्तुत ग्रन्थ में है या नहीं और लेखक को इस कार्य मे कहॉ तक सफलता प्राप्त हो सकी है, इसका निर्णय साहित्य-मर्मज्ञ विद्वान् ही कर सकते हैं।

अवश्य ही इस ग्रन्थ में विद्वान् इतिहासज्ञ एवं काव्य-मर्मज्ञों को बहुत कुछ त्रुटियॉ दृष्टिगत होना सम्भव है। इसके लिये सहृदय महानुभावो की सेवा में यही निवेदन है—

'यदि भवति मदीयग्रन्थमध्ये प्रमादः
कचिदपि स महिम्ना शोधनीयो महद्भिः।
स्खलति गगनचारी प्रायशो नात्र चित्रं
भवति च गुरुहस्तालम्बनोऽपि प्रकारः।'

मथुरा,
अक्षय तृतीया
१६६५

विनयावनत
कन्हैयालाल पोद्दार

विषयानुक्रमणिका

भाग १

——— —

विषयानुक्रमणिका

भाग २

संस्कृत साहित्य का इतिहास

और

उसका विकास क्रम

(प्रथम भाग)

संस्कृत साहित्य का इतिहास

और

उसका विकास क्रम

(प्रथम भाग)

॥ श्रीहरिःशरणम् ॥

संस्कृत साहित्य का इतिहास

[प्रथम भाग]

'दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणगणा येषाम् ।
रमयन्ति जगन्ति गिरः कथमिह वन्द्या न ते कवयः ॥'[1]

—रुद्रट

काव्य की सर्व प्रथम उत्पत्ति कब और किसके द्वारा हुई और इसका क्रम-विकास किन-किन सुप्रसिद्ध आचार्यों द्वारा किस-किस समय में उनके निरूपित सिद्धान्तों द्वारा किस प्रकार हुआ, इसपर विवेचन करने के लिये प्रथम काल-सीमा का विभाग निर्दिष्ट किया जाना उपयुक्त होगा। हमारे विचार में वह काल-विभाग इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) वैदिक-काल ।

(२) वैदिक-काल के बाद और पौराणिक काल के प्रथम मध्यवर्त्ती काल ।

(३) पौराणिक अर्थात् महाभारत काल ।

(४) पौराणिक काल के पश्चात् ईसवी सन् के प्रारम्भ से लगभग १२०० ई० तक ।

(५) ईसवी सन् १२०० के पश्चात् लगभग ई० सन् १८०० तक ।

वैदिक-काल

वैदिक-काल को हम अन्य लेखकों के समान कोई निर्दिष्ट काल नहीं कह

---

१ स्वर्गगामी हो जाने पर भी जिनकी अनल्प गुणगणशालिनी काव्यरूप वाणी प्रलय काल तक जगत को रञ्जन करती रहती है, वे महानुभाव कविगण क्यों नहीं वन्दनीय हैं ?

सकते। यह विषय स्वतन्त्र विवेचनीय है, क्योंकि यह विषय अत्यन्त जटिल और विवादास्पद होने के कारण संक्षेप में नहीं कहा जा सकता। यहाँ यही कहना पर्याप्त है कि उस काल को हम अनादि और अज्ञात मानते हैं। यहाँ वैदिक-काल का उल्लेख केवल इसलिये किया गया है कि वेद ही काव्य का उद्गम स्थान है, यों तो वेद सभी विद्याओं के मूल-श्रोत हैं। व्याकरण, छन्द और ज्योतिष आदि वेद के अङ्ग ही माने गये हैं। श्री यास्क का 'निरुक्त' जो भाषा-विज्ञान का सर्व-प्रथम ग्रन्थ है, वह वेद के अङ्गों में ही माना जाता है। धनुर्वेद और आयुर्वेद तो वेद संज्ञा से ही प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार नाट्य और काव्य की भी पंचम वेद संज्ञा है। श्री भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र के प्रारम्भ में स्पष्ट उल्लेख है—

'सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्पप्रवर्त्तकम्।
नाट्याख्यं पञ्चमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम्'॥
संकल्प्य भगवानेवं सर्वान्वेदाननुस्मरन्।
नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्ग सम्भवम्॥
जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि'॥

—नाट्यशास्त्र १। १५, १६, १७

अर्थात् श्री ब्रह्माजी ने ऋक्, साम, यजु और अथर्व वेद से क्रमशः पाठ्य, गीत, अभिनय और रसों का ग्रहण करके नाट्य-वेद का निर्माण किया है। और महाभारत को जिसे श्री ब्रह्माजी और भगवान् वेदव्यास द्वारा महाकाव्य की संज्ञा दी गई है (जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायगा) पाँचवाँ वेद कहा गया है। केवल यही नहीं, वेदों का परोक्षवादात्मक होना प्रसिद्ध है। परोक्षवादात्मक सूक्तों में जिस प्रकार की अभिव्यञ्जना दृष्टिगोचर होती है, उसे हम व्यंग्यात्मक शैली निर्विवाद कह सकते हैं। एक उदाहरण देखिये—

'अजामेकां लोहितकृष्णशुक्लां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनु शेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत् ४।५

इस वेद मन्त्र में जो रूपकातिशयोक्ति है, उसमें प्रकृति पुरुष के सम्बन्ध की अभिव्यजना है, वही मुख्य है, अतः यहाँ रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार द्वारा वस्तु-व्यंग्य है। अतएव स्पष्ट है कि इस परोक्षवादात्मक शैली पर ही काव्य का मुख्य तत्त्व ध्वनि-सिद्धान्त निर्भर है। इसके सिवा अलङ्कार-शैली की रचना भी वेदों में पर्याप्त है, कुछ उदाहरण देखिये—

'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततं'।

—ऋक्वेद १।२२।२०

'आनो वर्हीरिशादसो वरुणो मित्रो अर्यमा। सीदन्तु मनुषो यथा'।

—ऋक् १।२६।६

'वाश्रेव विद्युन्मिमाति वत्सं न माता सिषक्ति। यदेषां वृष्टिरसर्जि'।

—ऋक् १।३८।८

'सिंहाइव मानदन्ति प्रचेतसः पिशाइव सुपिंशः विश्ववेदसः'।

—ऋक् १।६४।८

'अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम्।
यह्वाइव प्रवयामुज्जिहानाः प्रभानवः सस्रतेनाकमच्छ'।

—सामवेद प्रथमाध्याय अष्टमी दशति।

'त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टि वर्धनम्।
उर्वारुकमिव वन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्'।

—यजुर्वेद ३।६०

'अयमुते समतसि कपोत इव गर्भधिम्।
वचस्तच्चिन्न ओहसे'।

—अथर्व वेद काण्ड २०

इन वेद मन्त्रों में उपमा अलङ्कार है। उपमा के अतिरिक्त अन्य अलङ्कार भी वेदों में इङ्गित होते हैं—

'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु'।

—कठोपनिषत् अ० प्रथम, तृतीय वल्ली

इसमें 'रूपक' अलङ्कार है। और देखिये—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' ॥

—मुण्डकोपनिषद्, तृतीय मुण्डक, खण्ड १।१

इसमें रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार है।

'तत्त्वायामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः।
अहेळमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न आयुः प्रमोषीः' ॥

—ऋग्वेद १।२४।११

इसमें उदात्त अलङ्कार है।

'त्वं विश्वस्य मेधिर दिवश्च ग्मश्च राजसि। स यामनि प्रतिश्रुधिः'।

—ऋग्वेद १।२५।२०

इसमें पर्याय अलङ्कार है।

'शन्नो देवी रभीष्टये शन्नो भवन्तु पीतये। शंयोरभिस्रवन्तु नः'।

—साम, अध्याय १।३३

इसमें लाटानुप्रास अलङ्कार है।

'यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव'।

—शुक्ल यजुर्वेद अध्याय १।४८

इसमें पुनरुक्तवदाभास शब्दालङ्कार और उपमा अर्थालङ्कार भी है अतः शब्दार्थ उभयालंकार संसृष्टि है।

अधिक उदाहरण अनावश्यक हैं, इन्हीं उदाहरणों द्वारा स्पष्ट है कि वेदों में सत्काव्य रचना पर्याप्त संख्या में है, अतः वेद को ही हम काव्य और नाट्य का मूल-स्रोत निस्सन्देह कह सकते हैं।

वैदिक और पौराणिक काल का मध्यवर्ती काल

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण

'विहितघनालङ्कारं विचित्रवर्णावलीमयस्फुरणम्।
शक्रायुधमिव वक्रं वल्मीकभुवं मुनिं नौमि' ॥

वैदिक और पौराणिक काल के मध्यवर्ती समय में अर्थात् पौराणिक काल के प्रारम्भ के प्रथम काव्यात्मक अभूतपूर्व. वर्णन का ग्रन्थ केवल वाल्मीकीय रामायण उपलब्ध है।

वाल्मीकीय रामायण में केवल काव्यात्मक वर्णन ही नहीं किन्तु उसका नाम भी आदि काव्य है। उसके प्रति सर्ग के अन्त में—'इति श्री आदि काव्ये' का प्रयोग है। उसकी रचना भी सर्ग बन्ध है, जैसा कि महाकाव्यो में होने का नियम उसी के आदर्श से प्रचलित ग्रन्थों में पाया जाता है। वाल्मीकीय रामायण रस की दृष्टि से देखा जाय तो करुण रस प्रधान है। यों तो उसमें प्रसङ्गानुसार वीर, रौद्र, भयानक और अद्भुत आदि अन्य रसों का भी समावेश है। पर उनमें प्रधान 'करुण' रस ही है। श्री वाल्मीकीय रामायण के करुणाप्लुत वर्णनो का पाठ, ऐसा कौन सहृदय होगा जो अपनी स्वाभाविक शृङ्खलाबद्ध वाणी से कर सकता हो। महर्षि वाल्मीकिजी के मुख से क्रौञ्चपत्नी-युग्म के कारुणिक दृश्य को देख कर जो—

'मा निषाद प्रतिष्ठांत्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्' ॥

यह शोकोद्गार सहसा निकल पड़ा था, और उस समय जो महर्षिवर्य के हृदय-पटल पर अङ्कित हो गया था, वही 'शोक' करुण रस का स्थायी रूप रामायण में सर्वत्र व्याप्त है। और वही सारी रामायण की रचना का आधार है, अतः करुण रस ही रामायण में प्रायः सर्वत्र ध्वनित हो रहा है। उक्त श्लोक में अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि है—जो काव्य के सर्वोत्तम भेद ध्वनि में मुख्य है। श्री रामायण की यह रस की स्थिति ही सत्काव्यत्व सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। पर इसके अतिरिक्त उसमें ध्वनि के अन्य भेद-गर्भित भी रचनाएँ हैं—

'रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः।
निश्वासान्धइवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते' ॥

—अरण्य १६।१३

इसे साहित्य के सर्व प्रधान आचार्य श्री आनन्दवर्द्धन आदि ने अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य-ध्वनि के उदाहरण में उद्‌धृत किया है। यही नहीं, अनुप्रास और उपमादि शब्दार्थ अलङ्कारों का तो रामायण में इतना प्राचुर्य है, कि उनके उदाहरण उद्‌धृत करना तो केवल विस्तार मात्र है। रामायण की वर्णन-शैली को उच्च-श्रेणी की बतलाना एक उसकी विडम्बना है। उसमें जो उपमा, उत्प्रेक्षादि की कल्पनाएँ हैं वे बड़ी ही सारगर्भित और अभूतपूर्व होने पर भी बड़ी सरलता से कही गई हैं। इस बात को पाश्चात्य विद्वान भी मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं—

"*Valmiki is rich in the cumulating of Similes*"

ऐसा कोई संस्कृत का सुप्रसिद्ध महाकवि न होगा जिसने उनके वर्णन का अनुकरण न किया हो, पर इस कार्य में सफलता सबको प्राप्त न हो सकी। एक उदाहरण देखिये, रामायण में श्रीमती जनकनन्दिनी के अन्वेषण में विलम्ब करते हुए देख कर वानरराज सुग्रीव के प्रति लक्ष्मणजी ने कहा है—

'न स सङ्कुचितः पन्था येन बाली हतो गतः।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा वालिपथमन्वगाः' ॥

—किष्कन्धा ३४।१८

इसका अनुकरण जानकीहरण के प्रणेता कुमारदास कवि ने इस प्रकार किया है—

'मदं नवैश्वर्यलवेन लम्भितं विसृज्य पूर्वः समयो विमृश्यताम्।
जगज्जिघत्सातुरकण्ठपद्धतिर्नवालिनैवाहततृप्तिमन्तकः' ॥

—जानकीहरण १२।३६

कहने की आवश्यकता नहीं कि जो चमत्कार महर्षिवर्य के अनुष्टुप् पद्य की साधारण उक्ति में है, वह क्लिष्ट-कल्पना और लम्बी रचना द्वारा भी जानकीहरण का प्रणेता अपने पद्य में न ला सका। इस कार्य में कविकुलशेखर कालिदास ही सफल हो सके हैं, उनके काव्य प्रायः वाल्मीकीय रामायण पर ही अवलम्बित हैं। विशेषतया मेघदूत की कल्पना तो एक मात्र रामायण में वर्णित श्री हनुमानजी

का दूतरूप में श्री जनकनन्दिनी के समीप जाने के प्रसङ्ग पर ही निर्भर है[1]। कहने का तात्पर्य यह है कि रामायण केवल कहने मात्र को ही आदि-काव्य नहीं, किन्तु परवर्ती महाकवियों को पथ-प्रदर्शक होने के कारण यथार्थ में आदि-काव्य है। अतएव धनञ्जय ने दशरूपक मे नाटक के लेखको को नाटक की रचना के प्रथम श्री रामायण के अध्ययन करने के लिये परामर्श दिया है—

'इत्याद्यशेषमिह वस्तुविभेदजातं
रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथां च।
आसूत्रयेत्तदनु नेतृरसानुगुण्या—
चित्रां कथामुचित चारुवचः प्रपञ्चैः'।

—दशरूपक १।६८

वाल्मीकीय रामायण का समय

रामायण के रचना-काल के विषय में पाश्चात्य विद्वानो ने बड़ी विलक्षण विलक्षण कल्पनाएँ की है। उनके मत विभिन्न होते हुए भी इस विषय में वे सभी प्रायः एकमत हैं कि वाल्मीकीय रामायण का रचना-काल ईसवी सन् के पूर्व लगभग छठी शताब्दी से अधिक पहले का नही है। किन्तु पाश्चात्य विद्वान् लेखकों ने रामायण के बाह्य और अन्तः प्रमाणो के आधारो पर जो आनुमानिक कल्पनाओं का भवन निर्माण किया है वह दृढ़-मूल नहीं—पूर्वापर विवेचनाओं की कसौटी पर कसने पर वे कल्पनाएँ सर्वथा निराधार प्रमाणित हो जाती हैं। पाश्चात्य विद्वानों के अतिरिक्त कुछ एतद्देशीय विद्वानों ने भी इस विषय पर उल्लेख किये हैं, पर खेद है कि वे एतद्देशीय विद्वान् भी पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित होने के कारण उनके विचारों में भी पाश्चात्य दृष्टिकोण की ही प्रधानता है। अस्तु।

---

[1] इस विषय में लेखक ने अपने हिन्दी मेघदूत विमर्श में विस्तृत उल्लेख किया है।

रामायण के रचना-काल के विषय में कुछ विद्वानों के स्थूल मत इस प्रकार है—

(१) प्रोफेसर वेबर (Weber) महाभारत और ग्रीस देश के कवि होमर के पश्चात् रामायण का रचना-काल मानते हैं।[1]

(२) डाक्टर भण्डारकर व्याकरणाचार्य श्री पाणिनि के बाद रामायण का रचना-काल मानते हैं।[2]

(३) मि० कीथ रामायण का रचना-काल ई० सन् के पूर्व चतुर्थ शताब्दी बतलाते हैं।[3]

(४) मि० जेकोवी ई० सन् के पूर्व छठी शताब्दी में रामायण का रचना-काल स्वीकार करते हैं।[4]

(५) रायबहादुर श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य रामायण के दो रूप मानते हैं। एक तो महर्षि वाल्मीकि-कृत मूल या प्राचीन रामायण, उसका समय श्री वैद्य, 'भारत' के बाद और 'महाभारत' के पूर्व और प्रचलित वर्त्तमान वाल्मीकीय रामायण को वे 'भारत' और 'महाभारत' दोनो के बाद ई० सन् के लगभग दो शताब्दी पूर्व का मानते हैं। श्री वैद्य, महाभारत के भी दो रूप मानते हैं एक भगवान् वेदव्यासकृत 'भारत' और दूसरा नैमिषारण्य में शौनकादि ऋषियों को श्रवण करानेवाले सौति द्वारा परिवर्द्धितरूप अर्थात् वर्तमान "महाभारत"।

अच्छा अब यह द्रष्टव्य है कि उपर्युक्त विद्वान लेखकों ने अपनी-अपनी कल्पनाएँ किन-किन आधारों पर की हैं और उन आधारों में कहाँ तक सत्यान्वेषण है।

(१) प्रोफेसर वेबर का कहना है कि ग्रीक देश के कवि होमर के इलियड के

---

१ देखिये Weber: History of Indian Literature

२ देखिये Rama and Homer

३ देखिये जर्नल अव द रोयल एसियाटिक सोसाइटी सन् १९१५ पृ० ३२०.

४ देखिये श्री पी० वी० काणे की साहित्यदर्पण की अंग्रेजी भूमिका

कथानक के आधार पर रामायण की रचना की गई है और रामायण में वर्णित पात्र—श्री राम, सीता आदि काल्पनिक हैं अतएव रामायण का रचना-काल महाभारत के बाद का है। प्रो० वेबर के इस मत का खण्डन श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने भली प्रकार कर दिया है।[1] एवं श्री काशीनाथ त्र्यम्बक तैलिङ्ग ने अपने 'Rama and Homer' नाम के ग्रन्थ में 'Was the Ramayan copied from Homer ?' शीर्षक लेख में यह सिद्ध कर दिया है कि प्रस्तुत रामायण के आधार पर होमर ने ही इलियड की रचना की है। अतएव इसके विषय में अधिक उल्लेख अनावश्यक है।

(२) डाक्टर भण्डारकर के मत का भी श्री वैद्य ने दृढ़ युक्तियों द्वारा खण्डन कर दिया है।[2] इसके सिवा डा० भण्डारकर के विरुद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि श्री पाणिनि ने 'कौसल्या' और 'कैकेई' इन दोनों के विषय में अष्टाध्यायी के दो सूत्रों मे स्पष्टता की है। इसके अतिरिक्त 'राम' का पृथु और वेन आदि प्रसिद्ध राजाओ के साथ ऋग्वेद में उल्लेख मिलता है 'प्रतद्दुःशीमे पृथवाने वेने प्ररामे बोचमसुरे माधवासु।' (ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ९३।) अतएव डा० भण्डारकर का मत भी निराधार है।

(३) मि० कीथ रामायण-काल ई० पूर्व चौथी शताब्दी और मि० जेकोबी ई० के पूर्व छठी शताब्दी बतलाते है अतः मि० कीथ के मत की आलोचना मि० जेकोबी के मत के अन्तर्गत नीचे की जाती है।

(४) मि० जेकोबी का कहना है कि महर्षि वाल्मीकि कृत रामायण के ५ काड अयोध्या से युद्धकाण्ड तक ही हैं, शेष दोनो काण्ड—बाल और उत्तर-

---

१ देखो श्री वैद्य का "संस्कृत वाङ्मयाचा त्रोटक इतिहास" पृ० १०३-१०४ और देखो मेकडोनल के संस्कृत-साहित्य के इतिहास का श्री मोहनलाल पार्वतीशंकर, एम्. ए., एल्-एल्. बी. कृत गुजराती अनुवाद की पाद-टिप्पणी पृ० ३८९

२ देखो श्री वैद्य का "संस्कृत वाङ्मयाचा त्रोटक इतिहास" पृ० १०६

काण्ड प्रक्षिप्त हैं। इस कल्पना की पुष्टि में आपका कहना है कि बाल-काण्ड के प्रथम सर्ग और तीसरे सर्ग में रामायण के वर्णनों का जो संक्षिप्त विवरण है वह परस्पर विरुद्ध है। और युद्धकाण्ड के अन्त में ग्रन्थ समाप्ति के लक्षण वर्त्तमान हैं। अब देखिये, यह कल्पनाएँ कैसे निर्मूल आधारों पर की गई हैं। बालकाण्ड के प्रथम सर्ग में नारदजी द्वारा महर्षि वाल्मीकि को श्री राम-चरित्र का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया गया है। उसके बाद दूसरे सर्ग में ब्रह्माजी ने वाल्मीकिजी के समीप आकर श्री नारद द्वारा श्रवण किये हुये श्री रामचरित्र को वर्णन करने के लिये महर्षि वाल्मीकि को आदेश दिया है और ब्रह्माजी ने महर्षि को यह वरदान भी दिया है कि "श्री राम और जनकनन्दिनी आदि का जो चरित्र प्रकाश में है अथवा ऐसा गुप्त है, जो किसी ने देखा या सुना नहीं है, सभी आपको विदित हो जायगा," इत्यादि। इसके बाद तीसरे सर्ग में समाधिस्थ महर्षि वाल्मीकि को समस्त श्री रामचरित्र का यथावत् ज्ञान हो जाने पर श्री वाल्मीकि द्वारा वर्णित रामचरित्र का संक्षिप्त दिग्दर्शन है। हम नहीं समझते कि ऐसी परिस्थिति में प्रथम सर्ग के वर्णन के साथ तृतीय सर्ग के वर्णन में क्या विरुद्धता है। जब कि उन दोनों वर्णनों का परस्पर कोई सम्बन्ध ही नही है। और युद्धकाण्ड के अन्त में ग्रन्थ समाप्ति के जो लक्षण मिलते हैं उनके द्वारा भी मि० जेकोबी की कल्पना की कुछ भी पुष्टि नही हो सकती है। बात यह है कि महर्षि वाल्मीकिजी ने लवकुश को श्री रामचन्द्रजी के राज्यारोहण तक ही रामायण का अध्ययन कराया था और वहीं तक लवकुश ने राज-सभा में रामायण का गान किया था। ऐसी स्थिति में युद्धकाण्ड के अन्त में फल-स्तुति का होना आवश्यक ही था। उत्तरकाण्ड में तो राज्यारोहण के बाद का इतिहास और प्रसङ्गानुसार रामचरित्र विषयक और भी अनेक इतिहास हैं और ऐसे हैं कि उनका महर्षि वाल्मीकि के अतिरिक्त अन्य किसी के द्वारा लिखा जाना असम्भव है।

(५) राय बहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य ने यद्यपि पाश्चात्य लेखको का प्रायः अन्धानुसरण नही किया है, फिर भी वाल्मीकीय रामायण के विषय में श्री वैद्य भी अधिकांश में प्रोफेसर वेबर आदि पाश्चात्यों के लेखो से प्रभावित हुए बिना नही रह सके। ऊपर कह चुके हैं कि श्री वैद्य महाभारत के दो रूप मानते हैं एक भारत दूसरा महाभारत। उनका कहना है कि भगवान् वेदव्यास कृत भारत का रचना-काल ई० सन् के ३१०० वर्ष पूर्व का है और सौति द्वारा परिवर्द्धित महाभारत का रचनाकाल ई० सन् के पूर्व लगभग दो शताब्दी का। इसी प्रकार वाल्मीकीय रामायण के भी श्री वैद्य दो रूप मानते हुए प्राचीन रामायण का समय लगभग ई० सन् के पूर्व पाँचवी शताब्दी मानते हैं[1]। और एक स्थल पर आप ई० सन् के पूर्व २१०० वर्ष भी मानते हैं[2]। अर्थात् जिस भारत ग्रन्थ को वे श्री वेदव्यास कृत प्राचीन बताते हैं, उसके बाद और सौति द्वारा परिवर्द्धित महाभारत ग्रन्थ के पूर्व। अच्छा, प्रथम हम इसी वा० रामायण पर विचार करते हैं, जिसे वे प्राचीन मानते हैं। इस विषय में एक ऐसा अकाट्य आन्तर्य प्रमाण उपलब्ध है, जिसके विरुद्ध कुछ कहने का संभवतः कोई भी विद्वान् दुःसाहस नही कर सकता है। श्री वाल्मीकीय रामायण के युद्ध काण्ड के ८१वें सर्ग की २८वी संख्या का[3] यह श्लोक है—

"न हन्तव्याः स्त्रिय इति यद्ब्रवीषि प्लवङ्गम।
पीडाकरममित्राणां यच्च कर्त्तव्यमेव तत्॥"

यह श्लोक महाभारत ग्रन्थ के द्रोण पर्व में अध्याय १४३ की ६७।६८ संख्या मे इस प्रकार मिलता है—

---

१ देखिये, श्री वैद्य का संस्कृत वाङ्मयाचा त्रोटक इतिहास पृ० १०६

२ देखिये, श्री वैद्य का संस्कृत वाङ्मयाचा त्रोटक इतिहास पृ० १०४

३ देखो गोविन्दराजीय 'भूषण' 'रामायण तिलक' और 'रामायण शिरोमणि' तीन व्याख्यायुक्त गुजराती प्रिंटिंग प्रेस (बंबई) में मुद्रित संस्करण।

"अपिचायं पुरागीतः श्लोको वाल्मीकिना भुवि,
न हन्तव्याः स्त्रिय इति यद्ब्रवीषि प्लवङ्गम।
सर्वकालं मनुष्येण व्यवसायवता सदा,
पीडाकरममित्राणां यत्स्यात् कर्तव्यमेवतत्॥"

इसमें रेखाङ्कित शब्द श्री वाल्मीकीय रामायण के प्रायः अविकल हैं। इसके द्वारा स्पष्ट है कि भारत या महाभारत का समय वाल्मीकीय रामायण के पूर्व किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता। रामायण के इस उद्धरण को सौति द्वारा मिलाया जाना भी कदापि नहीं कहा जा सकता। मि० मेकडोनल ने भी स्पष्ट कहा है कि इस श्लोक को सौति द्वारा रामायण से लेकर भारत ग्रन्थ में बढ़ाया नहीं गया है[1]। इसके सिवा श्री वैद्य भी प्रकारान्तर से यह बात स्वीकार करते हैं। श्रीवैद्य ने कहा है—

"वाल्मीकि हा वैदिक ऋषि असल्यामूलें मूल रामायण हां ग्रन्थ वेदकालीन आहे व तो 'जय' (महाभारताचें मूलचें रूप) ग्रन्थां पूर्वी चा आहे।"[2]

अर्थात् श्री वैद्य कहते हैं कि वाल्मीकि वैदिक ऋषि हैं और उनकी रामायण वेदकालीन है, वह वेदव्यासजी कृत जय (भारत) ग्रन्थ से पूर्व की है। 'किमाश्चर्यमतः परम्'—एक ही ग्रन्थ में एक स्थान पर श्री वैद्य श्री वेदव्यास कृत जिस 'जय' (भारत) का समय ई० सन् के पूर्व ३१०० वर्ष स्वीकार करते हैं, उस 'जय' ग्रन्थ के पूर्व रामायण को बताते हैं और फिर आप उसी 'भारत' ग्रन्थ के बाद रामायण को—उस रामायण को जिसको वे महर्षि वाल्मीकि कृत आदि रामायण मानते हैं—बता रहे हैं।

अतएव स्पष्ट है कि श्री वैद्य के इस मत में पूर्वापर विरोध होने के कारण

---

१ देखो मि० मेकडोनल कृत संस्कृत साहित्य का श्री मोहनलाल पार्वती-शङ्कर दुबे, एम. ए., एल-एल. बी. कृत गुजराती अनुवाद पृ० २८७

२ देखिये श्री वैद्य का संस्कृत वाङ्मयाचा त्रोटक इतिहास पृ० ९५

सर्वथा अग्राह्य है। अब यह देखना आवश्यक है कि श्री वैद्य जिस वर्तमान वाल्मीकीय रामायण का समय वाल्मीकि कृत रामायण से परिवर्द्धित मानते हैं, ई० सन् के २०० वर्ष पूर्व—भारत और महाभारत के बाद—वह किन किन आधारों पर बताते है। श्री वैद्य का कहना है—

(१) "महाभारत में केवल बौद्ध मत का उल्लेख है पर वर्तमान रामायण में बौद्ध मत के विरुद्ध वाक्य मिलते हैं। यही नहीं विशेष रूप से बुद्ध के नाम का भी उल्लेख है। अतः अशोक के बाद इस धर्म के अस्त होने के समय आर्य-धर्मावलम्बी पुष्यमित्र और अग्निमित्र के काल में वर्तमान रामायण की रचना सिद्ध होती है।"

श्री वैद्य की इस कल्पना का कुछ भी महत्त्व नहीं है क्योंकि महाभारत में प्रयुक्त 'बौद्ध' शब्द का अर्थ बुद्ध द्वारा प्रचलित सम्प्रदाय के अतिरिक्त क्या हो सकता है? फिर बुद्ध और बौद्ध शब्दो के प्रयोग में क्या भेद है जिसके आधार पर ऐसी कल्पना की जाय? मि० मेकडोनल का कहना है कि "बुद्ध या बौद्धो के विषय में रामायण में एक ही स्थान पर उल्लेख है और वह प्रक्षिप्त है"[१] संभव है ऐसा ही हो अतएव ऐसे निर्बल आधार पर वर्तमान वाल्मीकीय रामायण का समय परिवर्तन किस प्रकार किया जा सकता है?

(२) दूसरी कल्पना यह है—"महाभारत में राशि गणित का उल्लेख नहीं है। किन्तु रामायण में श्रीराम-जन्म के समय कर्क लग्न पर पाँच ग्रहो की स्थिति वर्णित है। राशि गणित का ज्ञान भारतवर्ष में यवनों द्वारा प्राप्त हुआ है और यवनों का भारतवर्ष मे आगमन ई० सन् के २०० वर्ष पूर्व हुआ है।"

यह कल्पना भी निर्मूल है। डा० राबर्टसन आदि पाश्चात्य विद्वानो का मत है कि राशि-ज्ञान सबसे प्रथम भारतवर्ष को ही हुआ है। और उसे भारतवर्ष से ही अन्यदेशीय विद्वानो ने सीखा है। प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् मि० वेली का मत है कि

---

१ देखिये मि० मेकडोनल का संस्कृत साहित्य का इतिहास रामायण प्रकरण।

ज्योतिष का भारतवर्ष में उत्तम रूप से प्रचार ई० सन् के ३००० वर्ष पूर्व हो गया था।[1] इसके सिवा श्री शङ्कर बालकृष्ण भी राशि-गणित का प्रचार भारतवर्ष में स्वतंत्रता से मानते हैं। इसके सिवा यवनो के साथ भारतवर्ष का सम्बन्ध कब हुआ इसको तो श्री वैद्य स्वयं अनिश्चित स्वीकार करते है,[2] तब इस विषय में अधिक कहना व्यर्थ है।

(३) तीसरी कल्पना यह है कि "रामायण के अयोध्या काण्ड में १०० वें सर्ग में जो राज-धर्म का विषय है, वह महाभारत सभापर्व के पञ्चम अध्याय से लिया गया है। क्योकि भगवान् रामचन्द्र द्वारा भरतजी से जो प्रश्न पूछे गये हैं, वे असामयिक हैं।"

किन्तु इस प्रसङ्ग को दोनो ग्रन्थों में देखने पर ज्ञात हो सकता है कि यह आदर्श राज्य का दिग्दर्शन है। रामायण मे भगवान् रामचन्द्र चित्रकूट में आए हुए भरत से उनकी उद्विग्नता का कारण पूछने के लिये राज्य-विषयक परिस्थिति के रूप में प्रश्न करते हैं। और महाभारत में महाराज युधिष्ठिर से राज्य-व्यवस्थात्मक प्रश्नों के रूप मे देवर्षि नारद आदर्श-राज्य-धर्मो का उपदेश करते हैं। दोनों ही स्थलो पर यह विषय प्रसङ्गानुकूल है। हाँ, इस प्रसङ्ग मे वाल्मीकीय रामायण के कुछ पद्यो का महाभारत के पद्यों में अविकल सादृश्य अवश्य है। यह साम्य स्वतन्त्र रूप से होना असम्भव न होने पर भी यदि यही कल्पना की जाय कि वे पद्य एक ग्रन्थ से दूसरे ग्रन्थ में लिये गये हैं तो भी प्रत्युत रामायण से महाभारत में लिया जाना ही सम्भव हो सकता है जैसा कि ऊपर दिखाया गया है कि महाभारत मे वाल्मीकि के नाम के साथ रामायण का पद्य उद्धृत किया गया है। फिर किस प्रकार श्री वैद्य की यह कल्पना स्वीकार की जा सकती है?

(४) चौथी कल्पना यह है कि "महर्षि वाल्मीकि-प्रणीत आदि या मूल रामायण में ब्रह्मास्त्र द्वारा रावण के वध का उल्लेख है। किन्तु वर्त्तमान रामायण

---

१ देखिये माधुरी पत्रिका अप्रैल सन् १९२१ पृ० ३१२।

२ देखिये श्री वैद्य की महाभारत मीमांसा हिन्दी पृ० ७८।

में रावण के एक सिर कट जाने के बाद तत्काल नवीन दूसरे सिर उत्पन्न होने तथा रावण के कण्ठस्थित अमृत-कुण्ड को फोड़ कर रावण-वध की कथा है।"[1]

प्रश्न होता है कि वाल्मीकि-कृत वह दूसरी कौन सी ऐसी वाल्मीकीय रामायण है जिसमें रावण के कण्ठस्थित अमृतकुण्ड को फोड़ कर रावण-वध की कथा है। वर्तमान वा० रामायण में तो ऐसा उल्लेख रावण-वध के प्रसङ्ग में नहीं मिलता। महाभारत के रामोपाख्यान में भी रावण का वध केवल ब्रह्मास्त्र द्वारा किया जाना ही वर्णित है। सम्भवतः इसी आधार पर श्री वैद्य की यह कल्पना भी निर्भर है। प्रथम तो विभिन्न पुराणेतिहासो में अवतार-चरित्रों का एक ही रूप से वर्णन नहीं देखा जाता है। इस विभिन्नता का कारण एकमात्र कल्प भेद है जैसा कि गोस्वामी श्री तुलसीदासजी द्वारा 'रामचरित मानस' में विभिन्न कल्पों में होनेवाले श्री रामावतार के विषय में दिग्दर्शन कराया गया है। फलतः श्री वाल्मीकीय रामायण से ही महाभारत में रामोपाख्यान लिया गया है यह भी सन्देहात्मक ही है। इसके सिवा यदि यह मान भी लिया जाय कि महाभारत में यह विषय रामायण से ही लिया गया है तो भी श्री वैद्य के मत की पुष्टि नहीं हो सकती। वर्त्तमान रामायण में भी ब्रह्मास्त्र द्वारा ही रावण-वध का वर्णन है—

"अथ तं स्मारयामास मातली राघवं तदा,
अजानन्निव किं वीर त्वमेनमनुवर्तसे।
विसृज्यास्मै वधाय त्वमस्त्रं पैतामहं प्रभो।
× × × × × × ×
ततः संस्मारितो रामस्तेन वाक्येन मातलेः,
जग्राह स शरं दीप्तं निश्वसन्तमिवोरगम्।
यं तस्मै प्रथमं प्रादादगस्त्यो भगवानृषिः।
ब्रह्मदत्तं महद्बाणममोघं युधि वीर्यवान्॥" इत्यादि

—युद्धकाण्ड सर्ग १०८। १, २, ३, ४।[2]

---

१ श्री वैद्य का संस्कृत वाङ्मयाचा त्रोटक पृ० १०५।

२ देखो भूषण आदि तीन व्याख्यायुक्त गुजराती प्रेस (बंबई) संस्करण।

अब रही, रावण के सिर कट कर फिर उत्पन्न होने की बात। इस विषय में यही कहना पर्याप्त है कि जब स्वयं श्री वैद्य महाभारत के रामोपाख्यान को संक्षिप्त रूप मानते हैं तो ऐसी स्थिति में यदि किसी ग्रन्थ के विस्तृत वर्णन का तदनुरूप शृङ्खलाबद्ध ही वर्णन किया जाय तो फिर संक्षिप्त का प्रयोजन ही क्या हो सकता है ? इसके द्वारा सिद्ध है कि श्री वैद्य की यह कल्पना भी सर्वथा निस्सार है।

(५) श्री वैद्य की एक कल्पना यह भी है कि वर्तमान रामायण में छन्दों का प्रयोग है वह महाभारत काल के बाद का है। किन्तु छन्दों के प्रयोगों के विषय में भी श्री वैद्य स्वयं विश्वास नहीं करते हैं[1]। अतएव इस विषय में भी अधिक कहना व्यर्थ है।

उपर्युक्त विवेचन द्वारा सिद्ध है कि श्री वैद्य महाशय की कल्पनाएँ कुछ भी महत्वपूर्ण नहीं है। पाश्चात्य और एतद्देशीय लेखको ने और भी कुछ निस्सार कल्पनाएँ की है पर विस्तार भय से यहाँ उनकी मुख्य कल्पनाओं के विषय में ही विवेचन किया गया है।

यहाँ एक बात और भी विचारणीय है कि जब ईसवी सन् की सम्भवतः छठी और सातवीं शताब्दी के लगभग के भट्टि-भामह भामह-दण्डी और ग्यारहवीं शताब्दी के मम्मट-रुय्यक आदि साहित्याचार्यों के विषय में भी विद्वानों द्वारा अधिकाधिक चेष्टा की जाने पर भी उनके पूर्वापर का निश्चित रूप में मतैक्य नही हो सकता है, ऐसी अवस्था में निराधार कल्पनाओ पर रामायण को महाभारत के परवर्ती मान लेना या ईसवी सन् की कुछ शताब्दियो के पूर्व इसका समय निश्चित कर देना निस्सन्देह बड़ा दुस्साहसपूर्ण कार्य है, जब कि रामायण के प्राचीनतम होने के विरुद्ध कोई भी दृढ़ प्रमाण उपलब्ध नही हो सकता है। हाँ, सम्भव है आर्ष-ग्रन्थों में कुछ प्रक्षिप्त अंश पीछे से मिला दिया गया हो पर इसके द्वारा सम्पूर्ण ग्रन्थ का काल-निर्णय करना कहाँ तक युक्तियुक्त हो सकता है, यह इतिहासज्ञ विद्वान् अनुभव कर सकते है।

---

१ देखो श्री वैद्य कृत भारत मीमांसा।

महामुनि श्री भरत का नाट्यशास्त्र

साहित्य शास्त्र के प्रथमाचार्य का स्थान उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर महामुनि भरत के सिवा अन्य किसी को प्रदान नहीं किया जा सकता। क्योंकि काव्य के लक्षण-ग्रन्थों में सबसे प्रथम हमको इन्हीं का नाट्यशास्त्र उपलब्ध होता है। यद्यपि काव्य-मीमांसा में कविराज राजशेखर ने शास्त्रसंग्रह नामक प्रथमाध्याय के आरम्भ में भगवान् श्री कण्ठ द्वारा काव्य-शिक्षा प्राप्त होने का जहाँ उल्लेख किया है, वहाँ भरत मुनि के साथ-साथ अन्य साहित्याचार्यों के भी नामोल्लेख किये हैं, जैसे—

"सोऽपि भगवान् स्वयंभूः ······· काव्यविद्याप्रवर्त्तनार्यै प्रायुङ्क्त। सोऽष्टादशाधिकरणीं दिव्येभ्यः काव्यविद्यास्नातकेभ्यः सप्रपञ्चं प्रोवाच। तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीत्, मौक्तिकमुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः, आनुप्रासिकं प्रचेतायनः, यमकानि चित्रं चित्राङ्गदः, शब्द-श्लेषं शेषः, वास्तवं पुलस्त्यः, औपम्यमौपकायनः, अतिशयं पराशरः, अर्थश्लेषमुतथ्यः, उभयालंकारिकं कुवेरः, वैनोदिकं कामदेवः, रूपक-निरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः, दोषाधिकरणं धिषणः, गुणौपादानिकमुपमन्युः, औपनिषदकं कुचमारः इति"।

—का० मी० पृ० १

उपर्युक्त आचार्यों में जिन सुवर्णनाभ और कुचमार का उल्लेख है, उनके विषय में वात्स्यायन प्रणीत कामसूत्र में भी उल्लेख है[1] जो कि राजशेखर से अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है। और नन्दिकेश्वर (अथवा नन्दि) का उल्लेख नाट्य-शास्त्र में स्वयं श्री भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र विषय के अपने उपदेशक के रूप में तुण्ड के नाम से किया है—जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायगा। किन्तु राजशेखर के बताये हुए आचार्यों में इस समय श्री भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र ही उपलब्ध है।

१ 'सुवर्णनाभः साम्प्रयोगिकम्' कामसूत्र १।१।१३, 'कुचमार औपनिषदिकम्'। कामसूत्र १।१।१७,

बाबू सुशीलकुमार दे, एम० ए० डी० लिट० (ढाका युनिवर्सिटी) आदि ने राजशेखर के उपर्युक्त वाक्य को कवि-कल्पना मात्र एवं अपने अधिकृत शास्त्र को गौरवान्वित करने के लिये उसके साथ इस प्रकार देवता और ऋषियो का सम्बन्ध स्थापित कर देना संस्कृत लेखकों के लिये स्वभाव-सिद्ध बतलाया है।[1] किन्तु हम तो यह कहते हैं कि संस्कृत लेखको द्वारा ऐसा किये जाने की बात तो केवल पश्चिमीय शिक्षा से प्रभावित विद्वानों की कपोल-कल्पना मात्र ही है। पर हमारे ऋषियों के सम्बन्ध के ऐसे वाक्यो पर ऐसी निराधार कल्पनाएँ कर लेना पाश्चात्य-लेखकों पर अन्ध-विश्वास रखनेवाले एतद्देशीय विद्वान् लेखकों के अवश्य ही प्रत्यक्ष स्वभाव-सुलभ दृष्टिगत होती है। अतएव ऐसी अवस्था में ऐसी अप्रामाणिक मनगढन्त कल्पनाओ को हम भी अंध-विश्वास से किस प्रकार स्वीकार कर सकते हैं, जब कि उनकी कल्पनाओ के विरुद्ध हमको प्रमाण भी उपलब्ध हैं। विचारणीय यह है कि राजशेखर ने जिन-जिन आचार्यो का नामोल्लेख किया है, उनमें से भरत का नाट्यशास्त्र ही उपलब्ध है, पर इसके सिवा और भी दो आचार्यों का नामोल्लेख राजशेखर के अत्यन्त पूर्ववर्ती वात्स्यायन के कामसूत्र में बड़े आदर के साथ किया गया है—जैसा कि हम पहिले दिखा चुके हैं। और कामसूत्र के उल्लेख द्वारा उन दोनो का अस्तित्व भी स्वीकार किया जाता है—जब कि उनके ग्रन्थ भी कोई उपलब्ध नहीं है। फिर हमको राजशेखर-कथित अन्य आचार्यों का अस्तित्व असम्भव मान लेने का क्या आधार है ? यदि उनके ग्रन्थ अप्राप्य होना ही इसका आधार मान लिया जाय तब तो यह भी सम्भव है कि यदि श्री भरत का नाट्यशास्त्र और कामसूत्र भी अप्राप्य होते तो भरत, सुवर्णनाभ और कुचमार को भी वे काल्पनिक व्यक्ति ही समझ लेते। अतएव किसी निर्दिष्ट आचार्य का ग्रन्थ या किसी ऐतिहासिक व्यक्ति का चिह्न उपलब्ध न होना उनके अस्तित्व को असिद्ध कदापि नही कर सकता। यदि ऐसा ही मान लिया जाय तब तो इसका परिणाम बहुत ही भयङ्कर हो सकता है—

1 संस्कृत पोईटिक्स S. K. De. Vol. 1

सभी ऐतिहासिक व्यक्ति काल्पनिक समझे जा सकते हैं। निष्कर्ष यह कि राजशेखर के वाक्य को कपोल-कल्पित मानने के लिये कोई प्रमाण नहीं, प्रत्युत स्वयं नाट्यशास्त्र मे राजशेखर के वाक्य की पुष्टि मे प्रमाण मिलते हैं। नाट्यशास्त्र में 'अन्ये' (अ० ६।१३० के आगे) 'अन्यैरपि उक्तम्' (६।१४४ के आगे), 'अन्येतु' (६।१६१, और ६।१६६ के आगे) इत्यादि अनेक प्रयोग मिलते हैं, जो कि हमको भरत के समकालीन या उनके पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों के परिचायक हैं। सभव है जिस प्रकार राजशेखर ने श्री भरत, सुवर्णनाभ और कुचमार के ग्रन्थ देखकर उनका नामोल्लेख किया होगा उसी प्रकार अन्य आचार्यों के भी ग्रन्थ या अन्य किसी ग्रन्थ मे उनका नामोल्लेख देख कर ही ऐसा किया होगा। अस्तु ऐसी परिस्थिति में जब कि अन्य आचार्यों के ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं, महामुनि भरत ही साहित्य के प्रथमाचार्य के रूप मे हमारे सम्मुख आते हैं और उनका नाट्यशास्त्र ही इस विषय का प्रथम ग्रन्थ।

नाट्य शास्त्र में वर्णित विषय

नाट्यशास्त्र का विषय प्रधानतया दृश्य-काव्य नाट्य विषय है। पर काव्य के दृश्य और श्रव्य दोनो ही भेदों के इसमें नियम निरूपण किये गये हैं। हाँ, यह अवश्य है कि श्रव्य-काव्य अथवा श्रव्य और दृश्य दोनों से सम्बंध रखनेवाले रस, अलङ्कार, गुण, वृत्ति, नायिकाभेद और दोषादिकों का उतना विस्तार से विवेचन नही किया गया है, जितना केवल दृश्य-काव्य विषयक नाट्याभिनय का वर्णन किया गया है।

नाट्यशास्त्र मे ३७ अध्याय हैं। जिनमे छठे अध्याय में रस; ७वें मे भाव-स्थायी, व्यभिचारी आदि; १४वे मे छंदों के लक्षण और उदाहरण; १६वें में अलङ्कार, काव्य के दोष गुण और काव्यलक्षण; १७वे में प्राकृतादि भाषाएँ; १८वे में दस प्रकार के रूपक; २०वे मे भारती, सात्वती, कौशिकी और आरभटी वृत्ति और २२वे मे हाव, भाव, हेला, नायक-नायिकादि भेद निरूपण हैं। विशेषतया श्रव्य-काव्य से सम्बन्ध रखनेवाला यही अध्याय है, शेष अध्यायो मे प्रायः नाट्याभिनय विषय ही है।

नाट्यशास्त्र के उपर्युक्त अध्यायों के विषय निरूपण पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र के रचना-काल में अलङ्कारों के अधिक भेद निर्दिष्ट नहीं हुए थे—जैसा कि उसमें किये गये उपमादि केवल चार अलङ्कारों के निरूपण से स्पष्ट है। अलंकारों के उपभेद भी उसमे केवल उपमा और यमक के ही कुछ निरूपण किये गये हैं। उपमा के अवान्तर भेदों के विषय में यह भी कहा गया है—

'उपमाया बुधैरेते भेदा ज्ञेयाः समासतः।
ये शेषा लक्षणेनोक्तास्ते ग्राह्याः काव्यलोकतः'॥

—नाट्यशास्त्र १६।५४

इससे विदित होता है कि उपमा के उपभेद उस समय और भी कुछ महामुनि भरत के ध्यान में अवश्य थे, सम्भवतः वे काव्यों में ही दृष्टिगत होते थे—किसी लक्षण ग्रन्थ में निरूपण नही किये गये थे। इनमें बहुत से उपभेदों का निरूपण अग्निपुराण और दण्डी के काव्यादर्श मे मिलता है।

अलङ्कारो के बाद नाट्यशास्त्र में दश दोषो और गुणों का निरूपण है।

नाट्यशास्त्र का लेखक

नाट्यशास्त्र के लेखक के विषय में बाबू एस. के. दे लेक्चरर ढाका यूनिवर्सिटी[1] और श्री काणे का मत है[2] कि यह विस्तृत नाट्यशास्त्र श्री भरत की कृति नहीं किन्तु किसी अन्य की है जिसने सिद्धान्तो की शिक्षा पाकर एव कला के प्रयोग करके इसको प्रणीत किया है। इसकी पुष्टि में श्री काणे ने नाट्यशास्त्र के—

'आत्मोपदेशसिद्धं हि नाट्यं प्रोक्तं स्वयंभुवा।
शेषं प्रस्तारतन्त्रेण कोलाहलः कथिष्यति'॥

—३७।१८

---

१ देखो हिस्ट्री आव् संस्कृत पोएटिक्स जिल्द एक नाट्यशास्त्र विषयक निबन्ध।

२ देखो श्री काणे के साहित्यदर्पण की भूमिका पृ० ७,८।

'भरतानां च वंशोयं भविष्यं च प्रवर्तितः।
कोहेलादिभिरेवं तु वत्सशाण्डिल्यधूर्तितैः' ॥
—३७।२८

इन वाक्यों को उद्धृत किया है। इनके अतिरिक्त वे अन्य प्रमाण भी देते हैं—

१ दामोदर गुप्त ने कुट्टनीमत में नाट्यशास्त्रकारों में भरत के साथ कोहल का नाम भी दिया है—'कोहलभरतोदितक्रियया' (कुट्टनीमत श्लो० ८१)।

२ 'ताल' नामक ग्रन्थ जो कोहलाचार्य कृत कहा जाता है यह इण्डिया ऑफिस की लायब्रेरी में है।

३ हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में ('आदिशब्दात्कोलाहलादिलक्षितास्तोटकादयो ग्राह्याः।' पृ० ३२५) इस वाक्य में कोलाहल को नाट्य-लेखक बतलाया है।

४ रसार्णवसुधाकर (प्रथम बिलास) में शिङ्ग भूपाल ने भरत, शाण्डिल्य, कौटिल्य दत्तिल और मतङ्ग को दूसरे नाट्य-ग्रन्थो के प्रणेता बतलाये हैं।

बस, श्री काणे की कल्पना इन्ही प्रमाणो पर अधिकतया अवलम्बित है। किन्तु उपर्युक्त प्रमाणो मे किसी भी प्रमाण से यह किस प्रकार सिद्ध हो सकता है कि यह वर्तमान नाट्यशास्त्र भरत मुनि प्रणीत नही ? प्रत्युत उपर्युक्त प्रमाणों द्वारा तो ऊपर उद्धृत नाट्यशास्त्र की दोनो कारिकाओं मे जो कहा गया है कि 'नाट्यशास्त्र का विस्तार कोहलादि करेंगे' इसकी पुष्टि होती है। क्योंकि उपर्युक्त पहिली, दूसरी और तीसरी सख्या के प्रमाणों मे यही कहा गया है कि कोहलादिक नाट्य-विषयक ग्रन्थों के प्रणेता हैं। और दूसरी संख्या के प्रमाण द्वारा कोहलकृत 'ताल' नामक ग्रन्थ का पता चलता है। अतएव इनके द्वारा तो केवल यही निष्कर्ष निकल सकता है कि १, ३, ४ सख्या के प्रमाणों में कहे हुए वाक्यों का दूसरी संख्या के प्रमाण द्वारा समर्थन होता है। किन्तु यह चारों प्रमाण श्री काणे ने भरत के नाट्यशास्त्र के लेखक के संम्बन्ध मे किस प्रकार लागू किये यह एक वस्तुतः विचित्र बात है।

बाबू एस. के. दे ने भी[1] नाट्यशास्त्र के ३७वे अन्तिम अध्याय के अन्त

---

१ देखो हिस्ट्री आव् संस्कृत पोएटिक्स पृ० २४, २५।

मे—'इति भारतीये नाट्यशास्त्रे गुह्यविकल्पो नामाध्यायः सप्तत्रिंशः' इस वाक्य के आगे लिखे हुए—'समाप्तोयं नन्दिभरत सगीत पुस्तकम्' । और ऊपर उद्धृत नाट्यशास्त्र के अध्याय ३७ की १८वी एवं २४वी कारिकाओं के आधार पर यही मत स्थिर किया है कि नाट्यशास्त्र का वर्तमान रूप कोहल, नन्दिकेश्वर आदि के किये हुए परिवर्तनों के पीछे किसी अन्य द्वारा सम्पादित किया गया है। फिर एस्. के. दे बाबू यह भी लिखते हैं कि[1] "नाट्यशास्त्र मे—(१) मुक्त गद्यांश, (२) आनुवंश्य श्लोक, (३) सूत्र भाष्य शैली और (४) सक्रम कारिकाएँ हैं अतः यह विभिन्न शैली की रचना एक काल की नही हो सकती। यह ग्रन्थ कभी सूत्र भाष्य रूप में लिखा गया होगा जिसका रूपान्तर वर्तमान रूप है"। किन्तु हमको आश्चर्य है कि श्री काणे और श्री एस. के. दे बाबू जैसे संस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ विद्वानो ने यह मत ऐसे निर्बल और निर्मूल आधारों पर किस प्रकार स्थिर कर लिया। उनको इस मत पर आने के प्रथम आर्ष-ग्रन्थ जो ऋषि-प्रणीत महाभारतादिक हैं, उनके आरम्भ से समाप्ति तक की क्या रचना-शैली है उस पर भी ध्यान देना आवश्यक था। क्या उन ग्रन्थो में इसी प्रकार की रचना-शैली नही है? क्या गद्य भाग और अनुष्टुप् या आर्या छन्द आदि नहीं हैं? अवश्य ही इन आर्ष-ग्रन्थों के मूल भाग को श्री काणे आदि भी उन्ही महानुभाव ऋषियों के प्रणीत स्वीकार करते हैं, यद्यपि उनके वर्त्तमान रूप को वे कही कही परिवर्द्धित बताते हैं। किन्तु यह भी उनको निराधार कल्पना मात्र है। (इस विषय पर प्रसङ्गानुसार आगे विवेचन किया जायगा) यहाँ पर विचारणीय यही है कि जब कोहलादिक का नामोल्लेख नाट्यशास्त्र में भी है और उसी के आधार पर श्री काणे आदि नाट्यशास्त्र के वर्त्तमान रूप को मूल रूप से भिन्न बतलाते हैं तो प्रश्न यह होता है कि प्रथम तो नाट्यशास्त्र मे इसके लेखक रूप में कोहलादि का उल्लेख ही कहाँ है? 'विस्तार' का अर्थ अन्य ग्रन्थो का निर्माण उनके द्वारा किया जाना न मान कर इसी सुप्रसिद्ध नाट्यशास्त्र को

---

१ हिस्ट्री सं० पो० पृ० ३१।

कोहलादि द्वारा लिखे जाने या परिवर्द्धित किये जाने में प्रमाण ही क्या है ? जब कि कोहलादि द्वारा लिखे गये स्वतंत्र ग्रन्थों का अस्तित्व श्री काणे के उपर्युक्त प्रमाणों द्वारा ही सिद्ध होता है। इनके सिवा भरत नाट्यशास्त्र पर जो 'अभिनवभारती' नाम की टीका है[1] उसमें भी कोहल के मत उद्धृत किये गये है—

> "सात्विकोप्यङ्गीकृत एव कोहलाद्यैः—'सत्वातिरिक्तोऽभिनयः' इत्यादिवचनमालिखद्भिः" । (पृ० १७३)। तदुक्तं कोहलेन— 'सन्ध्यायां नृत्यतः' इत्यादि (पृ० १८२)। "यथोक्तं कोहलेन 'लयान्तरप्रयोगेण" इत्यादि (पृ० १८३)।

इन वाक्यों द्वारा भी कोहल का स्वतंत्र ग्रन्थ भरत नाट्यशास्त्र से भिन्न सिद्ध होता है। फिर यह भी एक प्रश्न है कि कोहलादि का समय किस आधार पर भरत मुनि से अत्यन्त परवर्ती कहा जा सकता है। नाट्यशास्त्र में 'आनुवंश्य' आर्याओं के विषय में कहीं यह स्पष्ट नहीं कहा गया है कि यह अन्य किसी के हैं। हाँ, 'अन्ये' 'केचित्' आदि प्रयोग अवश्य है, यदि उन आर्याओं को भी इसी श्रेणी में रख दिया जाय तो भी अनेक लेखकों द्वारा नाट्यशास्त्र का लिखा जाना किस प्रकार सिद्ध हो सकता है, सिवा इसके कि इन वाक्यों से अपने समकालीन या पूर्ववर्ती आचार्यों के मत भरत मुनि ने प्रदर्शित किये हैं। यदि श्री काणे आदि अपने मत की पुष्टि में कोई दृढ प्रमाण दिखलाते तो किसी को आग्रह न होता कि ऐसा न माने, पर जब तक कोई अकाट्य प्रमाण उपलब्ध न हो यह कभी नहीं माना जा सकता कि श्री भरत के सिवा अन्य भी कोई इस नाट्यशास्त्र के प्रणेता या परिवर्द्धक हैं।

अच्छा, ग्रन्थ समाप्ति के 'नन्दिभरत' के प्रयोग का सम्बन्ध श्री एस. के. दे बाबू केवल नाट्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय के साथ लगाते हैं, किन्तु अन्तिम

---

[1] अबतक इस टीका का नाममात्र अन्य ग्रन्थों में दृष्टिगत होता था, पर अब यह टीका गायकवाड सीरीज में मुद्रित हो रही है और प्रथम भाग में ७ अध्याय तक मुद्रित भी हो गई है।

अध्याय की 'इतिश्री' मे तो वही उल्लेख है, जो कि प्रत्येक अध्याय के अन्त में 'इति श्री भारतीये नाट्यशास्त्रे' लिखा हुआ है। इसके बाद 'समाप्तोयं नन्दिभरत-सङ्गीतपुस्तकम्' यह लिखा हुआ है। अतएव इस वाक्य का विशेष सम्बन्ध केवल अन्तिम अध्याय अथवा नाट्यशास्त्र के अन्य किसी विशेष भाग के साथ तो किसी भी प्रकार स्थापित हो ही नही सकता। यदि इसका सम्बन्ध स्थापित हो सकता है, तो सारे ग्रन्थ के साथ ही हो सकता है। भरत मुनि को नाट्य-विषयक शिक्षा महात्मा नन्दि द्वारा ही उपलब्ध हुई है, जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है—

'ततस्तण्डुं समाहूय प्रोक्तवान् भुवनेश्वरः।
प्रयोगमङ्गहाराणामाचक्ष्व भरताय वै॥
ततो ये तण्डुना प्रोक्तास्त्वङ्गहारा महात्मना।
नानाकरणसंयुक्तान्व्याख्यास्यामि सरेचकान्॥
—नाट्यशास्त्र ४।१७-१८

तण्डु, यह नन्दि का ही दूसरा नाम है जैसा कि 'तण्डु' की व्याख्या मे अभिनवभारती में उल्लेख है—'तण्डुमुनिशब्दौ नन्दिभरतयोरपरनामनी'[1]। अतएव हम इसके द्वारा इस निष्कर्ष पर आ सकते हैं कि नन्दि द्वारा भरत मुनि को शिक्षा प्राप्त होने के कारण नाट्यशास्त्र का नन्दि के मतानुसार लिखा जाना सिद्ध होता है। सम्भव है इसी कारण से ग्रन्थान्त मे 'नन्दि भरत' का प्रयोग किया हो। इसके सिवा प्रायः अन्य नाट्याचार्यों के लिए भी भरत संज्ञा का प्रयोग होता है, सम्भव है अन्य आचार्यों से भिन्नता प्रदर्शित करने के लिए ही प्रसिद्ध भरत मुनि के लिए, जिनको नन्दि द्वारा शिक्षा प्राप्त हुई है, 'नन्दि भरत' का प्रयोग किया गया हो। इसके अतिरिक्त लेख-प्रमाद और प्रक्षिप्त अंश का समावेश हो जाने के कारण इसका निश्चय किया जाना भी बड़ा ही दुःसाध्य व्यापार है। अभिनवभारती के साथ नाट्यशास्त्र के गायकवाड सीरीज के संस्करण

१ अभिनवभारती पृ० ९०

की भूमिका द्वारा विदित होता है कि इस संस्करण के लिए ४० प्रतियाँ हस्तलिखित एकत्र की गई हैं, जिनमें कोई भी दो प्रतियो का पाठ एक दूसरी से नही मिलता है। और अध्यायों की संख्या में भी विभिन्नता है। कुछ प्रतियों में ३६ अध्याय हैं, जब कि कुछ प्रतियों में उतना ही पाठ ३६ और ३७ संख्या के दो अध्यायो में लिखा हुआ है। एक प्रति में ३८वाँ अध्याय भी उसी पाठ में लगा हुआ है। इस पर सम्पादक महाशय ने लिखा है—

"Bharat's work has undergone such variations at every part of the work that every verse really requires half a printed page to show its variants." (Natyashastra, Gaekwad's Oriental Series: Preface, page 9, last two lines).

अर्थात् 'भरत की मूल कृति के प्रत्येक भाग में इतना परिवर्तन हो गया है कि प्रत्येक पद्य के परिवर्तनो को दिखाने के लिए वास्तव मे मुद्रित आधे पृष्ठ की आवश्यकता है।' ऐसी परिस्थिति में यहाँ भी कहा जा सकता है कि सम्भवतः नाट्यशास्त्र में कुछ प्रक्षिप्त अंश भी समावेशित हो गया हो तो क्या आश्चर्य है। किन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ का लेखक भरत मुनि के स्थान पर अन्य किसी को कल्पना कर लेना तो वस्तुतः बड़ा ही दुःसाहसपूर्ण कार्य है। अतएव संदिग्ध आधार पर ऐसी महत्वपूर्ण धारणा के लिए हमको रुक जाना ही श्रेयस्कर है।

नाट्यशास्त्र का समय

यद्यपि कुछ विद्वान् नाट्यशास्त्र का निर्माण अग्निपुराण के पीछे बताते हैं, जैसा कि काव्यप्रकाशादर्श नामक काव्यप्रकाश की टीका में महेश्वर ने लिखा है—

'सुकुमारान् राजकुमारान् स्वादुकाव्यप्रवृत्तिद्वारा गहने शास्त्रान्तरे प्रवर्तयितुमग्निपुराणादुद्धृत्य काव्यरसास्वादकरणमलङ्कारशास्त्रं कारिकाभिः संक्षिप्य भरतमुनिः प्रणीतवान्'।

यह टीका ईसवी १७वीं शताब्दी में लिखी गई है[1]। इसी प्रकार साहित्य-कौमुदी की कृष्णानन्दिनी टीका में भूषण ने भी लिखा है—

काव्यरसास्वादनाय वह्निपुराणादिदृष्टां साहित्यप्रक्रियां भरतः संक्षिप्ताभिः कारिकाभिः निवबन्ध'।

किन्तु यह उल्लेख सर्वथा निराधार है। इसके लिए अन्यत्र अन्वेषण की आवश्यकता नहीं, जब कि अग्निपुराण के—

'वाक्प्रधाना नरप्राया स्त्रीयुक्ता प्राकृतोक्तिता।
भरतेन प्रणीतत्वाद् भारती रीतिरुच्यते'॥[2]

—अग्नि पु० ३४०।६

इस वाक्य से ही स्पष्ट है कि 'भारती' रीति का नामकरण श्री भरत-प्रणीत होने के कारण किया गया है। यही नही, अग्निपुराण के इस वाक्य की पुष्टि नाट्यशास्त्र के—

'या वाक् प्रधाना पुरुषप्रयोज्या स्त्रीवर्जिता संस्कृत वाक्ययुक्ता।
स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः'॥

—नाट्यशा० २०।२५

इस पद्य से भी होती है। इसी के अनुसार अग्निपुराण के उपर्युक्त श्लोक में कहा गया है। अग्निपुराण का पाठ कुछ अशुद्ध प्रतीत होता है। क्योंकि उसमें 'स्त्रीयुक्ता प्राकृतोक्तिता' पाठ है, जब कि नाट्यशास्त्र में 'स्त्रीवर्जिता संस्कृत वाक्ययुक्ता' पाठ है। सम्भवतः अग्निपुराण में भी "स्त्रीत्यक्ता प्राकृतोज्झिता" पाठ हो, और हस्तलिखित प्रति के लिपि-भ्रम से ऐसा मुद्रित हो गया हो। जो कुछ हो यह निर्विवाद सिद्ध है कि नाट्यशास्त्र, अग्निपुराण से प्राचीन ही नहीं किन्तु वह अग्निपुराण में लिये गये इस विषय का आदर्श भी है।

इसके प्रथम कि हम नाट्यशास्त्र के समय के सम्बन्ध मे यथा साध्य

---

१ देखो काव्यप्रकाश भूमिका पृ० ३७ वामनाचार्य टीका द्वितीय संस्करण।

२ अर्थात् भरत की प्रणीत होने के कारण इसे भारती रीति कहते हैं।

निष्कर्ष निकालें, यह प्रदर्शित करना प्रयोजनीय है कि अन्य विद्वान् लेखकों का इस विषय मे क्या मत है—

१—प्रोफेसर मेकडोनल्ड नाट्यशास्त्र का निर्माण काल ई० सन् की छठी शताब्दी बताते हैं।[1]

२—प्रोफेसर लेवी (Leve) इसका समय इन्डो सीदियन क्षेत्रप के समय में बतलाते हैं।[2]

३—महामहोपाध्याय श्री हरिप्रसाद शास्त्री ई० सन् के दो शताब्दी पूर्व बतलाते हैं।[3]

४—बाबू एस. के. दे नाट्यशास्त्र का वर्तमान रूप आठवी शताब्दी के लगभग बतलाते हैं।[4]

५—श्री काणे इसकी अन्तिम सीमा महाकवि कालिदास के समय पर निर्भर बतलाते हैं। और पूर्व सीमा ई० सन् के प्रारम्भ से अधिक प्राचीन नहीं मानते।[5]

निष्कर्ष यह है कि इन सभी विद्वान् लेखकों ने नाट्यशास्त्र का निर्माणकाल ईसवी सन् के पूर्व दूसरी शताब्दी से प्रथम स्वीकार नही किया है। उपर्युक्त विद्वानो के इन मतो पर विवेचन करने के प्रथम उचित यह होगा कि हम नाट्य-शास्त्र के विषय मे बाह्य और अन्तरङ्ग उपलब्ध प्रमाणों पर कुछ विचार करें। अतः प्रथम हम ई० सन् की ११ वी या १२ वी शताब्दी के पूर्व के विद्वानों द्वारा लिखे गये ग्रन्थो के बाह्य प्रमाणों पर विचार करते है।

---

१ देखो संस्कृत लिटरेचर पेज ४३४। और मि० मेकडोनल का संस्कृत इतिहास गुजराती अनुवाद पृ० ५६३।

२ देखो इंडियन एण्टीक्वायरी पुस्तक ३३ पृ० १६३।

३ देखो जरनल एशियाटिक सोसायटी बंगाल सन् १९१३ पृ० ३०७।

४ संस्कृत साहित्य का इतिहास History of Sanskrit Poetics पृ० २७।

५ देखो साहित्यदर्पण की अंग्रेजी भूमिका पृ० ८-९-१०।

काव्यप्रकाश में उल्लेख है :—

'उक्तं हि भरतेन—विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।'

—का० प्र० उ० ४ पृ० १०१[1]

यह नाट्यशास्त्र के अध्याय ६ पृ० ६२ का उद्धरण है। इस सूत्र पर काव्य-प्रकाश में भट्ट लोल्लट, श्री शंकुक, भट्ट नायक और अभिनवगुप्ताचार्य की व्याख्याओं का सारांश दिया गया है और वह नाट्यशास्त्र पर अभिनवगुप्ताचार्य की 'अभिनवभारती' नाम की टीका से संक्षिप्त रूप में लिया गया है—

१—भट्ट नायक का समय ई० सन् ९०० और ९२५ माना जाता है।

२—श्री शंकुक संभवतः वही है, जिसके विषय में राजतरङ्गिणी मे—

'कविर्बुधमनः सिन्धुशशाङ्कः शङ्कुकाभिधः।
यमुद्दिश्याकरोत्काव्यं भुवनाभ्युदयाभिधम्' ॥

(रा० त० अ० ४।७०५)

इसके अनुसार इनका समय ई० ८४० है।

३—भट्ट लोल्लट के समय का ठीक पता नहीं, किन्तु यह श्री शंकुक के पूर्ववर्ती हैं क्योंकि अभिनवभारती में इनका उल्लेख उपर्युक्त भट्ट लोल्लट की नाट्यशास्त्र के सूत्र की व्याख्या के आलोचक के रूप मे किया गया है। और ध्वन्यालोक की लोचन व्याख्या मे (पृ० १८८) अभिनवगुप्ताचार्य ने लिखा है कि भट्ट का मत प्रभाकर के मतानुसार है—'भाट्टं प्राभाकरं वैय्याकरण च पक्षं सूचयति' इत्यादि। काव्यप्रकाश की माणिक्यचन्द्र प्रणीत संकेत टीका और व्यक्तिविवेक आदि से भी पता चलता है कि भट्ट लोल्लट प्रभाकर और श्री शंकुक के पूर्ववर्ती हैं अतः इनका समय संभवतः ई० सन् ७०० से ८०० तक माना जा सकता है।

---

१ यहाँ काव्यप्रकाश के जहाँ भी उद्धरण दिये गये हैं, वे सभी बम्बई में निर्णय सागर प्रेस में मुद्रित वामनाचार्य की टीका के द्वितीय संस्करण के पृष्ठ हैं।

४—अभिनवगुप्ताचार्य ने—जिनको काव्यप्रकाश प्रणेता आचार्य मम्मट संभवतः अपने आचार्य रूप में व्यक्त करते है—ध्वन्यालोक की लोचन व्याख्या मे भरत मुनि के मत का अनेक स्थानों पर उल्लेख करते हुए 'मुनिराह' इत्यादि प्रयोग तो प्रायः किया ही है। एक स्थान पर लिखा है—'चिरंतनैर्हि भरत-मुनिप्रभृतिभिर्यमकोपमे शब्दालङ्कारत्वेनेष्टे' (पृ० ५) इनका समय दशम शताब्दी के लगभग है।

इससे सिद्ध होता है कि ईसवी की आठवी शताब्दी के भट्ट लोल्लट ने नाट्य-शास्त्र के उक्त सूत्र पर व्याख्या की है और दशम शताब्दी के अभिनवगुप्ताचार्य जैसे सभ्रान्त आचार्यो ने श्री भरत को 'मुनि' और 'चिरंतनैः' शब्दों से व्यक्त किया है, जब कि उन्होंने भामह, उद्भट और दण्डी के 'चिरंतन' शब्द का प्रयोग नही किया है जिनका समय अभिनवगुप्त के लिए पूर्व दो से चार शताब्दियों तक का है।

दशरूपक के प्रणेता धनञ्जय या धनिक ने भी लिखा है—

'उधृत्योधृत्यसारं यमखिलनिगमान्नाट्यवेदं विरिञ्चि—
श्चक्रे यस्य प्रयोगं मुनिरपि भरतस्ताण्डवं नीलकण्ठः'।

(दशरूपक १।४)

इसमें भरत को 'मुनि' और नाट्यवेद को विरिञ्चि-ब्रह्मा द्वारा निर्मित बताया गया है। फिर इनके पूर्ववर्त्ती श्री आनन्दवर्द्धनाचार्य ने, जिनका समय ई० सन् ८०० और ९०० के मध्य मे माना जाता है, अपने ध्वन्यालोक में भरत का नामोल्लेख अनेक स्थानो पर किया है—

१ 'अतएव च भरतेन प्रबन्धप्रख्यातवस्तुविषयत्वं प्रख्यातोदात्तनायकत्वं च नाटकस्यावश्यकर्तव्यतयोपन्यस्तं'।

(पृ० १४६)

२ 'यथा वेणीसंहारे विलासाख्यस्य प्रतिमुखसन्ध्यङ्गस्य प्रकृतरसनिबन्धाननुगुणमपि द्वितीयेऽङ्के भरतमतानुसरणमात्रेच्छया घटनम्'।

(पृ० १५०)

३ 'यदि वा वृत्तीनां भरतप्रसिद्धानां कौशिक्यादीनां काव्यालङ्कारान्तर-प्रसिद्धानामुपनागरिकाद्यानां'।

(पृ० १६३)

४ 'एतच्च रसादितात्पर्येण काव्यनिबन्धनं भरतादावपि सुप्रसिद्धमेवेति'।

(पृ० १८१)

इनमें द्वितीय उद्धरण के अनुसार विलास नामक सन्ध्यङ्ग की परिभाषा उपलब्ध नाट्यशास्त्र के १६।७१ में और तीसरे उद्धरण के अनुसार कौशिक्यादि वृत्तियों का निरूपण अध्याय २० में किया गया है। इससे सिद्ध है कि वेणीसंहार नाटक के प्रणेता भट्ट नारायण ने, जो श्री आनन्दवर्द्धनाचार्य से पूर्व लगभग ई० की छठी या सातवीं शताब्दी में हो गया है, भरत के मतानुसार विलास सन्ध्यङ्ग को लिखा है, यही नहीं वह भरत को नाट्यशास्त्र का सर्वोच्च आचार्य भी स्वीकार करता है।

ध्वन्यालोक के पूर्व दामोदर गुप्त ने अपने कुट्टनीमत ग्रन्थ में भरत का नामोल्लेख तो एकाधिक स्थानों पर किया ही है, किन्तु वह यह भी लिखता है—

'ब्रह्मोक्तनाट्यशास्त्रे गीते मुरजादिवादने चैव'।

—कुट्ट० श्लो० ७५

अतएव ई० सन् की आठवीं शताब्दी में भी नाट्यशास्त्र के उल्लेख के अनुसार नाट्यशास्त्र को ब्रह्मोक्त और भरत का ब्रह्मादि देवों के साथ सम्बन्ध स्वीकार किया गया है, जो भरत को प्राचीनतम सिद्ध करता है।

दामोदर गुप्त के पूर्ववर्ती भवभूति ने, जिसका समय ई० ७०० से ७४० तक माना जाता है, उत्तररामचरित नाटक के चतुर्थांक में जहाँ कि जनक और लव के वार्तालाप में महर्षि वाल्मीकि द्वारा रामायण निर्माण किये जाने का प्रसङ्ग उपस्थित किया है, वहाँ लव के द्वारा ये वाक्य कहलाये हैं—

'लवः-प्रणीतो न तु प्रकाशितः। तस्यैव खलु कोऽप्येकदेशः सन्दर्भान्तरेण रसवानभिनेयार्थः कृतः तं च स्वहस्तलिखितं मुनिर्भगवान् व्यसृजद्भरतस्य मुनेस्तौर्य्यत्रिकसूत्रकारस्य'।

जनकः—किमर्थम् ?

लवः—स किल भगवान् भरतस्तमप्सरोभिः प्रयोजयिष्यतीति'।

—उत्त० पृ० २४४, २४५ (कलकत्ता, गोवर्धन प्रेस संस्करण)

इसमें महर्षि वाल्मीकि-प्रणीत श्री रामायण का एक अंश नाटकरूप में अभि-नेयार्थ भरत मुनि के समीप भेजे जाने का उल्लेख है। यह कथा-प्रसङ्ग यदि भव-भूति द्वारा कल्पित भी मान लिया जाय फिर भी इसके द्वारा यह तो अवश्य सिद्ध होता है कि भवभूति के समय मे भी भरतमुनि महर्षि वाल्मीकि के समकालीन माने जाते थे और उनका नाट्यशास्त्र प्रसिद्ध था।

कादम्बरी आदि के प्रणेता महाकवि बाणभट्ट ने भी, जिसका समय ई० की छठी शताब्दी माना जाता है, नाट्यशास्त्र को भरत प्रणीत माना है। हर्षचरित के दूसरे अध्याय में आरभटी वृत्ति का उल्लेख किया है—

'रैणावावर्त्तमण्डली रेचकरासरसरभसारब्ध-
नर्त्तनारम्भारभटीनटाः'। (पेरा ४)

फिर तीसरे अध्याय के पेरा ५ में—जहाँ गान विद्या का उल्लेख है, लिखा है—'भरतमार्गभजनगुरुगीतं'। और नाट्यशास्त्र में आरभटी वृत्ति के विषय मे लिखा है—

'अतऊर्द्ध्वमुद्धतरसामारभटी संप्रवक्ष्यामि'।

—ना० शा० अ० २०।५४

तथा रेचक के विषय मे भी लिखा है—

'तत्रादिभ्रूविकाराश्च शृङ्गाराकारसूचकाः।
सग्रीवा रेचका ज्ञेयो हावश्चित्तसमुत्थितः'॥

—ना० शा० अ० २२।१०

इसके द्वारा विदित होता है कि छठी शताब्दी में बाणभट्ट ने भी नाट्यशास्त्र के मत का अनुसरण किया है। अच्छा अब देखिये, बाण के पूर्ववर्ती महाकवि कालिदास भरत के विषय में क्या उल्लेख करते हैं—

'मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयः प्रयुक्तः ।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः स लोकपालः ॥'

—विक्रमोर्वशीय २।१८

इसमें भरत मुनि, नाट्याचार्य कहे गये हैं एवं उनके नाटक का प्रयोग अप्सराओं द्वारा किये जाने का उल्लेख है। और नाट्यशास्त्र में नाटकीय आठ रसों का उल्लेख है, उसी के अनुसार इसमें आठ रसाश्रय ही नाटक कहा गया है। अप्सराओं द्वारा नाटक का प्रयोग किये जाने का उल्लेख भी नाट्यशास्त्र में है।

'प्रयोगान् कारिकाश्चैव निरुक्तानि तथैव च ।
अप्सरोभिरिदं सार्धं क्रीडनीयैकहेतुकम्' ॥

—ना० शा० ३७।१९

कालिदास के काल-निर्णय में बड़े-बड़े दिग्गज विद्वानों द्वारा अत्यन्त गवेषणा की जाने पर भी अद्यापि सफलता प्राप्त नहीं हो सकी है। किन्तु इनकी अन्तिम सीमा ईसा की पञ्चम शताब्दी के पश्चात् किसी भी इतिहासज्ञ विद्वान् द्वारा नहीं मानी गई है। इस पर प्रायः सभी इतिहासज्ञ विद्वान् एकमत हैं। किन्तु इनकी पूर्व सीमा के विषय में केवल यही कहा जा सकता है कि ये महाकवि भास के परवर्ती हैं, क्योंकि इन्होंने अपने मालविकाग्निमित्र नाटक में भास का नामोल्लेख किया है—

'मा तावद् । प्रथितयशसां भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धान् अतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं परिषदो बहुमानः' ।

—प्रथमाङ्क

भास का समय यदि सम्राट् चन्द्रगुप्त के समकालीन माना जाय, जैसा कि हमने अपने हिन्दी-मेघदूत-विमर्श की भूमिका में (पृ० ६१–१०७ तक) विवेचन किया है, ईसवी सन् के तीन शताब्दी पूर्व, तो कालिदास की पूर्व और उत्तर सीमा में लगभग आठ शताब्दियों का एक बड़ा लम्बा अन्तर है। किन्तु जहाँ तक हमारी धारणा है, कालिदास के मालविकाग्निमित्र और रघुवंशादि की रचना में अग्निमित्र और उसके पिता पुष्यमित्र के चरित्रों का स्पष्ट प्रतिबिम्ब प्रतीत होता

है, अतएव इनका स्थिति-काल शुङ्गवंशीय अग्निमित्र के राज्यकाल मे होना संभव है, जिसका समय ईसवी सन् के प्रारम्भ के लगभग है[1]।

यहाँ तक नाट्यशास्त्र के विषय में उपलब्ध बाह्य प्रमाणो का उल्लेख किया गया है। अब हम इन बाह्य प्रमाणो के आधार पर अन्य विद्वानों के मत जो नाट्यशास्त्र के समय-निर्णय पर पहिले (पृ० ३६, ४० में) प्रदर्शित किये है, उनमें सबसे प्रथम हम नाट्यशास्त्र की अन्तिम सीमा जिसे श्री काणे ने कालिदास के समय पर निर्भर रक्खा है, उस पर विचार करते हैं। संभवतः उन्होंने विक्रमोर्वशीय नाटक मे जो भरत का नामोल्लेख है, (जैसा कि पहिले दिखाया गया है) उसी पर यह मत स्थिर किया है कि भरतमुनि कालिदास के पूर्ववर्ती हैं। किन्तु जहाँ तक ध्यान देकर देखा जाता है नाट्यशास्त्र की अन्तिम सीमा कालिदास के अधिकाधिक पूर्व जा सकती है। कालिदास के पूर्व भास नामक प्रसिद्ध कवि—जिनके विषय मे अभी कहा गया है, उनके बहुत से नाटक अब सौभाग्यवश प्रकाशित हो गये हैं। उन नाटकों की रचना में भी नाट्य-विषयक नियमों का उसी प्रकार पालन किया गया है, जैसा कि उनके परवर्ती कालिदास, भवभूति आदि के नाटको में भरतमतानुसार दृष्टिगत होता है। इस बात को श्री एस. के. दे बाबू भी स्वीकार करते हैं। इस परिस्थिति में ध्यान देने योग्य बात यह है कि भास, सौमिल्ल आदि ने जो नाटक-रचना की, वह किस नाट्य-पथ-प्रदर्शक ग्रन्थ के आधार पर की? अतएव यह अवश्य ही स्वीकार करना होगा कि भास आदि के प्रथम नाट्य-नियम विषयक कोई ग्रन्थ अवश्य था, क्या कारण है कि वह ग्रन्थ हम उपलब्ध प्राचीनतम नाट्यशास्त्र के सिवा अन्यतम कल्पना करें, जब कि तत्कालीन किसी अन्य ग्रन्थ का पता ही नहीं चलता है। फिर नाट्यशास्त्र की अंतिम सीमा कम से कम भास से भी प्राचीनतम न मान कर कालिदास तक ही क्यो माने। भास का समय उसकी वासवदत्ता नाटिका की भूमिका में श्री गणपति

---

[1] इस विषय पर हमने अपने हिन्दी मेघदूत विमर्श पेज ९१ से १०७ तक विस्तृत विवेचन किया है।

शास्त्री ने ईसवी सन् के पूर्व आठवीं शताब्दी के श्री पाणिनि के भी प्रथम स्थिर किया है, किन्तु वह भ्रमात्मक है, संभवतः भास का समय ई० सन् के पूर्व तीसरी या चौथी शताब्दी के लगभग सम्राट् चन्द्रगुप्त के राज्यकाल में प्रतीत होता है, जैसा कि पहिले कह चुके हैं। अतएव श्री काणे की निर्धारित अंतिम सीमा भ्रांत सिद्ध होती है। और इसके साथ ही श्री एस. के. दे बाबू की कल्पना भी, क्योंकि वह भी ऐसी ही निर्मूल युक्तियो पर अवलम्बित है। एस. के. दे बाबू अभिनव-गुप्ताचार्य द्वारा नाट्यशास्त्र की टीका अभिनव-भारती और दामोदर गुप्त के द्वारा किये गये उपर्युक्त उल्लेख और नाट्यशास्त्र में गद्य, कारिका, एवं सूत्र तीन अंश होने के आधार पर नाट्यशास्त्र का वर्त्तमान रूप ईसवी की आठवीं शताब्दी के पूर्व का अनुमान करते हैं, किन्तु इन आधारों के द्वारा यह किस प्रकार सिद्ध हो सकता है कि ईसवी की आठवीं शताब्दी के कुछ पूर्व ही नाट्यशास्त्र का वर्त्तमान रूप हुआ ? और इसके अत्यंन्त प्राचीनतम महाभारत आदि के पूर्व नहीं। एस. के. दे बाबू कहते हैं "गद्य, सूत्र, भाष्य-शैली और सक्रम-कारिका यह चार अंश जो भरत नाटयशास्त्र में है यह एक कालिक न होकर भरत की कृति इन परिवर्त्तनो द्वारा इस वर्त्तमान रूप में है" और वे यह भी कहते हैं "यद्यपि यह शैली दशमी शताब्दी के एक लेखक द्वारा लिखे गये काव्यप्रकाश आदि ग्रन्थों में उपलब्ध है, पर भरत नाट्यशास्त्र पर यह नियम लागू नही हो सकता"। कहिये तो इस कल्पना की उड़ान का भी कुछ ठिकाना है ? प्रश्न होता है कि दशमी शताब्दी के एक लेखक के लिखे हुए ग्रन्थ में उपलब्ध शैली नाट्यशास्त्र के विषय में क्यो नहीं लागू हो सकती ? जब कि हमको काव्यप्रकाश आदि के भी बहुत पूर्व के लेखक द्वारा लिखे गये कौटिल्य के अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों में भी यही शैली दृष्टिगत होती है ? और देखिये, भवभूति के उत्तररामचरित का अव-तरण जो ऊपर उद्धृत किया गया है, उस पर एस. के. दे बाबू यह एक अभूत-पूर्व कल्पना करते हैं कि 'भवभूति के समय में पौराणिक भरत और नृत्य-संगीत विषयक सूत्र-ग्रन्थ के लेखक भरत एक ही समझे जाने लगे थे'। किन्तु आश्चर्य यह है कि पौराणिक भरत को और नाटयशास्त्र के लेखक भरत को उन्होने किस

आधार पर भिन्न-भिन्न कल्पना कर लिया ? किन्तु इस विषय मे दे बाबू मौन हैं। अतएव उनकी इस निर्मूल कल्पना का उद्देश्य सिवा इसके और क्या हो सकता है कि भवभूति के उल्लेख द्वारा भरतमुनि प्राचीनतम सिद्ध होते हैं और दे बाबू को ऐसा अभीष्ट नही।

ऊपर जो विवेचन किया गया है, उसका यह अर्थ नही है कि नाट्यशास्त्र की अन्तिम सीमा भास तक निर्धारित हो चुकी, किन्तु कहने का तात्पर्य यह है कि नाट्यशास्त्र की अन्तिम सीमा भास तक तो पहुँच जाती है, जब कि भास के पूर्व-कालीन काव्य और नाटक अनुपलब्ध हैं।

अच्छा, यह तो हुई उत्तर सीमा की बात, अब नाट्यशास्त्र की पूर्व सीमा अर्थात् यह ग्रन्थ अमुक निर्दिष्ट काल के प्रथम का नही, इसके लिये कोई दृढ़ साधन नही। उल्लिखित विद्वान् लेखको ने जो सम्भावना की है वह नितान्त निराधार है। एस. के. दे बाबू नाट्यशास्त्र मे 'यवन' आदि शब्दों के आधार पर ही इसकी पूर्व सीमा ईसवी सन् के प्रारम्भ से पूर्व नही मानते, किन्तु 'यवन' शब्द के प्रयोग के विषय मे—जैसा कि हम आगे महाभारत के प्रसंग में स्पष्ट करेंगे, ऐसी धारणा किया जाना सर्वथा भ्रमात्मक है। खेद है कि वस्तुतः सभी विद्वान् ऐतिहासिक लेखकों ने केवल उत्तर सीमा के ही आधार पर—उससे कुछ समय पूर्व एक या दो शताब्दी पीछे हटा कर नाट्यशात्र के समय की कल्पना की है, किन्तु यह कल्पना ठीक उसी प्रकार की है, जैसे हम चन्द्रलोक जाने के इच्छुक होकर वायुयान (Aeroplane) मे बैठकर आकाश की ओर उर्द्धगामी हों और १० माइल के लगभग ऊपर—जहा तक उसकी गति न रुके, जाकर आगे जाना अगम्य हो जाने पर यह धारणा कर ले कि 'यहाँ तक तो निश्चय रूप से चन्द्रलोक नही है, पर संभवतः यहा से दो चार माइल ऊपर अवश्य होगा' कहिये तो ऐसी कल्पनाओ का क्या मूल्य हो सकता है, जब कि इन कल्पनाओ के विरुद्ध श्री भरत मुनि को अत्यन्त प्राचीनतम स्वीकार करने को उपर्युक्त उद्धरण ही हम को आकर्षित करते हैं।

उपर्युक्त उद्धरणों मे कालिदासादि के नाटको में श्री भरत मुनि का ब्रह्मादि

देवों के साथ साक्षात्सम्बन्ध और महर्षि वाल्मीकि आदि के समकालीन होना उल्लिखित है। यद्यपि नाटकों के वाक्य एक बार ही सत्य नहीं-कल्पित होना भी सम्भव है, किन्तु यह तो स्वीकार करना ही होगा कि ऐसी धारणाओं की कल्पना किसी भी लेखक द्वारा क्या अपने से १००० या ५०० वर्ष के पूर्ववर्ती व्यक्ति के विषय में की जा सकती है? वैदिक और पौराणिक महर्षियों के सिवा क्या आज तक किसी अन्य ग्रन्थ-लेखक के विषय में ऐसी कल्पनाएँ किसी लेखक द्वारा की गई हैं? क्या हम भी अब से १००० या ५०० वर्ष पूर्व के किसी व्यक्ति के विषय में ऐसी धारणा कर सकते हैं? अतएव क्या यह संभव है कि कालिदास द्वारा उसके १००० या ५०० वर्ष पूर्व के व्यक्ति के विषय में ऐसी धारणा का उल्लेख किया जा सकता था? किसी भी ग्रन्थ का निश्चयात्मक समय तो तभी कहा जा सकता है, जब उसमें उसके पूर्वकालीन किसी ग्रन्थ का नामोल्लेख हो, जिसका समय निश्चित हो गया है। पर जब कि नाट्यशास्त्र में किसी निश्चयात्मक समय के ग्रन्थ का नामोल्लेख ही नहीं है, और जब कि उसकी पूर्व सीमा अत्यन्त प्राचीनतम-अज्ञात काल स्वीकार करने के विरुद्ध हमारे पास कोई प्रमाण भी नहीं है तो हम किस आधार पर उसे इतने अर्वाचीन काल में घसीट कर ला सकते हैं? इस प्रकार की कल्पना का आधार केवल, पश्चिमीय विद्वानों की अनर्गल लेखनी से निकले हुए निराधार उद्गार मात्र हैं, और उन्हीं के गतानुगतिक होकर गड्डुरिका प्रवाह न्याय से हमारे एतद्देशीय विद्वान् भी उन्हीं उद्गारों को अपनी लेखनी से प्रवाहित कर रहे हैं। किन्तु ऐसे निर्बल और अप्रामाणिक कल्पनाओं के आधार पर निर्मित विशाल अट्टालिका क्या स्थिर रह सकती है? अस्तु।

यहाँ तक नाट्यशास्त्र विषयक बाह्य प्रमाणों पर विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त यदि नाट्यशास्त्र में वर्णित साहित्यिक विषय पर ध्यान दिया जाय तो, प्रत्यक्ष ज्ञात होता है कि अलङ्कार शास्त्र के प्राचीन लेखक हमारे परिचित भट्टि, भामह, दण्डी और उद्भट आदि जब कि ३८ से ५० तक अलङ्कारों का निरूपण करते हैं, तब नाट्यशास्त्र में केवल उपमा, रूपक, दीपक और यमक यही चार अलङ्कार हैं—जो कि विकास-क्रम का सर्वप्रथम रूप है। भामह सबसे पहिले इन्हीं चारों

को प्रथम वर्ग में दिखलाता है। यद्यपि भामह ने प्रथम वर्ग में पाँचवाँ अनुप्रास भी रक्खा है, पर यमक और अनुप्रास एक ही कक्षा के हैं, अतः भामह ने भी 'अनुप्रासः स यमको' यही कहा है। यदि नाट्यशास्त्र का वर्तमाम रूप ई० ८०० शताब्दी के लगभग होता—जैसा कि दे बाबू की कल्पना है, तो फिर यह क्या संभव था कि अन्य विषयों के परिवर्द्धन के साथ साथ अलङ्कार विषय का परिवर्द्धन न किया जाता? यदि किसी लेखक द्वारा नाट्यशास्त्र का परिवर्द्धन किया जाना मान लिया जाय तो साथ ही यह भी स्वीकार किया जाना अनिवार्य होगा कि उसे अपने समय में प्रचलित काव्य और नाट्य के अन्य सभी विषयों का नाट्य-शास्त्र में समावेश करना अभीष्ट था। इस अवस्था में प्रश्न होता है कि अन्य विषयों के साथ अधिक अलङ्कारों का भी समावेश अवश्य ही किया जाता, पर ऐसा नहीं है। यह भी नहीं कि ८ वीं शताब्दी तक अधिक अलङ्कारों का निरूपण न होने पाया था, क्योंकि ८ वी शताब्दी के पूर्व के भट्टि, भामह और दण्डी आदि के ग्रन्थो में ४० से ५० तक अलङ्कारों का निरूपण है। दूसरी बात यह भी है कि यदि नाट्यशास्त्र का ८ वीं शताब्दी में परिवर्द्धित किया जाना माना जाय तो उसके लिये किसी अन्य ग्रन्थ का आदर्श भी होना आवश्यक है, किन्तु दे बाबू नही बतला सके हैं कि अमुक ग्रन्थो के आधार पर नाट्य-शास्त्र परिवर्द्धित किया गया है। ऐसी परिस्थिति मे नाट्य-शास्त्र के अन्तरङ्ग प्रमाणों द्वारा भी इसकी पूर्व सीमा का समय निर्णय और इसके वर्त्तमान रूप को किसी द्वारा परिवर्द्धित किया जाना कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। अतएव निर्विवाद सिद्ध है कि वैदिक काल के बाद और पौराणिक काल के पूर्व नाट्यशास्त्र का अज्ञात समय है।

पौराणिक काल।

'पुराण' शब्द का प्रयोग वेद की श्रुतियों में भी है—

"ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं
चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्।"

यह श्रुति छान्दोग्योपनिषद् (अध्याय ७ खण्ड १, २) की है। ब्रह्मविद्या

के उपदेश लेने को गये हुए देवर्षि नारदजी से यह प्रश्न करने पर कि तुम्हारा अध्ययन इस विषय में कहाँ तक है, भगवान् सनत्कुमार के प्रति यह नारदजी की उक्ति है। इसमे ऋग्वेदादि के साथ इतिहास पुराण का पञ्चम वेद की संज्ञा से उल्लेख है। इसके द्वारा स्पष्ट है कि 'पुराण' का समय वैदिक काल के समकालीन है। यहा काल विभाग के प्रसङ्ग में 'पौराणिक काल' से हमारा प्रयाजन भगवान् श्री वेदव्यास-प्रणीत महाभारत और अष्टादश महापुराणों के रचना काल से है।

महाभारत

'व्यासगिरां निर्यासं सारं विश्वस्य भारतं वन्दे।
भूषणतयैव संज्ञां यदङ्कितां भारती वहति॥

पौराणिक काल में सबसे प्रथम प्रायः सभी महाकाव्य और नाटकों का उद्गम स्थान परमोत्कृष्ट महाकाव्य महाभारत उपलब्ध होता है। महाभारत के विषय में महाभारत ही में कहा है—

'धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्कचित्' ॥

भारतीय साहित्य में वेदो के पश्चात् प्राचीन सर्वमान्य ग्रन्थों में महाभारत का सर्वोच्च स्थान है। क्या धार्मिक, क्या राजनैतिक, क्या व्यावहारिक, क्या ऐतिहासिक, क्या भू-गौलिक और क्या काव्य भारतवर्षीय सम्पूर्ण साहित्य प्रायः महाभारत पर अवलम्बित है। इस ग्रन्थरत्न के महत्व पर केवल भारतवर्षीय ही नही, किन्तु सुप्रसिद्ध अनेक पाश्चात्य विद्वान मि० हापकिन्स,[1] विंटरनीज,[2] मेकडोनल,[3]

1. Cambridge History of India, Vol 1 p. 256.
2. "The Mahabharat is not ONE poetic production at all, but rather a whole literature"--Winternitz History of Indian Literature, Vol 1, p 316 " . (Mahabharat) the most remarkable of literary productions " Ibid p 321
3. "..... the Mahabharat. ...,constitutes a moral encyclopaedia, in an inexhaustible mine of Proverbial Philosophy."
---Macdonell : Sanskrit Literature, p. 378.

आनरेबिल माउंट स्टुवर्ट एलफिन्स्टन,[1] सिलविनलेवी[2], प्रोफेसर हिरीन[3] और मोनियर विलियम्स[4] आदि भी मुग्ध हैं।

महाभारत ऐतिहासिक ग्रन्थ तो प्रसिद्ध है ही, किन्तु इतिहास के साथ-साथ जिस प्रकार धार्मिक, नैतिक और व्यावहारिक आदि विषयों का इसमें समावेश है, उसी प्रकार काव्य-दृष्टि से इसे देखा जाय तो यह अनेक महा-काव्य लौर नाटकों का भी उद्गम स्थान है। यद्यपि काव्य संज्ञा से यह नही पुकारा जाता है, किन्तु महाभारत को स्वयं भगवान् श्री वेदव्यास और परमेष्ठि ब्रह्माजी द्वारा 'काव्य' संज्ञा दा गई है, जैसा कि—

> 'उवाच स महातेजा ब्रह्माणं परमेष्ठिनम्।
> कृतं मयेदं भगवन् काव्यं परमपूजितम्' ॥ १।६१
> 'त्वया च काव्यमित्युक्तं तस्मात्काव्यं भविष्यति'। १।७२
>
> —महाभारत आदि पर्व।

इन वाक्यो से स्पष्ट है। महाभारत की काव्य-संज्ञा केवल नाम मात्र ही नही, किन्तु यह काव्य-शैलो की रचना से भी परिपूर्ण है[5]। सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों ने

---

1 "Milman and Schlegel vie with Wilson and Jones in their applause . we learn the simplicity and oringinality of composition, the sublimity, grace and pathos .the natural dignity of the actors "
--Mountstuart Elphinstone The History of India, p 170

2 "The Mahabharat is not only the largest, but also the grandest of all epics " P C Roy's Translation of Mahabharat

3 Historical Researches into Politics etc of the Principal Nations of the Antiquity Vol 11 ch. 1 p. 164.

4 " a Vast cyclopaedia or thesaurus of Hindu mithology, legendry, history, ethics and philosophy "
--Sir Monier Monier--Williams Indian Wisdom p 370

५ " abounds with the poetical beauties of the first order "
James Mill & H H. Wilson History of British India Vol. 11, ch 9, p, 52.

इसके अनेक पद्य रीति-ग्रन्थों में उदाहरण रूप में उद्धृत किये हैं। श्री आनन्द-वर्धनाचार्य ने शान्तिपर्व का—

'अतिक्रान्तसुखाः कालाः प्रत्युपस्थितदारुणाः।
श्वः श्वः पापीयदिवसा पृथिवी गतयौवना॥

यह पद्य ध्वन्यालोक (पृ० १५५) में अत्यन्त तिरस्कृत ध्वनि के उदाहरण में और—

'अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः'॥

—स्त्री पर्व अ० ६४

इस पद्य को ध्वन्यालोक (पृ० १६६) में रसों के विरोधाविरोध प्रकरण में उद्धृत किया है। और आचार्य मम्मट ने भी काव्यप्रकाश (उल्लास ५ पृ० २३३)[1] में इसे अपराङ्गगुणीभूत व्यङ्ग्य के उदाहरण में रक्खा है, और—

'अलंस्थित्वा श्मशानेऽस्मिन्'······

—शान्तिपर्व आपद्धर्म (३।१५३)

इत्यादि कुछ पद्य काव्यप्रकाश (उल्ला० ३।२ पृ० १६६) में प्रबन्धध्वनि के उदाहरण में दिया है। महाभारत में अलङ्कार-गर्भित रचना तो स्थल स्थल पर है, उसके अवतरण दिखाया जाना व्यर्थ विस्तार है। इसके अतिरिक्त किरातार्जुनीय, शिशुपालवध और नैषधीयचरित आदि अनेक महाकाव्य एवं शकुन्तला, वेणी-संहार आदि अनेक नाटकों का मूलस्रोत महाभारत ही है। इसके द्वारा सिद्ध है कि महाभारत स्वयं ही महाकाव्य नहीं, किन्तु अन्य अगणित महाकाव्यो और नाटकों का आधारभूत और उनके प्रणेता महान् साहित्याचार्य एवं महाकवियों के लिए आदर्श भी है। इस विषय में महाभारत में प्रथम ही उल्लेख किया गया है—

'इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः'। २।३७२
'इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते॥ २।३७६

—आदि पर्व

---

१ श्री वामनाचार्य टीका निर्णयसागर प्रेस द्वितीय संस्करण।

महाभारत पर एतद्देशीय और विदेशीय अनेक विद्वानो ने बहुत कुछ लिखा है। उन्होने इसके निर्माता और रचना-काल के विषय में भी आलोचनात्मक विवेचन किया है। उनमे यद्यपि परस्पर कुछ मतभेद अवश्य है, पर उन सभी लेखो का मूलस्रोत एक ही है—वे सभी लेख पाश्चात्य दृष्टि-कोण से ही लिखे गये हैं। उन लोगों का मत है कि भगवान् वेदव्यासजी-प्रणीत 'भारत' इतना बड़ा ग्रंथ नही था, बाद मे अन्य विद्वानो द्वारा यह परिवर्द्धित किया गया है[1]। केवल पाश्चात्य लेखको ने ही नहीं, किन्तु पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित होकर कुछ एतद्देशीय विद्वानों ने भी उन्ही का अनुसरण किया है[2]। सखेद आश्चर्य तो यह है कि राय बहादुर श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य, एम० ए०, एल-एल० बी०[3] जिनका महाभारत के आलोचको मे प्रधान स्थान है, पाश्चात्य लेखकों की आलोचना करते

---

1 Winternitz A History of IndianLiterature Vol 1 pp 318-320; 324-326, 459
Macdonell Sanskrit Literature p 284.
Weber History of Indian Literature p 187
Max Muller History of Ancient Sanskrit Literature pp. 43-47.
Mountstuart Elphinstone The History of India p 169.,
Vincent A Smith The Oxford History of India p 28.
Lionel D Barnett Antiquities of India p 11

2 B. S Dalal A History of India p. 276
Rameshchandra Dutt History of Civilisation in Ancient India Vol 1 p 155.
R C Majumdar Ancient Indian History p 266

३ श्री वैद्यजी ने 'महाभारत का उपसंहार' नामक एक महत्वपूर्ण आलोचनात्मक ग्रन्थ महाराष्ट्र भाषा मे लिखा है। उसका हिन्दी अनुवाद स्वर्गीय पं० श्री माधवराव सप्रे का किया हुआ भारतमींमांसा नामक ग्रन्थ लक्ष्मी नारायण प्रेस बनारस में मुद्रित हुआ है। और उन्होने अंग्रेजी में भी 'The Mahabharata: A Criticism' नामक ग्रन्थ महाभारत पर लिखा है, ये दोनों ही ग्रन्थ बड़े महत्वपूर्ण है।

हुए भी इस संक्रामक रोग से न बच सके, श्री वैद्य महाशय कहते हैं, कि—

"महाभारत ग्रन्थ मे करीब १ लाख श्लोक है। यह असंभव जान पड़ता है कि इतने बड़े ग्रन्थ की रचना एक ही मनुष्य ने की हो। व्यासजी के ग्रन्थ को वैशंपायन ने बढ़ाया और वैशंपायन के ग्रन्थ को सौति ने बढ़ा कर एक लाख श्लोको का कर दिया।"

—महाभारत-मीमांसा पृ० ५

श्री वैद्य जैसे महाभारत के अध्ययनशील इतिहासज्ञ विद्वान् की इस कल्पना पर बड़ा आश्चर्य होता है, जब कि वे यह भी कहते हैं कि—

"वैशंपायन द्वारा रचे गये ग्रन्थ मे २४००० श्लोक थे।............सौति ने एक लाख श्लोकों का महाभारत बना डाला"।

—महाभारत-मीमांसा पृ० ८।

इस अवतरण द्वारा स्पष्ट है कि आप २४००० से अधिक अर्थात् ७६००० श्लोक सौति द्वारा रचित मानते है। क्या ही विलक्षण कल्पना है, सौति जैसे एक व्यक्ति द्वारा ७६००० श्लोकों की रचना तो आप संभव स्वीकार करते हैं किन्तु भगवान् श्री वेदव्यासजी जैसे एक महानुभाव द्वारा १ लाख श्लोको की रचना असम्भव बतलाते हैं।

अस्तु, व्यासजी जैसे त्रिकालज्ञ महानुभावो की तो बात ही क्या है जब कि विक्रम की १८ वी शताब्दी के सुप्रसिद्ध आचार्य पाद गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमलालजी प्रणीत ६ लक्ष श्लोक सख्या के संस्कृत ग्रन्थ यद्यपि उक्त सम्प्रदाय के वर्तमान आचार्यों के समीप सुरक्षित हैं[1]। भक्तकवि श्री सूरदासजी, एवं महाराष्ट्र महाकवि मोरोपन्त आदि के ग्रन्थ भी अनुष्टुप् श्लोको की एक लक्ष की संख्या तक उपलब्ध हैं। यही नहीं, विक्रम की वर्तमान शताब्दी के ही एक लेखक बूँदी-राज्याश्रित महाकवि मिश्रण सूर्यमलजी चारण-प्रणीत एक लक्षात्मक 'वंशभास्कर' ग्रन्थ संस्कृत

---

१ देखो गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमजी प्रणीत अवतार वादावली की भूमिका पृ० ४।

प्राकृत, शौरसेनी, मागधी और ब्रजभाषा का मुद्रित हुआ है। श्री वैद्य अपनी इस कल्पना की पुष्टि मे कहते हैं—

"इसके प्रमाण मे सौति का यह वचन है कि—

'एकं शतसहस्रं च मयोक्तं वै निबोधत'।

अर्थात् एक लाख श्लोको का महाभारत मैंने कहा है। इससे स्पष्ट है"

—महा-मी० पृ० ५।

किन्तु इस श्लोकार्द्ध में प्रयुक्त जिस 'मयोक्तं' के आधार पर यह कल्पना की गई है, वह सर्वथा भ्रान्त है—इसके द्वारा श्री वैद्य की कल्पना की पुष्टि किसी प्रकार नही हो सकती, क्योकि इस पद्यार्द्ध के प्रथम—

'षष्टि शतसहस्राणि चकारान्यां स संहिताम्।
त्रिशच्छतसहस्रञ्च देवलोके प्रतिष्ठितम्॥
पित्र्ये पञ्चदशप्रोक्तं गन्धर्वेषु चतुर्दश।
एकं शतसहस्रं तु मनुष्येषु प्रतिष्ठितम्॥
नारदो श्रावयेद्देवानसितो देवलः पितॄन्।
गन्धर्वयक्षरक्षांसि श्रावयामास वै शुकः॥
अस्मिन्तु मानुषे लोके वैशंपायन उक्तवान्।
शिष्यो व्यासस्य धर्मात्मा सर्ववेदविदांवरः॥
एकं शतसहस्रं तु मयोक्तं वै निबोधत।

—महाभारत आदिपर्व १।१०३-१०७।

यह उल्लेख है। इस अवतरण के अन्तिम पद्यार्थ में प्रयुक्त 'एकं शतसहस्रं' का (एक लाख का) सम्बन्ध वैशंपायन ऋषि और भगवान् वेदव्यासजी के साथ भी उसी प्रकार है, जिस प्रकार 'मयोक्तं' के प्रयोग द्वारा सौति के साथ है। अर्थात् 'वेदव्यासजी ने ६० लाख श्लोको के महाभारत की रचना की, जिसमें ५९ लाख श्लोकात्मक ग्रंथ देवलोक आदि में श्री नारद आदि वक्ताओ के द्वारा कहा गया और शेष एक लाख श्लोकात्मक ग्रंथ मनुष्यलोक में वैशंपायन ऋषि ने राजा जन-

मेजय को कहा; वह एक लाख श्लोकों का महाभारत मेरा कहा हुआ आप सुनें"[1] खेद है, श्री वैद्य ने 'मयोक्त' के प्रथम जो पाठ ऊपर उद्धृत है, उस पर क्यों नहीं ध्यान दिया ? अथवा ध्यान देकर भी दुराग्रहवश ऐसा उल्लेख क्यों किया ?

अनेक भ्रमात्मक कल्पनाओं के जाल में फँस कर विभिन्न लेखकों ने महाभारत में वर्णित बहुत से कथा-प्रसङ्गों को कालक्रम से अन्य विद्वानों द्वारा बढ़ाया जाना बतलाया है[2]। मि० वेबर ने तो यह कहा है कि पाण्डवों का चरित भी कल्पित है और महाभारत में पीछे से जोड़ा गया है[3]। श्री रमेशचन्द्र दत्त ने पाण्डवों का भारतीय युद्ध भी काल्पनिक बतलाया है[4]। सर मोनियर विलियम्स ने तो यहाँ तक कहा है कि श्रीमद्भगवत्गीता भी—प्रक्षिप्त—पीछे से जोड़ी गई है।[5] और मि० विंसेन्ट ए० स्मिथ ने केवल गीता ही नहीं महाभारत के सभी कथा-भाग को काल्पनिक बतलाने का दुस्साहस किया है[6]। किन्तु मि० वेबर आदि की इन कल्पनाओं को प्रोफेसर ई० वासबोर्न हापकिन्स (Hopkins) ने भी अनाधार बतलाया है[7]। यही नहीं मि० जे० डालमेन[8] (J. Dahl-

---

१. 'मयोक्तं' का अर्थ नीलकण्ठी टीका में—'मया उच्यमानं वैशंपायनेन उक्तं निबोधत अर्थतो बुध्यस्व' किया गया है। जिसका भाव यह है कि मेरे द्वारा कहे जाने वाला, वैशंपायन द्वारा कहा हुआ आप समझिये।

2. Winternitz A History of Indian Literature Vol 1. p. 459.
   Mountstuart Elphinstone The History of India p. 169
   Lionel D Barnett Antiquities of India p 11.
   Ramesh Chandra Majumdar Outline of Ancient Indian History and Civilization, p. 266.
3. Weber History of Indian Literature p. 136.
4. Ramesh Chandra Dutt History of Civilization in Ancient India, Vol 1, p. 122
5. Sir Monier Monier-Williams Indian Wisdom p. 317.
6. Vincent A. Smith The Oxford History of India pp. 29, 31.
7. Cambridge History of India, Vol. 1. p. 253.
8. J. Dahlmann : Das Mahabharata Als Epos Und Rechtsbach.

mann), मि० ओल्डनबर्ग[1] और मि० सिलवियन लेवी[2] आदि, जो कि महाभारत के अत्यन्त अध्ययनशील प्रसिद्ध विद्वान् हैं, महाभारत को एक ही लेखक का निर्मित दृढ़ता के साथ स्वीकार करते हैं। किन्तु मि० विन्टरनीज ने इनके मत को केवल यही कह कर अस्वीकार कर दिया है कि श्री वैद्य इस मत के विरुद्ध है जो कि एक भारतीय विद्वान् हैं[3]। वैद्यजी ने यद्यपि मि० वेबर आदि की बहुत सी अनाधार कल्पनाओं का मार्मिक खण्डन किया है, तथापि वे भी सौति द्वारा महाभारत का परिवर्द्धित किया जाना तो अवश्य कल्पना करते है, और इस अनाधार कल्पना को पुष्ट करने के लिये उन्होंने आदिपर्व के प्रथमाध्याय में धृतराष्ट्रोक्त—'यदाश्रौषं' पदयुक्त जो ६७ श्लोक प्राचीन वैदिक शैली के त्रिष्टुप् छन्दो मे हैं, और जिनमे ऐसे बहुत से प्रसङ्ग वर्णित हैं, जिनके द्वारा यह कल्पना स्पष्ट निर्मूल सिद्ध हो जाती है, उन ६७ श्लोकों को भी सौति द्वारा जोड़ा हुआ बताते हैं[४]। महाभारत के बहुत से कथा प्रसङ्गों के साथ-साथ आपने भगवान् श्रीकृष्ण का हस्तिनापुर मे विराट् रूप दिखाना भी सौति का कल्पित अनुमान किया है,[५] किन्तु आश्चर्य यह है कि भीष्मपर्वान्तर्गत श्री भगवद्गीता मे वर्णित विराट् रूप का दिखाया जाना आप श्री व्यासजी द्वारा उल्लिखित स्वीकार करते है,[६] जब कि दोनों वर्णनों में अभूतपूर्वता एक ही समान है। अस्तु।

अत्र द्रष्टव्य यह है कि वैद्यजी ने जो यह कल्पनाएँ कीं, उनके लिये आपके पास प्रमाण क्या हैं। श्री वैद्य स्वयं स्पष्ट कहते हैं—

"व्यासजी के मूल ग्रन्थ और वैशंपायन के भारत में बहुत अंतर न होगा।

---

1 Oldenberg. Das Mahabharata
2 Bhandarkar Com Vol pp, 99, Annals of Bhandarkar Institute, Vol 1, Part 1 13 ff.
3 Winternitz History of Indian Literature Vol. 1 p 459 f n, 1
४ महाभारत मीमांसा पृ० ८२, ८३, ८७, ८५, ७६, ५५, ५५९, ५६०, ५६५।
५ महाभारत मीमांसा पृ० १२
६ महाभारत मीमांसा पृ० ३०

परंतु भारत में २४००० श्लोक थे और महाभारत मे एक लाख श्लोक हो गये हैं। तब हमें मानना पड़ता है कि यह अधिक संख्या सौति की जोडी हुई है। परंतु ऐसा मानते हुए भी········कोई दृढ़ प्रमाण नहीं दिया जा सकता। इस विषय का विचार साधारण अनुभव से ही किया जा सकता है"।

—महा० मीमांसा पृ० १७

बस, जिन वैद्यजी के मत के आधार पर मि० विन्टरनीज ने मि० डालमैन और मि० सिलवियन लेवी जैसे विद्वानो का मत अमान्य समझा है, उन श्री वैद्यजी द्वारा महाभारत जैसे आर्ष-ग्रन्थ का ३/४ भाग सौति द्वारा परिवर्द्धित बतलाने का भयंकर दुस्साहस करने का केवल उनका अनुमान मात्र आधार है। किन्तु वैद्यजी ने २४००० श्लोको की रचना मात्र श्री व्यासजी की जिस आधार पर कल्पना की है, उसका महाभारत में इस प्रकार उल्लेख है—

'चतुर्विंशति साहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्।
उपाख्यानैर्विना तावद्भारतं प्रोच्यते बुधैः॥"

—आदि पर्व १।१०२

ध्यान देने योग्य बात है कि इसमें २४००० श्लोको की संख्या उपाख्यानों के कथाविभाग के बिना स्पष्ट कही गई है। फिर एक बात यह भी है कि यदि सौति को अपने निर्मित ७६००० श्लोकों को श्री व्यासजी की कृति बतलाना ही अभीष्ट होता तो वह २४००० संख्या का उल्लेख ही क्यों करता। अतएव श्री वैद्य महाशय की यह कल्पना सर्वथा निर्मूल है।

महाभारत का निर्माण-काल

महाभारत के निर्माण-काल के विषय में भी विभिन्न लेखकों ने अनेक निर्मूल कल्पनाएँ की हैं। मि० हापकिन्स[१], विन्टरनीज[२], मेकडानल[३], विन्सेन्ट स्मिथ[४],

1. Cambridge History of India, Vol 1, p. 258.
2. Winternitz : History of Indian Literature, Vol. 1. p. 465
3. Macdonell Sanskrit Literature, p. 285-287.
4. Vincent A Smith · Oxford History of India, p. 23

और मि० मौनयर विलियम्स[1] आदि पाश्चात्य विद्वानो के भी भिन्न भिन्न मत हैं। उन्होंने महाभारत का निर्माण-काल ईसवी सन् के पूर्व ५०० वर्ष से ईसवी सन् के पश्चात् चौथी शताब्दी तक कल्पना किया है। किन्तु इनके मतों के विरुद्ध अनेक युक्तियाँ दिखला कर श्री वैद्य महाशय ने इनकी कल्पनाओं का पर्याप्त खण्डन कर दिया है। श्री वैद्यजी ने महाभारत के निर्माण-काल को दो भागों में विभक्त करते हुए, एक काल में—भारतीय युद्ध के बाद श्री वेदव्यासजी द्वारा भारत का निर्माण किया जाना बताया है, और वेदव्यासजी का समय श्री वैद्य भारतीय युद्ध के समय ईसवी सन् के ३१०१ वर्ष पूर्व स्वीकार करते हैं और मूल भारत का निर्माण-काल भी वे ईसवी सन् के ३००० वर्ष पूर्व स्वीकार करते हैं। किन्तु वर्त्तमान उपलब्ध महाभारत को श्रीवैद्य ईसवी सन् के पूर्व २०० से ४०० वर्ष तक सौति द्वारा परिवर्द्धित मानते हैं[2]। इन कल्पनाओं का यदि कोई अकाट्य प्रमाण प्रदर्शित किया जाता तो हमको स्वीकार करने में कोई आपत्ति न थी, पर पश्चात्य विद्वानों के जिन भ्रान्त आधारों पर यह मत स्थिर किया गया है, उनमें प्रधानतया उल्लेखनीय ये हैं—

(१) मेगस्थिनीज नामक ग्रीक विद्वान् सम्राट चन्द्रगुप्त के समय ईसवी सन् के ३०० वर्ष पूर्व भारतवर्ष में आया था, उसने अपनी 'इंडिका' नामक पुस्तक मे महाभारत विषयक उल्लेख नही किया, जब कि उसने भारतवर्ष विषयक अपनी ज्ञात की हुई बहुत सी बातों का उल्लेख किया है अतः मि० वेबर[3] और श्रीवैद्य की कल्पना है कि उस समय एक लक्षात्मक महाभारत न होगा[4]।

(२) डायोन क्रायसोस्टम यूनानी विद्वान् ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी में दक्षिण भारत के पाण्ड्य, केरल आदि भागों में आया था, उसने हिन्दुस्तान में एक लाख श्लोकों के इलियड (महाकाव्य) का उल्लेख किया है। अतः श्री वैद्य

---

1 C V Vaidya , The Mahabharata A Criticism

2 C V Vaidya . The Mahabharata A Criticism
महाभारत मीमांसा पृ० १४०, १५२।

3 Weber History of Indian Literature, p, 186

४. महाभारत मीमांसा पृ० ४४।

का मत है कि ईसवी सन् के २५० वर्ष पूर्व महाभारत तैयार होकर ईसवी सन् ५० में डायोन क्रायसोस्टम के दृष्टिगत हुआ होगा[१]।

(३) महाभारत में 'यवन' शब्द का उल्लेख है, इसपर मि० वेबर कहते हैं कि महाभारत ईसवी सन् के कई शताब्दियों बाद का है[२]। श्री वैद्य कहते हैं कि 'यवन' शब्द का प्रयोग संभवतः सिकन्दर के लिये है अतः महाभारत की पूर्व-सीमा ईसवी सन् के पूर्व ३००० वर्ष से अधिक पहिले की नहीं[3]।

(४) महाभारत में छन्दों का प्रयोग।

अच्छा, अब विचारणीय यह है कि उपर्युक्त प्रमाणों पर इस मत की कहाँ तक पुष्टि होती है, देखिए—

(१) मेगस्थिनीज के ग्रन्थ के विषय मे स्वयं श्री वैद्य स्वीकार करते हैं कि—"वह ग्रन्थ नष्ट-भ्रष्ट हो गया है—सम्पूर्ण नहीं मिलता"[४]। ऐसी स्थिति में इसका मूल्य ही क्या हो सकता है ? संभव है, जो अंश अनुपलब्ध है, उसमे महाभारत का उल्लेख हो। स्वयं वैद्य महाशय इस प्रमाण को निर्बल स्वीकार करते है[५]।

(२) क्रायसोस्टम द्वारा महाभारत का सर्वप्रथम उल्लेख किया जाना तभी माना जा सकता था, जब कि मेगस्थिनीज विषयक प्रथम प्रमाण पर्याप्त समझा जाता। इसलिये महाभारत की पूर्व सीमा के लिये वह उपयुक्त नही हो सकता।

(३) 'यवन' शब्द के प्रयोग से सिकन्दर का ही सम्बन्ध-स्थापन कर लेना यह तो

---

१. **महाभारत मीमांसा पृ० ४४;** Weber . History of Indian Literature, p. 186 ·

2 Weber History of Indian Literature, p. 188.

३. **महाभारत मीमांसा पृ० ४५।**

4. C. V. vaidya The Mahabharata : A Criticism., p. 13.

५. **महाभारत मीमांसा पृ० ४४।**

बहुत ही अविश्वसनीय कल्पना है, जब कि भारतवर्ष का यूनानियो से परिचय ईसवी सन् के ८००-६०० वर्ष पूर्व से होना श्री वैद्य भी स्वीकार करते हैं[1]। और वह भी यूनानियों के परिचय की उत्तर सीमा ही समझी जा सकती है, क्योंकि इसके प्रथम का इतिहास ही उपलब्ध नहीं है। जो कुछ हो, प्रथम तो यही सन्देहास्पद है कि महाभारत में प्रयुक्त 'यवन' शब्द से हम यूनानियों का अर्थ ही ग्रहण करें इसमें प्रमाण ही क्या? फिर ईसवी सन् के ६०० वर्ष पूर्व के प्रथम किसी यवन जाति से भारतवर्ष परिचित न था इसका भी क्या प्रमाण? क्या किसी भी देश के प्राचीन इतिहास से यह सिद्ध हो सकता है? प्रत्युत इस कल्पना के विरुद्ध महाभारत में ही यह अन्तःप्रमाण मिलता है कि 'जिस यवन-राज को वीर्यवान् पाण्डुराज भी परास्त नहीं सका था, उसे अर्जुन ने वश कर लिया—

'न शशाक वशेकर्तुं यं पाण्डुरपि वीर्यवान्।
सोऽर्जुनेन वशन्नीतो राजासीद्यवनाधिपः'॥

—आदिपर्व १३९।२०, २१।

इसके द्वारा सिद्ध है कि महाभारत के रचना-काल में ही नहीं किन्तु उसके भी प्रथम यवनों से परिचय मात्र ही नहीं उसके साथ युद्ध किये जाने का भी महाभारत में उल्लेख है। भारत का युद्ध-काल वैद्य ने ईसवी सन् ३१०१ वर्ष पूर्व स्वीकार किया है। संभव है इस अवतरण के उल्लेख को सौति द्वारा कल्पित कहने का साहस न किया जायगा, क्योकि न तो इसमें धार्मिक प्रसङ्ग ही है और न कोई ऐसी अलौकिक घटना ही है, जिसे समावेश करना सौति ने महत्वपूर्ण समझा हो। इसमें अर्जुन के पराक्रम का दिग्दर्शन मात्र है, किन्तु महाभारत युद्ध-प्रसङ्गों में अर्जुन के अभूतपूर्व पराक्रम का जो वर्णन है, उसकी अपेक्षा यह वर्णन सर्वथा अगण्य है। अतएव यह कल्पना भी निर्मूल है, देखिए स्वयं वैद्य महाशय क्या कहते हैं—

[1] महाभारत मीमांसा पृ० ४६।

"इस दृष्टि से शक यवनों के राज्य के पहले भी महाभारत की रचना हो सकती है।"·····"इसका कहीं उल्लेख नहीं है कि पहिले कभी हिन्दुस्तान पर म्लेच्छ लोगों की चढ़ाई नहीं हुई"।

—महाभा० मी० पृ० ७८

(४) छन्दों के प्रयोग के सिद्धान्त को भी श्री वैद्य स्वयं काल-निर्णय में अनुपयोगी स्वीकार करते हैं। ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि श्री वैद्य—"सन्ति लोका वहवस्ते नरेन्द्र" इस पद्य का उदाहरण दिखलाकर, कहते हैं—"जिन-जिन स्थानों पर इस नमूने के श्लोक पाए जाते हैं, वे बहुत प्राचीन भाग हैं"[1]। परन्तु आश्चर्य है कि फिर भी "यदाश्रौषं" पद के प्रयोग वाले पद्य—जिनके विषय में पहले उल्लेख किया गया है, वे इसी त्रिष्टुप् छन्द में वैदिक शैली के अनुसार ह्रस्व-दीर्घ के नियम रहित हैं, उनको आप सौति द्वारा प्रणीत बताते हैं[2]।

इनके सिवा और भी कुछ युक्तियों द्वारा इन कल्पनाओं की पुष्टि की गई है, किन्तु वे सब कल्पनाएँ असंगत एवं अनाधार हैं, जबकि श्री वैद्य ने भी निर्णीत रूप से कुछ नहीं कहा है और जहाँ पर निर्णीत जैसे उनके वाक्य हैं, वे भी पूर्वा-पर के विवेचन द्वारा आभास मात्र प्रतीत होते हैं। ऐसी परिस्थिति में इन कल्प-नाओं के आधार पर महाभारत का न तो समय-समय पर बढ़ाया जाना ही सिद्ध हो सकता है और न उसके परिवर्द्धित होने का काल ईसवी सन् के दो चार शताब्दियों के पूर्व प्रमाणित हो सकता है। अतएव महाभारत का निर्माण-काल भारतीय युद्ध के अत्यन्त निकटवर्ती है, जैसा कि महाभारत के अन्तःप्रमाणों से सुस्पष्ट है, इसके विरुद्ध कोई भी विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है।

—:※:—

१ महाभारत मीमांसा पृ० ७२।
२ महाभारत मीमांसा पृ० ७२।

अग्निपुराण

भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के बाद अग्निपुराण ही ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें हमको साहित्य-विषयक सबसे प्रथम साहित्यक नियमो का निरूपण मिलता है। भारतीय साहित्य में अग्निपुराण का स्थान अत्यन्त उच्च है। अन्य पुराणों में, सर्गविसर्गादि पौराणिक विषयों का ही प्रायः वर्णन है। किन्तु अग्निपुराण में पौराणिक विषयों के साथ-साथ अन्य सभी ज्ञातव्य विषयों का समावेश है। ऐसा कोई विषय ही नही जिसका वर्णन इसमें न हो। अतएव साहित्य का विषय भी अग्निपुराण के ३३७ से ३४७ तक ११ अध्यायों मे निरूपण किया गया है। नाट्यशास्त्र केवल साहित्य-विषयक ग्रन्थ होने के कारण उसमे इसी विषय का विस्तृत निरूपण है और अग्निपुराण में अन्य ज्ञातव्य विषयों के साथ साहित्य का भी समावेश किया गया है, अतएव संक्षिप्त अवश्य है किन्तु सक्षिप्त होने पर भी महत्वपूर्ण है। इसमें निरूपित साहित्य विषय का विवेचन करने के प्रथम अग्निपुराण के काल-निर्णय के विषय में कुछ विचार प्रकट करना आवश्यक है। अग्निपुराण यद्यपि भगवान् कृष्णद्वैपायन वेदव्यासजी प्रणीत सुप्रसिद्ध अष्टादश पुराणो के अन्तर्गत है, किन्तु इसके विषय में भी पाश्चात्य लेखक और उनके अनुयायी एतद्देशीय विभिन्न लेखक अपने अपने कल्पना जाल में फँसे हुए दृष्टिगत होते हैं—

(१) बाबू सुशील कुमार दे[1] अग्निपुराण के अलङ्कार-प्रकरण का समय दंडी और भामह के पश्चात् और 'ध्वन्यालोक' के वृत्तिकार श्री आनन्दवर्द्धनाचार्य से प्रथम, ईसा की नवी शताब्दी के लगभग मानते हैं।

(२) श्री काणे[2] कहते हैं, कि अग्निपुराण सन् ७०० ई० के पश्चात् का है। और उसका काव्य विषयक अङ्ग ९०० ई० के भी पीछे का है।

अच्छा, अब हम श्री काणे के मत पर ही क्रमशः विचार करना युक्ति-युक्त

---

१ 'हिस्ट्री आव् संस्कृत पोएटिक्स,' जिल्द १, पृष्ठ १०२-४।

२ 'साहित्यदर्पण' की अँग्रेजी भूमिका, पृष्ठ ३,४,५।

समझते हैं, क्योंकि उसमें उनके पूर्ववर्ती प्रायः सभी लेखकों के मत सम्मिलित हैं। श्री काणे—

(क) अग्निपुराण के अध्याय ३५९-३६६ में वर्णित कोष विषय में, अमरकोष का कुछ साम्य उपलब्ध होने के कारण, उसे अमरकोष से लिया बतलाते हैं। अमरकोष का समय मि० मैक्समूलर साहिब ने ईसा की छठी शताब्दी के पूर्व माना है, क्योंकि इसका अनुवाद चीनी भाषा में छठी शताब्दी में हो चुका था[1] और डा० होरनेल[2] इसका समय ६२५ ई० से ९४० ई० के मध्य में मानते हैं। और मि० ओक ४०० ई० मानते हैं। श्री काणे कहते है कि अग्निपुराण में इस लोकप्रिय कोष का समावेश कर लिया गया है।

अब प्रथम तो यही प्रश्न है कि अमरकोष ६०० ई० में लोकप्रिय हो गया था? यद्यपि इस समय यह कोष अवश्य ही अधिक प्रचलित और सुप्रसिद्ध है, किंतु इसके द्वारा यह किस प्रकार सिद्ध हो सकता है कि इसे यह गौरव प्रारम्भ में ही प्राप्त हो गया था। इसके लिये प्रमाण ही क्या जबकि उस समय में किसी ग्रन्थ के प्रचार और लोकप्रिय होने के लिये केवल हस्तलिपि मात्र का ही साधन होने से अत्यन्ताधिक समय की अपेक्षा थी। फिर अमरकोष से प्रथम अन्य कोई कोष न था, इसका भी क्या प्रमाण जब कि इसके विरुद्ध अमरकोष के प्रारम्भ में स्वयं अमरसिंह ने लिखा है—

समाहृत्यान्यतंत्राणि संक्षिप्तैः प्रतिसंस्कृतैः।
संपूर्णमुच्यते वर्गैर्नामलिंगानुशासनम्॥
१।३

इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अमरसिंह ने अपने पूर्ववर्ती कोषों से संग्रह करके अमरकोष लिखा है। संभव है अमरकोष के आधार-रूप कोषों में

१ 'इण्डिया : ह्वाट् कैन इट टीच अस ?', पृष्ठ ३३२।
२ 'जर्नल आव् दि रायल एशियाटिक सोसाइटी', १९०६, पृष्ठ ९४०।

अग्निपुराण का कोष भाग भी हो। क्या इस कारण से अग्निपुराण और अमर-कोष के कुछ भाग में साम्य नही हो सकता ? किसी भी दो ग्रन्थों के विषय-विशेष मे साम्य उपलब्ध होने पर जब तक कोई दृढ प्रमाण प्राप्त न हो, यह नही कहा जा सकता कि किसने किससे सहायता ली है। फिर दूसरी बात यह भी है कि अग्निपुराण में यह विषय अत्यंत संक्षिप्त है और अमर में विस्तृत, अतएव श्री काणे की कल्पना से यह कल्पना अधिक मान्य हो सकती है कि अमरसिंह ने अनेक ग्रन्थों से—जिनमें सम्भव है अग्निपुराण भी हो—नाम संग्रह किए हों और जहाँ-जहाँ से जो जो प्रकरण लिया हो उन्हे लगभग उसी रूप मे अपने ग्रन्थ मे रख दिया हो। इस धारणा के विरुद्ध क्या प्रमाण है ? जब कि अमरसिंह के विषय में तो 'अमरसिंहोहि पापीयान् सर्वं भाष्यमचूचुरत्' यह किंवदंती भी प्रसिद्ध है।

(ख) श्री काणे और दे बाबू कहते है—"रूपक, उत्प्रेक्षा, विशेषोक्ति, विभावना, अपह्नुति और समाधि अलङ्कारो की परिभाषाएँ जो अग्निपुराण मे (अध्याय ३४४ के २२, २५, २७, २८ और अध्याय ३४५ के १३, १८ श्लोकों में) दी गई हैं, वे दंडी के काव्यादर्श में क्रमशः (द्वितीय परि-च्छेद की ६६, २२१, २२३, १९९, ३०४ और प्रथम परिच्छेद की ९३ की कारिकाओं से) सर्वथा मिलती है, और कुछ वाक्य एवं पद भी दोनो में समान हैं, जैसे—

एवं चतुष्पदी तच्च वृत्त जातिरिति द्विधा।

—अग्नि० ३३७।२१, काव्या० १।११

साविद्या नौस्तितीर्षूणां गम्भीरं काव्यसागरम्

—अग्नि० ३३७।२३, काव्या० १।१२

अतः यह प्रकरण अग्निपुराण मे दण्डी के काव्यादर्श से लिया गया है।"

अच्छा, अब यह देखना है कि श्री काणे आदि की इस कल्पना मे कहाँ तक सार है, इसके लिये हमको अग्निपुराण और काव्यादर्श में निरूपित

अलङ्कार विषय को संक्षिप्त रूप से प्रदर्शित करना उपयुक्त होगा। अग्निपुराण के ३४४वें अध्याय में अर्थालङ्कार का निरूपण इस प्रकार प्रारम्भ किया गया है—

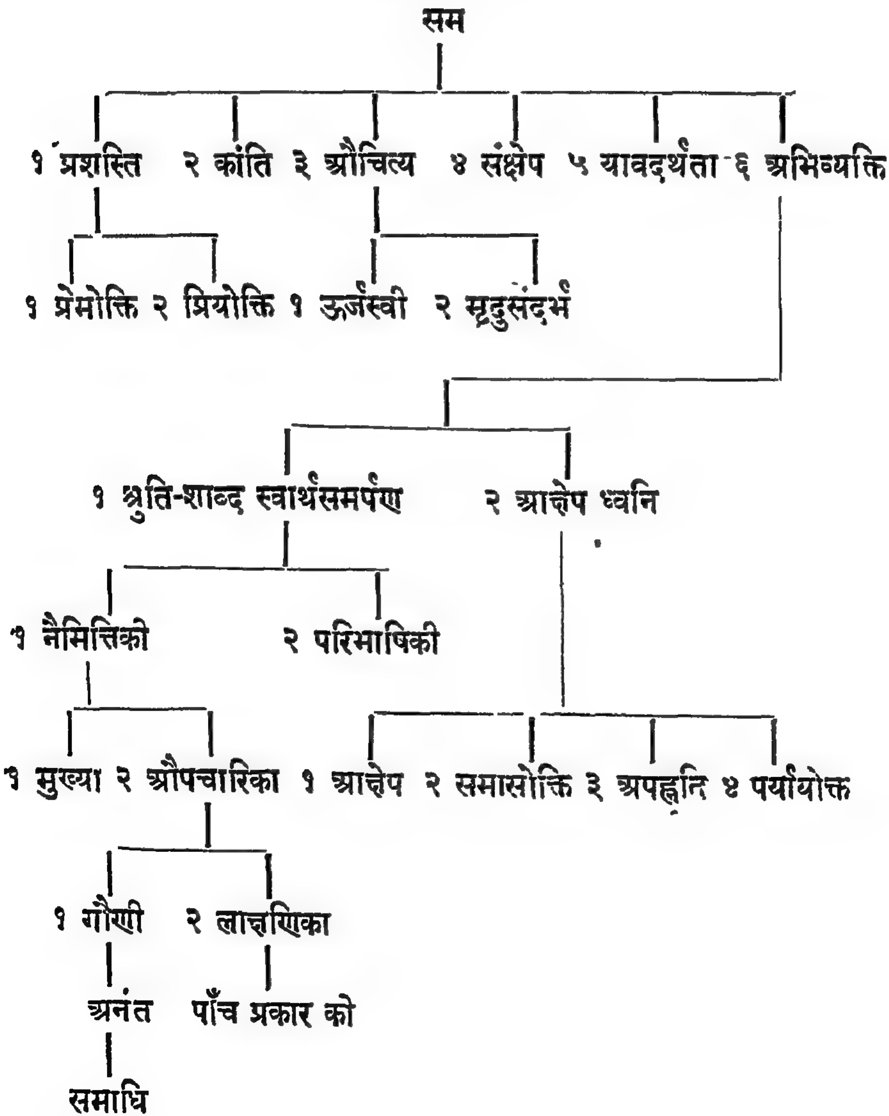
> "[1]स्वरूपमथ [2]सादृश्यमु[3]त्प्रेक्षा[4]तिशयावपि।
>
> [5]विभावना [6]विरोधश्च [7]हेतुश्च [8]सममष्टधा" ॥

इसमें आठ अलङ्कारों के नाम निर्दिष्ट हैं। फिर इसके आगे क्रमशः इनकी परिभाषाएँ दी गई हैं और इनके उपभेद दिखाए गए हैं, जिनको हम काव्यादर्श में दिखाए हुए उपभेदों के साथ स्पष्ट करते हैं—

अग्निपुराण (क्रमसंख्या)		काव्यादर्श		क्रमसंख्या
(१) स्वरूप—		स्वभावोक्ति (स्वरूप के नाम से नहीं है और न इसके उपभेद दिखाए गए हैं)		१
(अ) निज				
(आ) आगंतुक				
(२) सादृश्य—	यह चारों सादृश्य के अन्तर्गत लिखे गए हैं	('सादृश्य' नहीं है)	स्वतंत्र लिखे गए हैं न कि सादृश्य के अंतर्गत	
(अ) उपमा		उपमा		२
(आ) रूपक		रूपक		३
(इ) सहोक्ति		सहोक्ति		३१
(ई) अर्थांतरन्यास		अर्थांतरन्यास		६
(३) उत्प्रेक्षा		उत्प्रेक्षा		१२
(४) अतिशयोक्ति		अतिशयोक्ति		११
विशेषोक्ति		विशेषोक्ति		२५
(५) विभावना		विभावना		६
(६) विरोध		विरोध		२७
(७) हेतु		हेतु		१३
(अ) कारक		(अ) कारक		

(आ) ज्ञापक　　　　　(आ) ज्ञापक
　　　　　　　　　　(इ) चित्र और इसके अनेक भेद

(८) 'सम'। इसको अग्निपुराण में शब्दार्थ उभयालंकार माना है। और आक्षेप, समासोक्ति, अपह्नुति एव पर्यायोक्त ये चार अलकार, (जो काव्यादर्श में स्वतंत्र अलंकार लिखे गए हैं,) इस 'सम' के भेदों में एक 'अभिव्यक्ति' भेद है, इसके अन्तर्गत आक्षेप ध्वनि के उपभेदों में लिखे गए हैं जैसा कि आगे के विवरण से विदित हो सकता है।



काव्यादर्श में 'सम' नामक कोई अलङ्कार ही नही माना गया है और न इसके भेदोपभेद ही दिखाए गए हैं, केवल इनमें आक्षेप, समासोक्ति, अपह्नुति और पर्यायोक्त ये चार स्वतंत्र अलङ्कार काव्यादर्श में लिखे गए हैं।

इस विवरण द्वारा विदित होगा कि अग्निपुराण मे केवल १५ अलङ्कारो का निरूपण है, जबकि काव्यादर्श में इन १५ के सिवा २२ अलङ्कार और बढ़ा कर ३७ अलङ्कारो का निरूपण है। और १५ अलङ्कार जो अग्निपुराण मे निरूपित हैं उनमें भी न तो काव्यादर्श के क्रम का ही अनुसरण है और न उसकी वर्णन शैली का। केवल एक स्वभावोक्ति अलङ्कार ही दोनो मे ऐसा है जिससे अर्थालङ्कारो के वर्णन का प्रारम्भ होता है, किन्तु उसके भी नाम में भिन्नता है—काव्यादर्श में स्वभावोक्ति अथवा जाति लिखा है, जब कि अग्निपुराण में उसका 'स्वरूप' के नाम से उल्लेख है। काव्यादर्श मे उपमा, रूपक, सहोक्ति और अर्थांतरन्यास पृथक् पृथक् स्वतंत्र रूप से क्रमशः २,३,३१,६ की क्रम-संख्या में है किन्तु अग्निपुराण में 'सादृश्य' नामक एक अलङ्कार (जिसकी क्रम-संख्या २ है) माना गया है, और उसके ये उपमा, रूपक, सहोक्ति और अर्थांतरन्यास चार भेद माने गए हैं। काव्यादर्श में आक्षेप, समासोक्ति, अपह्नुति और पर्यायोक्त ये चार अलङ्कार पृथक् पृथक् स्वतंत्र लिखे गए है—एक के साथ दूसरे का कुछ घनिष्ट सम्बन्ध नहीं बताया गया है, किन्तु अग्निपुराण में इन चारों को एक पृथक् वर्ग में—'सम' नामक एक शब्दार्थ-उभयालङ्कार की संज्ञा बताकर, उस सम के छः भेदों में एक अभिव्यक्ति का एक आक्षेप ध्वनि भेद बता कर, उस आक्षेप ध्वनि के अन्तर्गत इन चारों अलंकारों को दिखाया है। काव्यादर्श में इस शैली की गंध भी नहीं उपलब्ध होती है। ऐसी परिस्थिति में काव्यादर्श का अग्निपुराण में समावेश किया जाना किसी प्रकार भी सिद्ध नही हो सकता। फिर, काव्यादर्श में उपमा के बत्तीस उपभेद दिखाये गये है किन्तु अग्निपुराण मे केवल बाईस, और उन बाईस में भी तेरह के नामों में ही[1] समानता है। पाँच ऐसे हैं

[1] १ धर्मोपमा, २ वस्तूपमा, ३ नियमोपमा, ४ अनियमोपमा, ५ बहूपमा,

जिनकी परिभाषाओं में कुछ साम्य होने पर भी नाम भिन्न हैं[1]। और चार[2] ऐसे हैं जिनका काव्यादर्श में नामोल्लेख ही नहीं है। अतः स्पष्ट है कि काव्यादर्श और अग्निपुराण में महान असमानता है।

(ग) अग्निपुराण मे अलङ्कारो की अल्प सख्या जो श्री भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र से कुछ ही अधिक है, और उनका साधारणतया निरूपण किया जाना हमको विकासोन्मुख प्रगतिशील अलङ्कार शास्त्र के दूसरे सोपान के रूप में दृष्टिगत होता है। यदि यह कहा जाय कि अग्निपुराण में अलङ्कार विषय का संक्षिप्त वर्णन है, तो हम इस बात को स्वीकार करते हैं। किन्तु इसके द्वारा यह कदापि सिद्ध नही हो सकता कि इसमें काव्यादर्श का संक्षिप्त समावेश किया गया है। यदि यह मान भी लिया जाय तो प्रश्न होता है कि अग्निपुराण का लक्ष्य काव्यादर्श का विषय संक्षिप्त में समावेश करने का ही होता, तो उपमा के इतने अधिक उपभेद, जो कि २२ दिखाये गये है, दिखाने की ऐसी क्या आवश्यकता थी और अग्निपुराण मे काव्यादर्श के उन प्रधान अलङ्कारों को क्यो छोड़ दिया जाता—यहाँ तक कि उनका नमोल्लेख भी नहीं किया गया है, जो कि उपभेदों की अपेक्षा अत्यंत आवश्यक थे। यह कदापि सम्भव नही कि जिस ग्रन्थ का विषय लिया जाय उसका आवश्यक प्रधान विषय छोड़कर अनावश्यक गौण विषय ले

---

६ समुच्चयोपमा, ७ मालोपमा, ८ विक्रियोपमा, ९ अद्‌भुतोपमा, १० मोहोपमा, ११ संशयोपमा, १२ प्रशंसोपमा और १३ निंदोपमा।

[1] काव्यादर्श में—१ अन्योन्योपमा, २ विपर्यासोपमा, ३ निर्णयोपमा, ४ अतिशयोपमा, ५ समानोपमा है। अग्निपुराण में इनके स्थान में, १ परस्परोपमा, २ विपरीतोपमा, ३ निश्चयोपमा, ४ साधारणी अतिशायिनि, सदृशी ये नाम है।

[2] १ व्यतिरेकोपमा, २ गमनोपमा, ३ कल्पितोपमा और ४ किंचित सदृशी ये अग्निपुराण में है, किन्तु काव्यादर्श में नहीं।

लिया जाय। विशेष ध्यान देने योग्य तो यह है कि जिस श्लेषालङ्कार को दंडी ने—

श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
—काव्यादर्श २।३६३

इतना महत्त्व दिया है, उस श्लेष का अग्निपुराण में नामोल्लेख भी नहीं है। क्या यह सम्भव है कि जिस ग्रन्थ से अलङ्कार प्रकरण लिया जाय—प्रकरण ही क्यों परिभाषा तक ली जाय, उसमें जिस अलङ्कार को ऐसा महत्त्व दिया गया है, उसका नाम तक स्मरण न किया जाय, और उसी ग्रन्थ से उपमा के उपभेद जो अधिक महत्त्व के नहीं, इतने अधिक ले लिये जायँ?

(घ) अच्छा, और देखिये, अग्निपुराण में किसी भी अलङ्कार का उदाहरण नहीं दिया गया है—केवल परिभाषाएँ हैं, किन्तु ज्ञापक हेतु के विषय में कहा है—ज्ञापकाख्यस्य भेदोस्ति नदीपूरादि दर्शनम्।' किन्तु काव्यादर्श में हेतु अलङ्कार पचीस कारिकाओं में स्पष्ट किया गया है, उनमें ज्ञापक हेतु भी कहा गया है, पर 'नदीपूरादिदर्शनम्' के समान तो कहाँ, इसकी गंध भी उनमें कहीं उपलब्ध नहीं है।

(ङ) एक बात और भी है, काव्यादर्श में हेतु अलङ्कार के साथ ही जुड़े हुए 'सूक्ष्म' और 'लेश' अलङ्कार कहे गए हैं—

हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम्
—२।२३५

यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि अग्निपुराण में कुछ परिभाषाएँ काव्यादर्श के समान पाई जाने से वे परिभाषाएँ श्री काणे जब काव्यादर्श से ली हुई बताते हैं, तो प्रश्न होता है कि यदि वस्तुतः ऐसा होता तो हेतु के सलग्न 'सूक्ष्म' और 'लेश' अलङ्कार अग्निपुराण में क्यों नहीं लिए जाते? 'हेतु' ही में ऐसा क्या चमत्कार है जिससे सूक्ष्म और लेश को छोड़ कर केवल हेतु ही लिखा जाता। और यह हेतु वह अलङ्कार है जिसमें भामह और मम्मट जैसे प्रसिद्ध आलङ्कारिकों ने अलङ्कारत्व ही स्वीकार नहीं किया है।

(च) 'समाधि' की परिभाषा में अग्निपुराण और काव्यादर्श दोनों के नामों मे सादृश्य अवश्य है, किन्तु वह भी असादृश्य ही है, अग्निपुराण मे 'समाधि' का 'सम' के भेद अभिव्यक्ति के अन्तर्गत उल्लेख है, जबकि काव्यादर्श में इसे दश गुणों में एक गुण बताया गया है।

(छ) केवल अलङ्कारों के सम्बन्ध में ही नहीं, अन्य प्रकरणों में भी काव्यादर्श से अग्निपुराण में विभिन्नता है। 'गुण' प्रकरण देखिए, अग्निपुराण मे शब्दगत सात गुण माने गए है:—

श्लेषो लालित्यगांभीर्येसौकुमार्यमुदारता।
सत्येवयौगिकी चेति गुणाः शब्दस्य सप्तधा।

—३४७।५

और अर्थगत छः गुण माने गए हैं:—

माधुर्यं संविधानं च कोमलत्वमुदारता।
प्रौढिः सामयिकत्वं च तद्भेदाः षडुदाहृताः॥

—३४७-११

और शब्दार्थ उभयगत भी छः गुण माने गए हैं:—

तस्यप्रसादः सौभाग्यं यथासंख्यं प्रशस्यता।
पाको राग इति प्राज्ञैः पट् प्रपञ्चविपञ्चिताः॥

—३४६।१८।१९

किन्तु दण्डी ने वैदर्भ मार्ग के ही दश गुण बतलाये हैं:—

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कांतिम्समाधयः॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दशगुणाः स्मृताः।

काव्यादर्श १।४१-४२

और गुणों के विषय मे शब्दार्थ-गत भेद प्रदर्शित नही किया है। इसी प्रकार अग्निपुराण मे वक्तृ, वाचक और वाच्य तीन दोष कहे गए हैं जो कि दंडी के दोष निरूपण से सर्वथा विलक्षण हैं। अतएव यह निर्विवाद सिद्ध है कि अग्नि-

पुराण मे काव्यादर्श का समावेश किया जाता तो ऐसा होना कदाचित सम्भव न था।

(ज) अब हम श्री काणे के मत की उस मूलाधार भित्ति की अत्यन्त निर्बलता दिखाते हैं जिसपर उन्होंने अपने इस कल्पना-जाल का निर्माण किया है। काव्यादर्श में—

(१) लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।

—२।२२३

(२) अद्यया मम गोविंद जाता त्वयि गृहागते।
कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः॥

—२।२७६

ये दो पद्य हैं। श्री काणे कहते हैं कि इन दोनों के सिवा उदाहरण या परिभाषा कुछ भी दंडी ने दूसरे ग्रन्थों से नहीं ली है। और जब दंडी ने इन दो पद्यों के सिवा दूसरे ग्रन्थों से कुछ लिया ही नहीं, तो फिर काव्यादर्श की कुछ कारिकाएँ जो अक्षरशः अग्निपुराण में हैं, वे काव्यादर्श के सिवा किसकी मानी जा सकती है? बस; श्री काणे की, यही कल्पना अग्निपुराण में काव्यादर्श का समावेश किये जाने की जीवनधार है।

अच्छा, प्रथम तो यही प्रश्न होता है कि दंडी ने इन दो पद्यों के सिवा अन्यत्र से कुछ भी नहीं लिया, इसका प्रमाण ही क्या? दंडी ने तो इन पदों के सम्बन्ध में भी कहीं ऐसा सूचित नहीं किया है कि ये अन्यत्र से लिए गए हैं। पर इन दोनों पद्यों को श्री काणे अगत्या इसीलिये अन्यत्र के स्वीकार करते हैं कि प्रथम पद्य वल्लभदेव की सुभाषितावली में १८९० की संख्या पर विक्रमादित्य के नाम से तथैव शारंगधरपद्धति में संख्या १०३ पर भर्तृमेखक के नाम से एवं भास के 'चारुदत्त' (१।१९) और 'बालचरित्र' (१।१५) में भी मिलता है और शूद्रक के मृच्छकटिक के प्रथमाङ्क में भी। इसी प्रकार दूसरा पद्य भामह के 'काव्यालङ्कार' मे (३।५) मिलता है। यदि इन दोनों पद्यों का पता इन ग्रन्थों में न मिलता तो सम्भवतः श्री काणे यही मान लेते कि दंडी ने कुछ भी अन्यत्र

से नहीं लिया। किन्तु दंडी ने काव्यादर्श में कही भी ऐसा उल्लेख नहीं किया है कि मैंने स्वय प्रणीत उदाहरण या परिभाषाएँ दी हैं। प्रत्युत काव्यादर्श की सम्पूर्ण रचना मौलिक होने के विरुद्ध और भी प्रमाण मिलते हैं। काव्यादर्श के 'लक्ष्यलक्ष्मी तनोतीति प्रतीति सुभगंवचः' इस वाक्य में स्पष्टतया महाकवि कालिदास के 'मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति' इस पद्य का—'लक्ष्यलक्ष्मी तनोति' यह वाक्य लिया गया है। इसके सिवा अन्य भी एक दो नहीं दस कारिकाएँ और कारिकाओं के अर्द्धांश ऐसे हैं, जो अक्षरशः भामह के काव्यालङ्कार के समान हैं। और जहाँ तक विचार किया जाता है, वे सम्भवतः भामह से ही दंडी द्वारा लिए गए प्रतीत होते हैं—जैसा कि हम आगे भामह के प्रकरण में स्पष्ट करेंगे। इसकी पुष्टि काव्यादर्श द्वारा भी होती है, दंडी ने ग्रन्थारम्भ में स्वयं स्पष्ट लिखा है कि—

पूर्वशास्त्राणि संहृत्य प्रयोगानुपलक्ष्य च।

—१-२

इसके सिवा काव्यादर्श में और भी ऐसे बहुत से वाक्य हैं, जिनमें दंडी ने स्वयं अन्य ग्रन्थों से सहायता लिए जाने का स्पष्ट उल्लेख किया है। यही नहीं प्रत्युत दंडी के उपर्युक्त उद्धरण के 'पूर्व शास्त्राणि' इस वाक्य से यह भी ध्वनित होता है कि उसने स्वयं, सम्भवतः अग्निपुराण से, कुछ सहायता ली है, क्योंकि दंडी ने स्वयं 'शास्त्र' को काव्य से पृथक् माना है, जैसा कि उसने स्वभावोक्ति अलङ्कार के विषय में कहा है—

जातिक्रियागुणद्रव्यस्वभावाख्यानमीदृशम्।
शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम्॥

—२।१३

अतएव हम 'शास्त्रेषु' के प्रयोग द्वारा अग्निपुराण का निर्देश क्यों नहीं मान सकते? दंडी की यह कारिका भी अग्निपुराण के—

शास्त्रे शब्दप्रधानत्वमितिहासेषु निष्ठता।
अभिधायाः प्रधानत्वात्काव्यं ताभ्यां विभिद्यते॥

—३३७।२-३

इस श्लोक पर अवलम्बित है। यही क्यों दंडी ने अग्निपुराण से कुछ अलङ्कारों की परिभाषाओं के अतिरिक्त और भी अनेक वाक्य लिए हैं, जैसे—

'कन्याहरण संग्राम विप्रलंभो'। अग्निपु० ३३७।१३, काव्या० १।२९

'सर्गबन्धो महाकाव्यं'। अग्निपु० ३३७।२४, काव्या० १।१४

इत्यादि। और दंडी ने काव्य का लक्षण भी काव्यादर्श में वहीं से लिया जान पड़ता है, देखिए :—

'संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्नापदावली'।

—अग्नि० ३३७।६

दंडी ने इसमें 'संक्षेपाद्' वाक्य निकाल कर—'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्नापदावली (काव्यादर्श १।१०) इस प्रकार काव्य का लक्षण लिख दिया है। काव्य के विभाग अग्निपुराण में—'गद्यं पद्यं च मिश्रं च काव्यादि त्रिविधं स्मृतम्' (३३७।८) इस प्रकार है। दंडी भी—'गद्यं पद्यं च मिश्रं च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम्' (काव्यादर्श १।११) इसी प्रकार बताता है। निष्कर्ष यह है कि किसी अंश में भी यह सिद्ध नहीं हो सकता कि काव्यादर्श से अग्निपुराण में कुछ लिया गया है। अतएव पूर्वोद्धृत (पृ० ५५) जो अग्निपुराण (३३७।२१,२३) और काव्यादर्श (१।११, १।१२) में समानता है, और जिसे श्री काणे अग्निपुराण में काव्यादर्श से ली हुई कल्पना करते हैं, वह भी अग्निपुराण से ही काव्यादर्श में ली हुई सिद्ध होती है।

(झ) श्री काणे ने अग्निपुराण के समय की कल्पना की पुष्टि में एक आधार यह भी माना है कि रूपक, आक्षेप, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त और समासोक्ति की परिभाषाएँ अग्निपुराण में भामह के काव्यालङ्कार से ली गई हैं। क्योंकि भामह ने जो परिभाषाएँ २।२१, २।६८, २।७६, ३।८ में दी हैं, वे अग्निपुराण ३४४।२२, ३४५।१५, ३४५।१६, ३४५।१८ में क्रमशः मिलती हैं। और भामह ने लिखा है कि परिभाषा और उदाहरण मैंने स्वयं निर्माण किए हैं—

स्वयंकृतैरेव निदर्शनैरियं
मयाप्रक्लृप्ता खलु वागलंकृतिः।
—२।९६

गिरामलङ्कारविधिः सविस्तरः
स्वयं विनिश्चित्य धिया मयोदितः।
—काव्यालं० ३।५८

श्री काणे ने इस पर कल्पना की है कि जबकि भामह का समय लगभग छठी-सातवीं शताब्दी का है तो अग्निपुराण उसके पीछे का सिद्ध होता है। किन्तु सखेद आश्चर्य है कि श्री काणे अग्निपुराण को भामह से परवर्ती सिद्ध करने के लिये भामह के उपर्युक्त इन दोनो पद्यों को प्रमाण-स्वरूप मानते हुए यह बात क्यो भूल जाते हैं कि उन्होने स्वयं भामह संबंधी विवेचना में[1] भामह द्वारा अन्य साहित्याचार्यों के नामोल्लेख और उनके उदाहरण आदि काव्यालङ्कार मे प्रत्यक्ष उपलब्ध होने के कारण, इन्हीं उपर्युक्त दोनो पद्यो को संशयात्मक माना है। ऐसी परिस्थिति मे हम किस आधार पर स्वीकार कर सकते हैं कि भामह ने अपने ग्रन्थ में परिभाषाएँ स्वय निर्माण की हैं और अग्निपुराण में भामह से ली गई हैं? फिर एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि अग्निपुराण में दिए हुए सभी अलङ्कार दडी के काव्यादर्श में भी है, अग्निपुराण में यदि अन्य किसी ग्रन्थ से यह प्रकरण लिया जाता तो उसके लिये काव्यादर्श ही पर्याप्त था, भामह के ग्रन्थ से लेने की आवश्यकता तो उसी अवस्था में हो सकती थी जबकि वे काव्यादर्श मे न होते। फिर यदि अग्निपुराण मे भामह के ग्रन्थ से अलङ्कार प्रकरण लिया जाता तो जिस अतिशयोक्ति के विषय मे भामह ने—

"सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥"
—काव्यालङ्कार २।८५

[1] 'Therefore too much emphasis cannot be laid over the words स्वयं कृतैरेव etc'—'साहित्यदर्पण' भूमिका पृ० १८-१९।

५

यह कह कर इतना महत्व दिया है, उसका अग्निपुराण में नामोल्लेख भी न किया जाना क्या संभव हो सकता है? कदापि नहीं। फिर काव्यादर्शोक्त हेतु, सूक्ष्म और लेश भामह ने नहीं माने, प्रत्युत उसने इनका खण्डन किया है। तब क्या कारण है कि इन तीनों में से 'हेतु' अग्निपुराण में लिखा गया। यदि भामह अथवा दंडी दोनों में से किसी का भी अनुसरण अग्निपुराण में किया जाता तो या तो दंडी के मतानुसार ये तीनों ही लिखे जाते, या भामह के मतानुसार तीनों ही छोड़ दिये जाते, अतएव दंडी और भामह दोनों में किसी का भी समावेश अग्निपुराण में किया जाना किसी प्रकार संभव नहीं। किन्तु अग्निपुराण में कुछ परिभाषाओं में दंडी और भामह की समानता एवं अन्य असमानता उपलब्ध होने के कारण हम कह सकते हैं, कि या तो अग्निपुराण की परिभाषाएँ दंडी और भामह को जो अपने मनोनुकूल उपलब्ध हुईं वे संभवतः वहाँ से उन्होंने ले लीं और जो उनको परिवर्तनीय प्रतीत हुईं उनके स्थान पर नवीन परिभाषाएँ निर्माण कर दीं। या यह भी संभव है कि नाट्यशास्त्र और अग्निपुराण के पश्चात् किसी अज्ञात लेखक द्वारा कोई अलङ्कार ग्रन्थ लिखा गया हो—ऐसे लेखक द्वारा जिसने अपने पूर्ववर्त्ती अग्निपुराण की कुछ परिभाषाएँ भी अपने ग्रन्थ में समावेश की हों संभवतः वही ग्रन्थ भामह और दंडी के ग्रन्थों का स्रोत हो।

(च) श्री काणे ने एक और भी अभूतपूर्व कल्पना प्रस्तुत की है कि "ध्वनिकार के ध्वनि सिद्धांत से भी अग्निपुराण अभिज्ञ था। अग्निपुराण में कहा गया है कि पर्यायोक्त, अपह्नुति, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा और आक्षेप में ध्वनि समार्वेगत है—

स आक्षिप्तो ध्वनिःस्याच्च ध्वनिना व्यज्यते यतः।

—अग्निपु० अ० ३४५।१४

पर ध्वन्यालोक का अनुयायी होना अग्निपुराण को अभीष्ट न था; अग्निपुराण का यह उल्लेख ध्वनिकार के विषय में वैसा ही है, जैसा कि रुय्यक ने 'अलङ्कार-सर्वस्व' में भामह, उद्भटादि का मत दिखाया है।" किन्तु श्री काणे की यह कल्पना तो नितांत ही हास्यास्पद है, क्योंकि रुय्यक ने 'अलङ्कारसर्वस्व' में जो भामह

उद्भटादि के मत का उल्लेख किया है उसे अलङ्कारों में व्यंग्यार्थ को उपस्कारक मानते हुए अपने निकाले हुए—'अलङ्कारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्याना मतः।' इस सिद्धात की पुष्टि में किया है। किंतु अग्निपुराण का वर्णन तो इसके सर्वथा विरुद्ध है। न तो वहाँ कोई अपने मत के सिद्धात का प्रतिपादन ही किया गया है और न वहाँ किसी के मत की आलोचना ही की गई है और न किसी का समर्थन ही किया गया है, किन्तु वहाँ तो केवल अलङ्कारो का साधारणतया निरूपण किया गया है। और वह निरूपण एक विलक्षण प्रकार से है—जैसा आगे स्पष्ट किया जायगा। अतएव अग्निपुराण के वर्णन के साथ किसी भी प्रकार 'अलङ्कारसर्वस्व' के अवतरण की तुलना नहीं हो सकती। और न यही सिद्ध हो सकता कि अग्निपुराणकार, ध्वन्यालोक से परिचित थे। किन्तु इसके विपरीत पूर्ण रूप से यह सिद्ध होता है कि अग्निपुराण के मत से ध्वनिकार केवल अभिज्ञ ही न थे, किन्तु ध्वनिकार ने अग्निपुराण के मत के विरुद्ध पर्याप्त आलोचना भी की है क्योंकि अग्निपुराण का जो 'स्वरूपमथ' इत्यादि श्लोक ऊपर उद्धृत किया गया है, उसमें आठ अलङ्कारों की गणना है—जिनमे अंतिम आठवाँ भेद 'सम' है, और सम को एक शब्दार्थ उभयालङ्कार माना है (न कि 'सम' नाम का एक अर्थालङ्कार जैसा कि काव्यप्रकाशादि ग्रन्थों में माना गया है) और उसके छः भेदों में अन्तिम भेद अभिव्यक्ति के दो उपभेद श्रुति और आक्षेप कहे गए है—

प्रकटत्वमभिव्यक्तिः श्रुतिराक्षेप। इत्यादि

—३४५।७

और आक्षेप की यह परिभाषा दी गई है—

श्रुतेरलभ्यमानोर्थो यस्माद्भाति सचेतनः।
स आक्षेपो ध्वनिस्याच्चध्वनिना व्यज्यते यतः॥

—३४५।१४

अर्थात् श्रुति से अलभ्यमान अर्थ (व्यंग्यार्थ) जिसके द्वारा भान हो, वह आक्षेप ध्वनि है। ऐसा कह कर, फिर इस ध्वनि के अन्तर्गत आक्षेप, समासोक्ति, अपह्नुति और पर्यायोक्त ये चार भेद माने गए हैं। फिर अन्त में कहा है कि—

एषामेकतमस्येव समाख्या ध्वनिरित्यतः ३४५।१८—अर्थात् यह सम संज्ञक ध्वनि है।

इस विवरण से स्पष्ट है कि अग्निपुराण में आक्षेप, समासोक्ति, अपह्नुति और पर्यायोक्त ध्वनि के भेद माने गए हैं। किन्तु ध्वन्यालोक में इस मत के विरुद्ध पृ० ३५ से ४५ तक विस्तृत आलोचना करने के बाद निष्कर्ष रूप यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है—

व्यंग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालङ्कृतयः स्फुटाः॥

—१।१४

अर्थात् समासोक्ति आदि जो अग्निपुराण में आक्षेप ध्वनि के भेद माने गए हैं, उसके विरुद्ध ध्वनिकार ने इसमें अलंकारता प्रतिपादन की है—इन अलंकारों में व्यंग्यार्थ की (जो ध्वनि का विषय है) गौणता और वाच्यार्थ की प्रधानता की है। ध्वन्यालोक और अग्निपुराण का यह प्रकरण ध्यान देकर देखने से स्पष्ट विदित हो सकता है कि ध्वनिकार, अग्निपुराण के मत के विरुद्ध प्रत्यक्ष रूप से या अग्निपुराण के मतानुसार प्रणीत किसी अन्य आचार्य के अज्ञात ग्रन्थ के विरुद्ध अपना मत स्थापन कर रहा है। ध्वनिकार केवल अग्निपुराण से परिचित ही नहीं थे किन्तु ध्वन्यालोक के (तृतीय उद्योग पृ० २२२) वृत्ति ग्रन्थ में—

तथा चेदमुच्यते—

"अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥
शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
सएव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत्"॥

ये दोनों श्लोक अग्निपुराण से (अध्याय-३३६।१०, ११) उद्धृत किये गये हैं। यह पद्य श्रीमदानन्दवर्द्धनाचार्य के स्वयं प्रणीत नहीं हो सकते क्योंकि इनके प्रारम्भ में—'तथा चेदमुच्यते' से स्पष्ट है कि वृत्तिकार ने इन पद्यों को अपने मत के समर्थन में अन्य ग्रन्थ से उद्धृत किया है। आश्चर्य होता है कि फिर भी

श्री काणे अग्निपुराण को ध्वन्यालोक से परवर्ती कहने का किस आधार पर साहस कर रहे हैं। इससे भी अधिक आश्चर्य यह है कि, एस० के० दे बाबू (जिनके ग्रन्थ पर श्री काणे का निबन्ध अधिकांश में अवलंबित है) ध्वन्यालोक से अग्निपुराण को प्राचीन स्वीकार करते हैं। अतएव इसे श्री काणे के दुराग्रह के सिवा और क्या कह सकते हैं।

अग्निपुराण के काव्य-प्रकरण का अध्ययन ध्यान देकर करने से यह निर्विवाद विदित हो सकता है कि, वह वर्णन भामह, दंडी, उद्भट और ध्वनिकार आदि सभी प्राचीन साहित्याचार्यों से विलक्षण है। और वह काव्य के विकाश-क्रम के आधार पर नाट्य-शास्त्र के पश्चात् और भामहादि के पूर्व का मध्यकालीन रूप है। इस विषय के प्रारम्भ में अग्निपुराण में कहा है—

काव्यास्त नाटकादेश्च अलङ्कारान्वदाम्यथ।

—३३७।१

इसमें अलङ्कार शब्द का प्रयोग व्यापक सौंदर्य के अर्थ में किया गया है—जैसा कि नाट्य-शास्त्र में दृष्टिगत होता है। रस भी अग्निपुराण मे शृङ्गार, रौद्र, वीर और वाभत्स यही चार मुख्य माने गए हैं—शेष चारों का इन्हीं के द्वारा उद्भव कहा गया है, जैसा कि महामुनि भरत का प्राचीन मत है। आश्चर्य यह है कि फिर भी पाश्चात्य और कुछ एतद्देशीय विद्वान्, नितात निर्बल और संदेहात्मक आधारों पर अग्निपुराण को ईस्वी सन् ६०० के समय का कल्पना करते हैं, और यह भी कहते हैं कि अग्निपुराण का उल्लेख केवल साहित्यदर्पण में विश्वनाथ द्वारा (लगभग १४ वीं शताब्दी में) किया गया है—इसके प्रथम किसी भी आचार्य ने नही किया, किन्तु ऊपर के विवेचन से भली प्रकार सिद्ध होता है कि भामह, दंडी और ध्वनिकार आदि प्रसिद्ध प्राचीनाचार्यों द्वारा अग्निपुराण के विषय का उपयोग पर्याप्त किया गया है। ध्वन्यालोक के लोचन-व्याख्याकार श्री अभिनवगुप्ताचार्य ने भी—जो संभवतः वाग्देवावतार श्री मम्मटाचार्य के उपाध्याय थे अग्निपुराण के—

अभिधेयेन सारूप्यात्सामीप्यात्समवायतः।
वैपरीत्यात्क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता॥

—अग्निपु० ३४५।११, १२

इस श्लोक को ध्वन्यालोकलोचन पृ० ६ में उद्धृत किया है। यही क्यों, महाराजा भोज जैसे विद्या-रसिक और साहित्य-मर्मज्ञ विद्वान् ने अग्निपुराण में संक्षिप्त निरूपित साहित्य विषय को अपने सरस्वतीकठाभरण नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ में विस्तार के साथ उदाहरण सहित स्पष्ट किया है। सच तो यह है कि अग्निपुराण में वर्णित विषय एक प्रकार से सूत्र रूप में है, उसकी व्याख्या यदि सरस्वती कंठाभरण में स्पष्ट रूप से विस्तृत न की जाती तो वह विषय समझना एक बड़ी विकट समस्या हो जाती। महाराजा भोज को अग्निपुराण का विषय सरस्वतीकठाभरण में स्पष्ट करने पर भी यथेष्ट सन्तोष नहीं हुआ अतएव उन्होंने एक तीस हजार श्लोकों का बृहत् ग्रन्थ—'शृङ्गारप्रकाश' नामक अग्नि-पुराण के मतानुसार और भी लिखा जो अभी उपलब्ध हुआ है। इसकी हस्तलिखित प्रति गवर्नमेंट ओरियंटल मैनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास में वर्तमान है। यह ग्रन्थ छत्तीस प्रकाशों में समाप्त है[1]। अब यदि अग्निपुराण का समय नवम शताब्दी का कल्पना कर लिया जाय तो यह किस प्रकार सम्भव हो सकता है कि उसके १०० या १२५ वर्ष के बाद ही इतने अल्पकाल में—भोजराज के समय में—वह ऐसा गौरवान्वित और प्रतिष्ठित पौराणिक आर्षग्रन्थ समझ लिया जाता? इस बात का हमारे विज्ञ पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं।



१ शृङ्गारप्रकाश के २२, २३, २४ संख्या के प्रकाश मद्रास ता प्रिंटिंग हाउस में मुद्रित भी हो गये है।

महाभारत काल के बाद

पौराणिक काल के बाद ईसवी सन् के प्रारम्भ तक यद्यपि कोई साहित्यक काव्य-रीति-निरूपक ग्रन्थ दृष्टिगत नहीं होता है पर श्री पाणिनि के व्याकरण द्वारा विदित होता है कि उनके पूर्व, काव्य के पारिभाषिक शब्द उपमा,[1] उपमान, उपमेय पूर्णतया प्रचलित हो गये थे। और उसमें नट[2] सूत्रो का भी उल्लेख है। वार्तिककार कात्यायन के अनुसार पता चलता है कि उस समय काव्य और आख्यायिकाओं में भेद माना जाने लगा था। महर्षि पतञ्जलि के महाभाष्य में भी एक महाकाव्य[3] और तीन आख्यायिकाओं[4] का और दो नाटकों[5] का उल्लेख है। और ईसवी सन् के पूर्व दो या तीन शताब्दियो से ईसवी सन् २०० तक हमको भास, कालिदास, अश्वघोष और सुबन्धु आदि के काव्य और नाट्य ग्रन्थ एवं रुद्रदामन आदि के शिलालेख तथा दानपत्र उपलब्ध होते हैं जिनके द्वारा केवल यही विदित हो सकता है कि उस समय नियम-बद्ध और परिमार्जित काव्य-रचना का पर्याप्त प्रचार हो गया था। किन्तु ऐसे ग्रन्थ जिनमे रस, अलङ्कार आदि के लक्षण निरूपित हों और जो हमें तत्कालिक काव्य विषय के क्रम-विकास पर विवेचन करने में सहायक हों, अग्निपुराण के बाद और ईसवी सन् के प्रारम्भ तक अनुपलब्ध हैं। तथापि यह तो अवश्य ही स्वीकार किया जायगा कि ऐसे ग्रन्थों का अस्तित्व उस समय में अवश्य था।

---

१ देखो अष्टाध्यायी २।१, ५५, ५६, और २।३-७२

२ 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' ४।३-११०

३ 'यत्तेन कृतं नच तेन प्रोक्तं वाररुचं काव्यम्' (महाभाष्य पु० ३ पृ० ३१५)

४ वासवदत्ता, सुमनोत्तरा और भैमरथी (महाभाष्य पु० २ पृ० ३१३

५ 'ये तावदेते शोभनिका नामैते प्रत्यक्षं कृष्णं घातयन्ति प्रत्यक्षं च बलिं बन्धयन्तीति' (महाभाष्य पु० २ पृ० ४६४, ४७०)

क्योंकि आचार्य भामह जो लगभग ईस्वी सन् की छठी शताब्दी में अलङ्कार-शास्त्र के प्रथम और प्रधानाचार्य के रूप में हमको उपलब्ध होता है, उसके 'काव्यालङ्कार' की कारिकाओं में[1] किये गये 'परे' अन्यैः 'कैश्चित्', 'केचित्' 'केषाचित्', 'अपरे' रामशर्मा, अच्युत, मेधाविन् और राजमित्र इत्यादि प्रयोगों द्वारा स्पष्ट है कि भामह के प्रथम अनेक विद्वानों द्वारा ऐसे ग्रन्थ लिखे गये थे, जिनमें काव्य-रचना के नियम निरूपण किये गये थे। उपर्युक्त कारिकाओं में जिनके स्पष्ट नामोल्लेख है, उनमें एक मेधाविन् का ही ऐसा नाम मिलता है, जिसके विषय में हमको कुछ लिखने के लिये अन्य साधन भी प्राप्त है।

मेधाविन्

मेधाविन् या मेधावी के सम्बन्ध में भामह के काव्यालङ्कार में दो बार उल्लेख किया गया है (का० लं० २।४० और २।८८) भामह के अतिरिक्त मेधावी का अलङ्कार शास्त्र के प्रणेता के रूप में नामोल्लेख रुद्रट के कव्यालङ्कार की नमि साधु कृत टीका में भी मिलता है—

'ननुदण्डिमेधाविरुद्रभामहादिकृतानि सन्त्येवालङ्कारशास्त्राणि'।

—(रुद्रट का० लं० टीका १।२ पृ० २)

'तैर्मेधाविरुद्रप्रभृतिभिः'।

—(रुद्रट का० लं० टी० २।२ पृ० ९)

'मेधाविप्रभृतिभिरुक्तं'।

—(रुद्रट का० लं० टी० ११।२४ पृ० १४५)

इन वाक्यों में यद्यपि मेधाविरुद्र का नामोल्लेख है, किन्तु सम्भवतः मेधाविरुद्र और मेधावी एक ही व्यक्ति है। क्योंकि 'रुद्र' एक विशेष सम्बन्ध-सूचक उपाधि है। शार्ङ्गधर ने कपिलरुद्र और मालवरुद्र के भी पद्य उद्धृत किये हैं। राजशेखर की काव्यमीमांसा में भी (पृ० १२) मेधाविरुद्र का नामोल्लेख है।

---

१ ये कारिकाएँ भामह के प्रकरण में आगे लिखी जायँगी।

अस्तु मेधावि अलङ्कारशास्त्र का एक प्राचीन लेखक अवश्य था और वह भामह के पूर्ववर्ती था, इससे अधिक इसके समय और ग्रन्थ के विषय में कुछ ज्ञात नहीं हो सकता है।

—:※:—

भट्टि

भट्टि का 'भट्टि-काव्य' या रावण-वध काव्य मुद्रित हो गया है। उसमे श्री रामचरित्र का वर्णन है। यद्यपि वह काव्य-लक्षण-निरूपक ग्रन्थ नही कहा जा सकता, तथापि,२२ सर्गात्मक इस ग्रन्थ के तीसरे प्रसन्न नामक काण्ड के १० से १३ तक चार सर्गों मे काव्य विषय का दिग्दर्शन कराया गया है। १० वे सर्ग मे ३८ अलङ्कारो के उदाहरण मात्र हैं—लक्षण नही। इसी प्रकार ११ वें सर्ग मे माधुर्य गुण का, १२ वे सर्ग मे भाविक अलङ्कार का और १३ वे सर्ग में भाषासम का निदर्शन मात्र है। अतएव इस वर्णन द्वारा भट्टि को ऐसे समय में, जब कि उस समय के ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं, साहित्याचार्यो के इतिहास मे स्थान दिया जाना आवश्‍।

भट्टि और भामह

भट्टि ने जिन अलङ्कारो के उदाहरण दिखलाये हैं, भामह के काव्यालङ्कार मे प्रायः वे ही अलङ्कार निरूपित है और उनका पूर्वापर क्रम भी प्रायः दोनो में समान है। दीपक, रूपक, अर्थान्तरन्यास, आक्षेप, तुल्ययोगिता और विरोध एवं कुछ अन्य अलङ्कारो के पूर्वापर क्रम में भिन्नता है। इसके सिवा भट्टि हेतु, वार्ता और निपुण के उदाहरण दिखाता है और प्रतिवस्तूपमा को नही दिखाता, जबकि भामह हेतु मे तो अलङ्कारत्व ही नही मानता है और वार्ता, एवं निपुण के विषय मे सर्वथा मौन है और प्रतिवस्तूपमा को उपमा के उपभेदों में लिखता है। भट्टि उदार अलङ्कार लिखता है और भामह उदात्त। यद्यपि दण्डी के काव्यादर्श के बहुत से अलङ्कारो के क्रम में भी भट्टि से समानता है, पर भामह की अपेक्षा भट्टि की दण्डी के साथ अधिक भिन्नता

है। दण्डी ने उपमा रूपक, उपमयोपमा, सन्देह, अनन्वय और उत्प्रेक्षावयव की उपमा के भेदों में गणना की है, जबकि भट्टि ने इन अलङ्कारों को पृथक् पृथक् दिखलाया है। भट्टि ने यमक कुछ विस्तार के साथ लिखा है. वह दण्डी के निरूपण से न्यून होने पर भी समता-सूचक है। जिस 'भाविक' अलङ्कारों को भामह और दण्डी दोनों ने—'भाविकत्वमितिप्राहुः प्रबन्ध विषयं गुणम्' ऐसा कह कर प्रबन्ध का विषय बताया है, भट्टि के काव्य में उसका १२ वे सर्ग के ८७ पद्यों में—प्रबन्ध रूप में निदर्शन कराया गया है, तथापि भट्टि के अलङ्कार-निदर्शन द्वारा यह स्पष्ट विदित होता है कि वह स्वतन्त्र प्रतिपादन है अर्थात् उसका विषय-क्रम, भामह और दण्डी दोनों ही से भिन्न प्रतीत होता है। अस्तु।

भट्टि और भामह इन दोनो में पूर्ववर्ती कौन है? इस विषय में विद्वानों ने बहुत कुछ विवेचन किया है, फिर भी वे इस विषय में कोई दृढ मत स्थिर नहीं कर सके हैं। भामह के काव्यालङ्कार के—

"काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्
उत्सवस्सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः।"

—कव्यालङ्कार परिच्छेद २।३०

इस श्लोक के साथ भट्टि के रावणवध काव्य के—

"व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सवस्सुधियामलम्
हता दुर्मेधसश्चास्मिन्विद्वत्प्रियचिकीर्षया।"

—भट्टिकाव्य सर्ग १२।३४

इस श्लोक में केवल रेखाङ्कित शब्द-साम्य ही नहीं, किन्तु ध्यान देने पर यह भी स्पष्ट विदित होता है कि इन दोनों श्लोको में एक के द्वारा दूसरे की स्पष्ट रूप में आलोचना भी की गई हैं। विदित तो यह होता है कि भामह ने अपने ग्रन्थ में जिस व्याख्यागम्य (क्लिष्ट) काव्य की रचना को अनादृत माना है, भट्टि ने अपने

ग्रन्थ में उस व्याख्यागम्य काव्य के विषय में भामह के मत की अवहेलना करते हुए ग्रन्थान्त में यह श्लोक लिखा है। किन्तु इसके विरुद्ध कुछ विद्वान् लेखकों का मत है कि भट्टि द्वारा अपनी ग्रन्थ-रचना-शैली की पुष्टि में लिखे हुए इस मत से भामह सहमत न होकर भामह ने ही भट्टि की आलोचना की है। इसीलिये भामह और भट्टि के पूर्वापर का विषय संदिग्ध माना जाता है। किन्तु हमारे विचार में तो भट्टि द्वारा भामह के मत की अवहेलना किया जाना ही संभव प्रतीत होता है। क्योंकि भामह ने यह श्लोक यमक और प्रहेलिका अलङ्कार दिखाकर ऐसे क्लिष्ट काव्य को अनभीष्ट बताते हुए केवल साधारणतया अपना मत प्रदर्शित किया है। किन्तु भट्टि ने जो भामह के 'उत्सवस्सुधियामेव' के स्थान पर 'उत्सवस्सुधियामलम्' लिखा है इसमें 'एव' के स्थान पर भट्टि ने 'अलम्' का प्रयोग किया है। भामह 'एव' के प्रयोग द्वारा व्याख्यागम्य काव्य को केवल विद्वानों के लिये आनन्द-प्रद और अल्प-मतिवालों के लिये दुर्बोध बतला कर क्लिष्ट काव्य को अनादृत मानता है। इसके विरुद्ध भट्टि कहता है कि—'विद्वत्प्रियचिकीर्षया' मैंने अपना काव्य विद्वानों के लिये ही जानबूझ कर व्याख्यागम्य (क्लिष्ट) बनाया है क्योंकि इस काव्य का विद्वानों को आनन्द-प्रद होना ही मेरे लिये 'अलम्'—पर्याप्त है—अल्पमति अपनी अज्ञता के कारण इस आनन्द से वञ्चित रहें तो रहें। अतएव भट्टि द्वारा प्रयुक्त 'अलम्' और—'विद्वत्प्रियचिकीर्षया' वाक्य बलात् हमें भट्टि को भामह का परवर्ती मानने के लिये वाध्य करते हैं। अस्तु यह बात तो भट्टि के ग्रन्थ से भी निश्चित होती है कि भट्टि के पूर्व अलङ्कारों के लक्ष्य लक्षण ग्रन्थ अवश्य थे और उन्हीं के अनुसार उसने अपने काव्य में अलङ्कारों का समावेश किया है। और यह भी प्रतीत होता है कि उस समय तक उन्हीं लगभग ४० अलङ्कारों से अधिक अलङ्कारों का आविष्कार नहीं हुआ था, जो कि भामह और दण्डी के समय तक मिलते हैं। और भरत के नाट्यशास्त्र में जब हम चार, अग्निपुराण में लगभग १५ और भट्टि से भामह, दण्डी तक लगभग ४० अलङ्कारों का निरूपण देखते हैं तो यह विकास-क्रम का आधार भी इनके सम्बन्ध में समय के पूर्वापर क्रम का बोध कराता है।

भट्टि का समय

भट्टि काव्य के—

"काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां श्रीधरसेननरेन्द्रपालितायाम्।
कीर्तिरतो भवतान्नृपस्य तस्य प्रेमकरः क्षितिपो यतः प्रजानाम्" ॥

इस अन्तिम पद से ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ वलभी के धरसेन राजा के समय में लिखा गया है। वलभी काठियावाड़ में है उसे अब 'वल' कहते हैं। वहां धरसेन नाम के चार राजाओं ने शासन किया है। उनमें किस धरसेन के राज्य-काल में भट्टि था यह निश्चित नहीं हो सका है। श्री बी० सी० मजूमदार भट्टि को मन्दसोर के सूर्य-मन्दिर के शिलालेख का लेखक बतलाते हैं, जो कि वत्सभट्टि के नाम से लिखित है। और कुछ विद्वान् भट्टि को वलभी के तीसरे धरसेन राजा का दानपात्र[1] कप के पुत्र भट्टिभट्ट से अभिन्न बतलाते हैं। डा० हलट्स (Hultzsch) ने इस कल्पना का भी खण्डन किया है[2]। जो कुछ हो, वलभी के इन चारों धरसेन राजाओं का समय लगभग सन् ५०० से ६५० ई० तक है, क्योंकि दूसरे धरसेन का शासन सम्बन्धी लेख २५२ वलभी संवत्सर (५७१ ई०) का है। और इसके पिता ध्रुवसेन का दानपत्र वलभी सं० २०७ अर्थात् ५२६ ई० का। प्रथम धरसेन का समय संभवतः ५०० ई० का कहा जाता है। और चौथे धरसेन का लेख वलभी स० ३३० (सन् ६४८ या ६४९ ई०) का है, अतएव भट्टि का समय सन् ५०० से ६५० ई० तक डेढ़ सौ वर्ष के मध्य में होना संभव है।

भामह और उसका काव्यालङ्कार

उपलब्ध काव्य-नियम ग्रन्थों में नाट्य-शास्त्र और अग्निपुराण के पश्चात अलङ्कार शास्त्र पर लिखने वाला आचार्य भामह और उसका काव्यालङ्कार ही प्रथम दृष्टिगत होता है।

१, देखो जरनल आव द रायल एशियाटिक सोसाइटी १९०४ पृ० २९५-९७ और १८०९ पृ० ४३५।

२, इपी० इण्डिका पृ० १२।

भामह का परिचय

भामह के व्यक्तिगत परिचय के लिये उसके काव्यालङ्कार के—

सुजनावगमाय भामहेन प्रथितं रक्रिलगोमिसूदनुनेदम्'।
(६।६४)

इस अन्तिम पद्य के अतिरिक्त अन्य कोई साधन प्राप्त नहीं है। और इसके द्वारा इतना ही ज्ञात हो सकता है कि वह रक्रिलगोमि का पुत्र था। रक्रिल शब्द के प्रयोग द्वारा और भामह ने ग्रन्थारम्भ के मङ्गलाचरण मे 'सार्व' को प्रणाम किया है उसके द्वारा श्री एम० टी० नरसिंह हिंगर और श्री के० जी० पाठक आदि ने इसे बौद्ध कल्पना किया है[1]। किंतु इस कल्पना का अन्य लेखकों ने खण्डन भी किया है[2] अस्तु। भामह बौद्ध था या ब्राह्मण, इसके लिये अधिक विवेचन निष्प्रयोजनीय है। यहाँ हमको इसके काव्यग्रन्थ और समय पर ही विचार करना आवश्यक है। भामह काश्मीरी था यह तो सभी लेखक निर्विवाद स्वीकार करते हैं।

भामह का ग्रंथ

भामह का बहुत समय तक तो केवल अन्य ग्रन्थों में नामोल्लेख ही दृष्टिगत होता था—इसका ग्रन्थ अप्राप्य था। फिर इसका काव्यालङ्कार केवल 'प्रतापरुद्र-यशोभूषण' के परिशिष्ट में मुद्रित हुआ था। हर्ष है कि अब वह स्वतंत्र भी मूल मात्र काशी संस्कृत सीरीज मे प्रकाशित हो गया है। यह ग्रन्थ छः परिच्छेदों मे विभक्त है—

१ प्रथम परिच्छेद में काव्य-प्रशंसा, काव्य-साधन, काव्य लक्षण, काव्य-भेद और काव्य के दोषों का निरूपण है।

२-३ परिच्छेदों मे अनुप्रास से आशी तक ३८ अलङ्कार हैं, जिनमें संसृष्टि भी है। यदि लाटानुप्रास और प्रतिवस्तूपमा, जिनको भामह ने क्रमशः अनुप्रास

---

१ देखो जरनल आव द रायल एशियाटिक सोसाइटी १९०५ पृ० ५३५, ७४५ और इण्डियन एंटिक्वायरी १९१२ पृ० २३५।

२ देखो जरनल आव द रायल एशियाटिक सोसाइटी १९०८ पृ० ५४३।

और उपमा के भेदों में दिखाये हैं, पृथक् गणना किये जायें तो ४० अलङ्कारों का निरूपण है।

४-५-६ चौथे परिच्छेद में दश दोषों का, पाँचवें में शेष ग्यारहवें दोष न्याय विरोधी का, और छठे में शब्द-शुद्धि विषयक शिक्षा का निरूपण है।

यह ग्रन्थ लगभग ४०० श्लोकों का एक छोटा ग्रन्थ है, किन्तु इसका महत्व इसी से अनुमान किया जा सकता है कि भामह के परवर्ती उद्भट, आनन्दवर्धना-चार्य, अभिनवगुप्ताचार्य और मम्मटाचार्य जैसे प्रायः सभी सुप्रसिद्ध महान् साहित्या-चार्यों ने अपने अपने ग्रन्थ में इसके सिद्धान्तों को बड़े गौरव के साथ उद्धृत किया है। भामह को थोड़े ही समय में उसके निकट के परवर्ती विद्वत्-समाज में कितनी बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई थी, जिसका महत्वपूर्ण प्रमाण यही है कि उद्भा-टाचार्य, जो काश्मीर के जयापीड राजा के विद्वत्परिषद् के सभापति थे, और राजतरङ्गिणी में कल्हण के कथनानुसार जिनकी प्रति दिन की दक्षिणा एक लक्ष दीनार (सुवर्ण-मुद्रा) नियत थी, उन्होंने भामह के काव्यालङ्कार पर 'भामह विव-रण' नामक व्याख्या की है, जिसका उल्लेख उद्भटाचार्य के काव्यालङ्कारसार संग्रह नामक ग्रन्थ की लघुवृत्ति नामक व्याख्या में प्रतिहारेन्दुराज ने (पृ० १४ भण्डारकर संस्करण) किया है। और उद्भटाचार्य ने अपने काव्यालङ्कार सार-संग्रह में भामह के काव्यालङ्कार से बहुत कुछ सामग्री भी ली है, जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायगा। खेद है कि वह—भामह विवरण अप्राप्य है, यदि वह प्राप्त होता तो भामह और उसके काव्यालङ्कार के विषय में बहुत कुछ नवीन परिचय प्राप्त हो सकता था। अस्तु।

ईसवी सन् के प्रारम्भ के बाद अलंकार-शास्त्र का लेखक भामह ही उपलब्ध होता है अतएव अलंकार सम्प्रदाय के प्रधानाचार्य के रूप में भामह ही हमारे सन्मुख आता है। तथापि हम भामह को अलंकार सम्प्रदाय का प्रवर्तक या प्रथम-लेखक नहीं कह सकते, क्योंकि काव्यालंकार के—

'रूपकादिरलङ्कारस्तथान्यैर्बहुधोदितः ॥'

'नाटकं द्विपदी शम्यारासकस्कन्धकादियत्।

(१।१३)

उक्तं तदभिनेयार्थमुक्तोऽन्यैस्तस्य विस्तरः ॥'

(१।२४)

'कवेरभिप्रायकृतैः कथानैः कैश्चिदङ्किता।'

(१।२७)

'वैदर्भमन्यदस्तीति मन्यते सुधियोऽपरे।'

(१।३१)

'अनुप्रासः सयमको रूपकं दीपकोपमे।
इति वाचामलङ्काराः पञ्चैवान्यैरुदाहृताः ॥'

(२।४)

'ग्राम्यानुप्रासमन्यत्तु मन्यन्ते सुधियोऽपरे।'

(२।६)

'लाटीयमप्यनुप्रासमिहेच्छन्त्यपरे यथा।'

(२।८)

'प्रहेलिका सा ह्युदिता रामशर्माच्युतोत्तरे।'

(२।१९)

'यदुक्तं त्रिप्रकारत्वं तस्याः कैश्चिन्महात्मभिः।'

(२।३७)

'त एत उपमादोषाः सप्त मेधाविनोदिताः।'

(२।४०)

'दृष्टं वा सर्वसारूप्यं राजमित्रे यथोदितम्।'

(२।४५)

'आक्षेपोऽर्थान्तरन्यासो व्यतिरेको विभावना।

समासातिशयोक्ती च षडलङ्कृतयोऽपरा:।'

(२।६६)

'संख्यानमिति मेधाविनोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित्।'

(२।८८)

'स्वभावोक्तिरलङ्कार इति केचित्प्रचक्षते।'

(२।९३)

इन अवतरणों से स्पष्ट है कि भामह ने स्वयं अपने पूर्ववर्ती अनेक साहित्य के लेखकों का उल्लेख किया है। इसके द्वारा यह भी सिद्ध होता है कि जिन आचार्यों ने विभिन्न काल मे जितने जितने अलंकार अपने अपने ग्रन्थ में प्रदर्शित किये थे, उसी के अनुसार भामह ने पृथक् पृथक् वर्ग में नियत अलंकारों का समावेश करके उनको दिखाये हैं। जैसे उसने 'अनुप्रासः सयमकौ' इत्यादि (२।४) कह कर प्रथम वर्ग में अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक और उपमा यही पाँच अलंकार दिखलाये हैं—'पञ्चैवान्यैरुदाहृताः' (२।४) इस वाक्य के 'पञ्चैव' पद से स्पष्ट है कि जिसके मत से ये पाँच अलङ्कार दिखलाये हैं, उस आचार्य ने केवल यही पाँच अलंकार निरूपण किये थे। इसके द्वारा यह भी प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक काल में भरतमुनि ने नाट्य-शास्त्र मे जो चार अलंकार—उपमा, दीपक, रूपक और यमक दिये हैं, उसी मत के अनुसार किसी अज्ञात आचार्य के ग्रन्थ के आधार पर संभवतः भामह ने प्रथम वर्ग में इन पाँचों का समावेश किया है। नाट्य-शास्त्र में उल्लिखित चारों में यमक के साथ अनुप्रास और लगा दिया गया है जो कि यमक का सजातीय है, भामह ने भी 'अनुप्रासः समयकौ' ऐसा कह कर इनका सजातीय होना सूचन किया है। फिर २।६६ मे आक्षेपादि छः अलङ्कार किसी दूसरे आचार्य द्वारा निरूपित एक वर्ग में रखे गये हैं। इसी प्रकार २।८६, ८७ में भामह अन्य किसी आचार्य के निरूपित सूक्ष्म, लेश और वार्ता अलंकारो का खण्डन करता है। केवल अलंकारों के विषय में ही नहीं, 'रीति' प्रकरण में भी अपने पूर्ववर्ती किसी आचार्य की मानी हुई वैदर्भी रीति की भी वह (१।३५ में)

आलोचना करता है। अलंकारों के दोषों के विषय में भी मेधावी (२।४०), राजमित्र (२।४५), शाखवर्द्धन (२।४७) और रामशर्मा का (२।५८); तथैव गुण प्रकरण मे 'सुमेधसः' (२।१) केचित् (२।२) का उल्लेख है। इसके बाद—

'अत्रापि बहुवक्तव्यं जायते तत्तु नोचितम्।
गुरुभिः किं विवादेन यथा प्रकृतमुच्यते ॥'

—४।७

इस पद्य मे 'गुरुभिः' एक महत्व-सूचक प्रयोग है। इसके द्वारा विदित होता है कि भामह एक ऐसे आचार्य की आलोचना भी करता है, जिसे वह अपना पूज्य मानता था। निष्कर्ष यह है कि काव्यालंकार द्वारा स्पष्ट ज्ञात होता है कि भामह के प्रथम काव्य के अलंकार, रीति, गुण और दोष आदि साहित्य के सभी अङ्गों पर महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये थे। इसकी पुष्टि भामह के—

'इति निगदितास्तास्ता वाचामलङ्कृतयो मया।
बहुविधकृतीर्दृष्ट्वाऽन्येषां स्वयं परितर्क्य च' ॥

—५।६९

इस पद्य से भी होती है। वे ग्रन्थ यद्यपि इस समय अनुपलब्ध हैं, किन्तु उनका महत्व इसी से प्रकट है कि भामह जैसे उद्भट विद्वान् ने उनमें किसी के मत को मान्य किया है और किसी की आलोचना की है। इस पद्य द्वारा यह भी प्रतीत होता है कि भामह ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का केवल अनुसरण मात्र ही नहीं किया है, किन्तु संभवतः कुछ अलङ्कारों का नवाविष्कार भी किया है।

भामह ने काव्यालंकार के सिवा कोई अन्य ग्रन्थ लिखे या नहीं यह भी संदिग्ध है। यद्यपि अभिज्ञानशाकुन्तल की अर्थद्योतनिका नामक टीका में राघव भट्ट ने दो स्थलों पर भामह के नाम से दो पद्य उद्धृत किये हैं, किन्तु वे काव्या-लङ्कार मे नहीं मिलते। वृत्तरत्नाकर की टीका मे नारायण भट्ट ने भी 'तदुक्तं भामहेन' कहकर उद्धरण दिये है। और वररुचि की सूत्र-बद्ध व्याकरण की टीका

प्राकृतप्रकाश में भी भामह के नाम से उद्धरण है। डा० पिटरसन[1] और मि० पिशल[2] भामह नाम के दो लेखक बतलाते हैं। संभव है राघव भट्ट आदि द्वारा उल्लिखित भामह, काव्यालङ्कार के प्रणेता भामह से भिन्न हो। अस्तु।

भामह का समय

भामह के काल-निर्णय पर साहित्यिक लेखकों में बड़ा प्रबल आन्दोलन हो रहा है। पर खेद है कि अद्यापि निश्चयात्मक कोई भी मत स्थिर नहीं हो सका है। प्रथम हम भामह की अन्तिम सीमा पर कुछ विचार प्रकट करते हैं—

भामह और उद्भट

उद्भट आचार्य ने भामह के काव्यालङ्कार पर भामह विवरण नामक व्याख्या ही नहीं कि है किन्तु अपने काव्यालङ्कारसारसंग्रह में आक्षेप, विभावना अतिशयोक्ति, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, रसवत्, पर्यायोक्त, अपह्नुति, विरोध, अप्रस्तुतप्रशंसा, सहोक्ति, सन्देह, और भाविक इन अलङ्कारों की जो परिभाषाएँ दी हैं, वे प्रायः अक्षरशः भामह के काव्यालङ्कार से ली हैं—कहीं कहीं ही दो-चार अक्षरों का परिवर्तन किया है। अतएव उद्भट से, जो काश्मीर के राजा जयापीड की विद्वत्सभा का सभापति था और जिसका समय सम्भवतः सन् ८०० ई० के पूर्व है, भामह का पूर्ववर्ती होना निर्विवाद है।

भामह और वामन

काव्यालंकार सूत्र ग्रन्थ का प्रणेता वामन भी संभवतः भामह से परिचित था। क्योंकि भामह ने उपमा की परिभाषा—

> 'विरुद्धेनोपमानेन देशकालक्रियादिभिः
> उपमेयस्य यत्साम्यं गुणलेशेन सोपमा'॥
>
> —का० लं० २।३०

1 देखो सुभाषितावली पृ० ७९।

2 देखो पिशल का रुद्रट पृ० ६८।

यह दी है। वामन का—

'उपमानेनोपमेयस्य गुणलेशतः साम्यमुपमा'।

—का० लं० सू० ४।२।१

यह सूत्र भामह के उपर्युक्त पद्य के उत्तरार्द्ध के सर्वथा समान है। फिर भामह के—'मदो जनयति प्रीतिं सानङ्ग मानभगुरम्' (२।२७) इस पद्यार्द्ध के एक भाग 'मानभंगुरम्' के विषय मे वामन ने ५।२।३८ के सूत्र की वृत्ति में लिखा है—"मातङ्गं मानभंगुरम्। इत्यादयो प्रयोगा दृश्यन्ते"। किन्तु इसके द्वारा भामह के समय-निर्णय पर उद्भट की अपेक्षा अधिक प्रकाश नही पड सकता, क्योंकि वामन का समय भी लगभग उद्भट के समकालीन है।

भामह और दण्डी

भामह और दण्डी इन दोनो मे कौन पूर्ववर्ती है? इस विषय मे बड़ा मतभेद है। श्री नृसिहाचार्य आयगर—जो भामह के काव्यालंकार की हस्तलिखित प्रति को प्रथम उपलब्ध करने के यशोभागी है, दण्डी को भामह का पूर्ववर्ती बताते है[1]। किन्तु प्रो० पाठक[2], एस० के० दे[3], मि० जेकोबी तथा श्री त्रिवेदी आदि भामह को दण्डी का पूर्ववर्ती बताते है। यद्यपि श्री पाठक भी पहिले श्री नृसिहाचार्य से सहमत थे, पर उन्होने पीछे अपना मत परिवर्तन कर दिया है। और श्री पी० वी० काणे[4] संदिग्ध रूप मे दंडी को पूर्ववर्ती मानते हैं। यद्यपि दण्डी का समय भी निर्णीत नही है, किन्तु यह प्रश्न यहाँ इसलिये उपस्थित

---

१ देखो जरनल आफ द रायल एशियाटिक सोसाइटी सन् १९०५ पृ० ५३५।

२ देखो जनरल बांबे ब्रांच रायल एशियाटिक सोसाइटी पुस्तक २३ पृ० १९ और इंडियन एंटिक्वायरी सन् १९१२ पृ० २३६।

३ देखा दे बाबू लिखित संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० ६९।

४ देखो श्री काणे के साहित्यदर्पण की अंग्रेजी भूमिका, द्वितीय संस्करण पृ० २६—४०।

होता है कि भामह और दण्डी की बहुत सी कारिकाओं में अक्षरशः साम्य है। जैसे—

	भामह	दण्डी	
१ 'सर्गबन्धो महाकाव्यं'।	१।१९	१।१४	
२ 'मंत्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैश्च यत्'।	१।२०	१।१७	'भ्युदयैरपि'
३ 'कन्याहरणसंग्रामविप्रलंभोदयान्विताः'।	१।२७	१।२९	'दयादयः'।
४ 'अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते। कालेनैषा भवेत् प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः'॥	३।५	२।२७६	

(यह पद्य दोनों ने ही 'प्रेय' अलङ्कार के उदाहरण में रक्खा है)

५ 'भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयंगुणम्'।	३।५२	२।३६४	'तद्भाविक'
६ अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम् शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसंधि च'॥	४।१	३।१२५	'विसंधिकं'
७ 'समुदायार्थशून्यंयत्तदपार्थकमिष्यते'	४।८	३।१२८	'मितीष्यते'
८ 'गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः'।	२।८७	२।२४४	
९ 'आक्षेपोऽर्थान्तरन्यासो व्यतिरेको विभावना	२।६६	२।४	

इन अवतरणों में समानता होने के कारण यह धारणा होना स्वाभाविक है कि इन दोनों में एक ने दूसरे के ये वाक्य लिये हैं। इनमें तीसरी संख्या के अवतरण को भामह ने (१।२३ से १।२७ तक) कथा और आख्यायिका को भिन्न भिन्न बतलाते हुए कहा है। पर दण्डी कथा और आख्यायिका को एक ही बताता है —

'तत्कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञा • द्वयान्विता।
अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः' ॥
—काव्यादर्श १।२८-२९

इस पर कुछ विद्वानों का मत है कि यह दण्डी द्वारा भामह की आलोचना है। यद्यपि इसमे मतभेद है, किन्तु हमारे विचार में यही एक क्यों अन्य आधारो से। भी इस विषय में सहायता मिलती है, जिनपर संभवतः अन्य विद्वानों ने अधिक विवेचन नही किया है। जैसे भामह के ग्रन्थ में जितने अलंकार निरूपित हैं, वे पृथक् पृथक् वर्गों में विभक्त हैं। और वह विभाग किसी दार्शनिक सिद्धान्त के आधार पर अथवा अलङ्कारो के सजातीय चमत्कार पर नही किया गया है— जैसा कि भामह के परवर्ती रुद्रट ने औपम्य, वास्तव, विरोध और स्वभाव इन चार वर्गों में किया है। किन्तु भामह ने संभवतः अपने पूर्ववर्ती आचार्यों मे जिनका कि उसने प्रायः स्पष्ट नामोल्लेख नही किया है, जिस जिस आचार्य ने विभिन्न समय मे जितनी सख्या के अलकारों का निरूपण किया था उन्हे एक एक वर्ग मे पृथक् पृथक् रक्खा है। किन्तु दण्डी ने जितने अलंकारो का निरूपण किया है, उनका नामोल्लेख द्वितीय परिच्छेद के प्रारम्भ में एक ही साथ करते हुए कह दिया है कि—

'किन्तु बीजविकल्पानां पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितम्।
तदेव प्रतिसंस्कर्तुमयमस्मत् परिश्रमः' ॥
—का० द० २।२

इससे यद्यपि दण्डी ने भी 'पूर्वाचार्यैः' के प्रयोग द्वारा अनेक आचार्यो द्वारा अलंकारो का निरूपण किया जाना बताया है, किन्तु इन दोनो की लेखन-शैली के क्रम द्वारा हम कम से कम यह अनुमान कर सकते हैं कि भामह ने जो जो अलकार दिखाये हैं, वे उसके समय में अनेक ग्रन्थों मे पृथक् पृथक् बिखरे हुए थे, उनको उसने एकत्र लिखकर प्रत्येक आचार्य के निरूपित अलंकारों का पृथक्-पृथक् वर्ग मे समावेश किया है जैसा कि पहिले दिखाया गया है। और उसने उनको

अधिक परिष्कृत न करके' या विस्तृत रूप में न दिखाकर उसी रूप में बताया है। अतएव यह बात भामह की प्राचीनता की परिचायक है। किन्तु दण्डी के ग्रन्थ में अलंकारों का परिष्कार एव भेद और उपभेदों द्वारा उनका विस्तार किया जाना प्रत्यक्ष दृष्टि-गत होता है, जैसा कि उसने स्वयं उपर्युक्त कारिका में कहा है। इसके अतिरिक्त भामह अपने पूर्ववर्ती किसी आचार्य के निरूपित हेतु, सूक्ष्म और लेश अलंकारों की आलोचना करता हुआ, यह कहता है कि—

'गतोस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते'॥

—भा० का० लं० २।८७

और दण्डी का—

'गतोस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इतीदमपि साध्वेव कालावस्थानिवेदने'॥

—का० द० २।२४४

इस पद्य के उत्तरार्द्ध में यह कहना कि—'इस प्रकार काल, अवस्था के सूचन में ऐसा वर्णन भी उचित ही है'। संभवतः यह सूचन करता है कि भामह ने जिस 'हेतु' को न मानकर इस उदाहरण पर आक्षेप किया है, दण्डी ने उसी हेतु अलंकार का वही उदाहरण दिखाकर भामह के आक्षेप का समाधान किया है। यदि ऐसा न माना जाय तो प्रश्न होता है कि दण्डी ने अन्य किसी भी अलङ्कार के उदाहरण के विषय में ऐसा समाधान नहीं किया, फिर इसी के विषय में वही उदाहरण दिखलाकर समाधान करने की उसे क्या आवश्यकता थी ? और देखिये, भामह 'वैदर्भी' और 'गौड़ी' रीति (या मार्ग) में कुछ भिन्नता स्वीकार नहीं करता, यही नहीं, उसने इन दोनों में भिन्नता मानने वालों पर बड़ा तीव्र आक्षेप भी किया है—

'गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक्।
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम्'॥

—भामह का० लं० १।३२

किन्तु दण्डी इसके विरुद्ध कहता है कि परस्पर में अल्प भेद रखनेवाले तो काव्य-मार्ग अनेक हैं पर वैदर्भी और गौडी ये दो मार्ग ऐसे हैं जिनमें स्पष्ट भिन्नता है—

'अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम् ।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ' ॥

—का० द० १।४०

फिर दण्डी ने अपने इस मत को उदाहरण दिखलाकर भी स्पष्ट किया है। वह सभवतः भामह की आलोचना है। यदि ऐसा न माना जाय तो दण्डी को इस विषय पर इतना अधिक लिखने की आवश्यकता ही क्या थी ? यद्यपि यह कल्पना मात्र है, पर महत्वपूर्ण अवश्य है।

अन्य विद्वानो ने भामह और दण्डी के विषय में और भी बहुत सी बातो पर अपने अपने मत की पुष्टि के लिये युक्तियाँ देकर विस्तृत विवेचन किया है। वह विद्वत्तापूर्ण होने पर भी असंदिग्ध नही–उनके द्वारा कोई विश्वसनीय निष्कर्ष नही निकल सकता, अतएव उनपर अधिक लिखकर विस्तार करना अनावश्यक है। संक्षेप में यही कह सकते हैं कि संभवतः भामह के ग्रन्थ से दण्डी परिचित था और उसकी वह अवहेलना न कर सका। इस मत से दण्डी के प्रायः सभी टीकाकार—तरुण वाचस्पति[1], हरिनाथ[2], वादि जंघाल[3] आदि सहमत हैं। अतएव दण्डी से भामह को पूर्ववर्ती मानना ही अधिकाश मे उचित प्रतीत होता है।

भामह और बाण

ध्वन्यालोक के चतुर्थ परिच्छेद मे एक कारिका है—

---

१ देखो काव्यादर्श पर तरुणवाचस्पति की टीका १।१, २३, २४, २९, और २।२३५, २३७, २५८ एवं ४।४।

२ देखो काव्यादर्श पर हरिनाथ की टीका १।७५

३ देखो काव्यादर्श पर वादि जघाल की टीका १।२१, ५२।

'दृष्टपूर्वा ह्यपिह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात् ।
सर्वे नवा इवा भान्ति मधुमास इव द्रुमाः ॥

—ध्वन्या० ४।४, पृ० २२१

इसकी वृत्ति मे स्पष्टता करते करते हुए बहुत उदाहरण दिये गये हैं, जिनमे एक यह भी है—

'यथा–धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः' इत्यादौ
शेषो हिमगिरिस्त्वं च महान्तो गुरवः स्थिराः ।
यदलंघितमर्यादाश्चलन्तीं बिभ्रते भुवम् ॥
इत्यादिषु सत्स्वपि तस्यैवार्थशब्दशक्त्युद्भवानु-
रणनरूपव्यङ्ग्यसमाश्रयेण नवत्वम्' ।

—ध्वन्यालोक पृ० २२६

इस अवतरण में–'शेषो हिमगिरि' इत्यादि पद्य भामह के काव्यालङ्कार (३।२८) में तुल्ययोगिता अलकार के उदाहरण में दिया गया है। और इसके ऊपर वाला–'धरणीधारणा' इत्यादि, बाण के श्री हर्षचरित मे है। ध्वन्यालोक के मतानुसार भामह के अर्थ को बाण ने प्रकारान्तर से कहा है। अतएव श्री आनन्दवर्धनाचार्य के इन वाक्यों द्वारा भामह का बाण से पूर्व होना निस्सन्देह सिद्ध होता है। महाकवि बाण का समय श्री हर्षवर्धन के राज्य-काल में सप्तम शताब्दी है, इसके द्वारा भामह का समय ईसवी की सप्तम शताब्दी के पूर्व सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त भट्टि के प्रकरण मे पूर्वोल्लिखित भामह के "काव्यान्यापि यदीमानि"–(काव्यालंकार २।२०) इस पद्य के आधार पर की गई विवेचना से भी, जो कि हमारे विचार मे सारगर्भित है, भामह का समय लगभग छठी शताब्दी के बाद का कदापि संभव नही प्रतीत होता।

न्यासकार और भामह

भामह की पूर्व सीमा के विषय मे 'शिष्टप्रयोगमात्रेण न्यासकारमतेन वा' (६।३६) इस पद्य मे न्यासकार का उल्लेख होने से श्री के० बी० पाठक 'न्यासकार' का प्रयोग जिनेन्द्र बुद्धि के लिये किया गया बतलाते है, जिनका समय सन

७०० ई० कहा जाता है। किन्तु श्री त्रिवेदी इस मत से सहमत नही[1] क्योंकि न्यासकार केवल जिनेन्द्र बुद्धि ही नही कहा जा सकता, जब कि माधवाचार्य ने धातुवृत्ति में क्षेमेन्द्र न्यास, न्यासोद्योत बोधिन्यास और शाकटायन न्यास आदि अनेक न्यासकारो का उल्लेख किया है। महाकवि बाण ने भी—जो निर्विवाद न्यासकार जिनेन्द्र बुद्धि से पूर्ववर्ती था, हर्षचरित में–'कृतगुरुपदन्यास' इस वाक्य मे न्यास का उल्लेख किया है। अतएव श्री पाठक की यह कल्पना नितान्त अनाधार है। इस विषय मे अन्य विद्वानो द्वारा अधिक विवेचना की गई है, पर उसके द्वारा यहाँ कुछ सन्तोषप्रद सहायता नही मिल सकती।

भामह और धर्मकीर्ति

भामह के काव्यालकार मे न्याय विषयक विवेचना में किसी अश मे धर्मकीर्ति के साथ समानता प्रतीत होती है। भामह ने अनुमान की परिभाषा—

'त्रिरूपालिङ्गतो ज्ञानमनुमानं च केचन।
तद्विदो नान्तरीयार्थदर्शनं चापरं विदुः'॥

—भा० का० लं० ५।११

यही दी है। डा० जेकोबी का मत है कि "धर्मकीर्ति ने 'न्यायबिन्दु' मे अनुमान की जो—'अनुमान द्विधा स्वार्थं परार्थ च। तत्र स्वार्थं त्रिरूपलिङ्गात् यदनुमेये ज्ञान तदनुमानम्'। यह स्पष्टता की है, इसीपर भामह की उपर्युक्त परिभाषा अवलम्बित है।" किन्तु इसके द्वारा यह सिद्ध नही हो सकता कि भामह ने यह धर्मकीर्ति से ली है, क्योंकि भामह की कारिका का उत्तरार्द्ध न्यायवार्तिक की टीका मे वाचस्पति मिश्र ने दिङ्नाग के नाम से उद्धृत किया है। यही नही, भामह तथा दिङ्नाग के पूर्ववर्ती न्यायाचार्यो ने भी अनुमान के विषय में इसी प्रकार लिखा हैं। दूसरी समानता भामह के 'दूषणं न्यूनताद्युक्ति' (का० ल० ५।२८) इस वाक्य के धर्मकीर्ति के 'दूषणानि न्यूनताद्युक्ति' (न्यायविन्दु पृ० १३२) इस

१ देखो इंडियन एंटिक्वायरी सन् १९१३ पृ० २६१

वाक्य में है। और तीसरी समानता भामह के—'जातयो दूषणाभासाः' (का० लं० ५।२९) इस वाक्य से धर्मकीर्ति के—'दूषणाभासास्तु जातयः' (न्याय वि० पृ० १३३) इस वाक्य के साथ है। किन्तु प्रश्न यहाँ यह है कि क्या धर्मकीर्ति के दिये हुए ये लक्षण उसके मौलिक (नवीन) हैं, जब कि दूषण और जाति दोनों ही विषयों से उसके पूर्वाचार्य भी परिचित थे। न्याय-प्रवेश में भी ऐसे ही लक्षण हैं[1]। अतएव इन समानताओं से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि भामह ने धर्मकीर्ति से ही न्याय विषयक ये लक्षण लिये हैं। श्री काणे का मत है कि संभवतः भामह ने यह विषय दिङ्नाग से लिया है। दिङ्नाग का समय डा० सतीशचन्द्र के मत से सन् ५०० ई० के लगभग है[2]। यदि यह कल्पना ठीक हो तो भामह का समय सन् ५०० ई० के बाद का हो सकता है।

भामह और महाकवि भास, कालिदास तथा मेधावि आदि

भामह ने अपने पूर्ववर्ती काव्य-शास्त्र के आचार्यों में कुछ का स्पष्ट नामोल्लेख और कुछ का अस्पष्टतया उल्लेख किया है। उनमें व्याकरणाचार्य श्री पाणिनि का नामोल्लेख भी स्पष्ट किया है—'श्रद्धेयं जगति मतं हि पाणिनीयम्' (६।६३) और संभवतः भरतमुनि के विषय में (१।२४) और महर्षि पतञ्जलि के विषय में (६।२१) भी उल्लेख है। गुणाढ्य, भास और कालिदास का यद्यपि भामह ने स्पष्ट नामोल्लेख नहीं किया है, पर उनकी कृति पर तो भामह ने प्रत्यक्ष आलोचना की है। भास की स्वप्नवासवदत्ता की भूमिका में पं० गणपति शास्त्री ने भामह को भास का परवर्ती और कालिदास तथा बृहत्कथाकार गुणाढ्य का पूर्ववर्ती कल्पना किया है। किन्तु यह कल्पना भ्रमात्मक है। भामह ने न्याय-विरोधी दोष प्रकरण में (४।३९-४७) वत्सराज की कथा पर आलोचना की है। यह कथा भास के 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' नाटक और गुणाढ्य की

१ देखो विद्याभूषण की हिस्ट्री आफ इंडियन लाजिक पृ० २९८।

२ देखो भंडारकर com जिल्द १ पृ० १६३

बृहत्कथा दोनों मे है। किन्तु भास ने यह प्रकरण जिस ढङ्ग से लिखा है, उसके साथ भामह के आक्षेप का सम्बन्ध प्रतीत नही हो सकता। क्योंकि भामह ने जो आक्षेप किये हैं उनका परिहार भास के वर्णन में स्पष्ट दृष्टिगत होता है अतः वह आक्षेप गुणाढ्य के सम्बन्ध में ही लागू हो सकता है। फिर भामह ने—

'अयुक्तिमद्यथा दूता जलभृन्मारुतादयः।[1]
तथा भ्रमरहारीतचक्रवाकशुकादयः॥
अवाचोऽव्यक्तवाचश्च दूरदेशविचारिणः।
कथं दौत्यं प्रपद्येरन्निति 'युक्त्या न युज्यते॥
यदि चोत्कण्ठया तत्तदुन्मत्त इव भाषते।
तथा भवतु भूम्नेदं सुमेधोभिः प्रयुज्यते॥

—भा० का०लं० १।४२-४३-४४

इसमें प्रथम के दो पद्यों में मेघ, पवन, भ्रमरादि पक्षियो की दूतकल्पना पर आक्षेप किया गया है। पं० गणपति शास्त्री कहते हैं कि इसमें केवल युक्तयुक्ता पर विचार किया गया है—कालिदास के मेघदूत से भामह परिचित न था। किन्तु यह किस प्रकार संभव है—जबकि कालिदास द्वारा मेघ की कल्पना में—'इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे' और 'कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु' इत्यादि जो कारण मेघ की दूत-कल्पना में बताये गये हैं, भामह ने उन्ही 'यदि चोत्कण्ठया' और 'तदुन्मत्त' इत्यादि शब्दों से ऊपर के अवतरण के तीसरे पद्य मे इस दोष की उपेक्षा की है। इससे स्पष्ट है कि मेघ की दूत-कल्पंना में जो कालिदास ने 'उत्कण्ठा' आदि कारण बतलाये हैं, वे भामह को उचित प्रतीत हुए, इसीसे उसने केवल 'सुमेधोभिः प्रयुज्यते' यही कह कर समाधान कर दिया है। काव्यालकार की भूमिका मे श्री बटुकनाथ एम० ए० और श्री बलदेव उपाध्याय एम० ए० ने कालिदास और भामह के सम्बन्ध में इसी प्रसंग के विषय में

१ पाठान्तर—जलभृन्मारुतेन्दवः।

यह तर्क किया है कि 'भामह ने कालिदास का अनुसरण किया तो इस एक ही प्रसंग में क्यों, अन्य किसी विषय में क्यों नही ?' । किन्तु इस तर्क का प्रथम तो इस प्रसग में कुछ प्रभाव ही नहीं हो सकता, जबकि भामह न्यायविरोधी दोषों के विषय पर अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की काव्य-कृति पर आलोचना कर रहा है, संभव है भामह की दृष्टि में कालिदास के वर्णित अन्य प्रसंगों में उसे कुछ आलोचनीय प्रतीत न हुआ हो, इस तर्क का यही उत्तर पर्याप्त है। इसके अतिरिक्त भामह के ग्रन्थ मे कालिदास के ग्रन्थों की छाया और भी अनेक स्थलों पर प्रत्यक्ष देखी जाती है—

भामह	कालिदास
'मार्जन्त्यधररागं ते पतन्तो वाष्प- विन्दवः' । (६।२१)	'हृतोष्ठरागैर्नयनोदविन्दवः' विक्रमो० अ० ४
'जानुदघ्नी सरिन्नारी नितम्बद्वय- संसरः' (६।५५)	'नारी नितम्बद्वयसम्बभूव' ।
'अयं मन्दद्युतिर्भास्वा- नस्तं प्रतियियासति । उदयं पतनायेति श्रीमतोबोधयन्नरान्' ॥ —२।२४	'यात्येकतोऽस्तशिखरं पति- रोषधीनामाविष्कृतोऽरुणपुर- स्सर-एकतोऽर्कः तेजोद्वयस्य युगपद् व्यस- नोदयाभ्या लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु ॥ —शाकु० अङ्क ४।२

इस विषय की अधिक स्पष्टता हमने अपने हिन्दी मेघदूत-विमर्श की भूमिका (पृ० ७५-८०) में की है। अतएव स्पष्ट है कि भामह, कालिदास का परवर्ती है। और संभवतः भामह की पूर्व सीमा कालिदास के समय पर ही निर्भर हो सकती है। किन्तु कालिदास का समय भी अत्यन्त जटिल और संदिग्ध है। इस विषय मे विद्वान् लेखक दो श्रेणी में विभक्त है। एक श्रेणी के विद्वान् इनको

ईसवी सन् के पश्चात् गुप्त राज्य-काल में बतलाते हैं, और दूसरी श्रेणी के ईसवी सन् के पूर्व बतलाते हैं। हमने भी इसपर यथासाध्य विचार अपने हिन्दी मेघ-दूत-विमर्श की भूमिका में प्रदर्शित किये हैं। हमारे विचार में संभवतः महाकवि कालिदास, पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र के समकालीन हैं। कालिदास ने मालविकाग्निमित्र नाटक अग्निमित्र और उसकी प्रियतमा मालविका के नाम से लिखा है। अग्निमित्र का समय ईसवी सन् के पूर्व दूसरी शताब्दी कहा जाता है। यदि यह कल्पना ठीक मानी जाय तो भामह की पूर्व सीमा भी एकांश में संभवतः उसके बाद हो सकती है। और भामह की उत्तर सीमा छठी शताब्दी के लगभग है, जैसा कि ऊपर कहा गया है। बस इससे अधिक भामह के समय के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

दण्डी और उसका काव्यादर्श

"जाते जगति बाल्मीकौ कविरित्यभिधाभवत्।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि॥"

साहित्य के उपलब्ध प्राचीन लक्षण-ग्रन्थों में भामह के बाद दण्डी का काव्यादर्श ही मिलता है। काव्यादर्श में तीन परिच्छेद हैं।

(१) प्रथम परिच्छेद में काव्य-परिभाषा, काव्य-भेद, महाकाव्यलक्षण, गद्य के प्रभेद, कथा, आख्यायिका, मिश्र-काव्य, भाषाप्रभेद, वैदर्भ आदि मार्ग, अनुप्रास, गुण और काव्य-हेतु का विवेचन है।

(२) द्वितीय परिच्छेद में ३५ अर्थालङ्कार (संसृष्टि सहित) निरूपण किये गये हैं।

(३) तृतीय परिच्छेद में यमक, गोमूत्रादि चित्रबंध काव्य, प्रहेलिका और दश दोषों का निरूपण है।

जिस प्रकार उद्भट, आनन्दवर्धनाचार्य और मम्मट जैसे लब्धप्रतिष्ठ सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों ने भामह का नाम और उसका मत गौरव के साथ उल्लेख किया है,

तादृश उल्लेख यद्यपि दण्डी के विषय में दृष्टिगत नहीं होता है, पर उसका यह कारण नहीं कि दण्डी के ग्रन्थ का महत्व भामह के सम-कक्ष नहीं। यदि तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो भामह का न्यायदोषप्रकरण यदि दण्डी से अधिक महत्वपूर्ण है, तो दण्डी की अलङ्कार, रीति, और गुणों के विवेचन की मौलिकता भामह की अपेक्षा कहीं अधिक परिष्कृत और उपयोगी है। सुप्रसिद्ध प्राचीन साहित्याचार्यों द्वारा भामह के समान दण्डी का उल्लेख न किये जाने का एकमात्र कारण सम्भवतः यही है कि दण्डी दाक्षिणात्य था और भामह काश्मीरी। साहित्य के प्राचीन प्रसिद्ध लेखक प्रायः काश्मीरी ही अधिक हुए हैं, इसी से उनके द्वारा भामह को इतना गौरव प्राप्त हो सका है और उस गौरव का मम्मट एवं रुय्यक के समय तक उसी प्रकार प्रभाव रहा है। किन्तु आचार्य मम्मट के काव्य-प्रकाश को व्यापक और अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण विवेचना के प्रकाश ने केवल भामह के ग्रन्थ को ही नहीं, किन्तु प्रायः सभी पूर्वापर ग्रन्थों को निस्तेज कर दिया, फिर ऐसी अवस्था में दण्डी के ग्रन्थ का, जो स्वयं ही निर्विकास था, अपनी पूर्वावस्था में रहना स्वाभाविक ही था।

दण्डी ही ऐसा प्रधान साहित्याचार्य है जिसने अपने समस्त पूर्ववर्तियों से अधिक अलङ्कारों के उपभेदों का एवं गुण और रीति का विस्तृत निरूपण किया है। किन्तु उसके निरूपित अलङ्कारों के उपभेदों का अधिकांश में उसके परवर्ती आचार्यों मे अनुसरण नहीं किया है।

काव्यादर्श पर छः प्राचीन टीकाएँ हैं जिनमें एक तरुण वाचस्पति की व्याख्या और दूसरी अज्ञातनामा विद्वान् की 'हृदयङ्गमा' मुद्रित हो चुकी है। और एक नवीन 'कुसुमप्रतिमा' नामक टीका पण्डित नृसिंहदेव शास्त्री दर्शनाचार्य प्रणीत लाहौर से प्रकाशित हुई है। इस टीका की विवेचन शैली महत्वपूर्ण होने के साथ सुबोधगम्य भी होने के कारण उल्लेखनीय है।

दण्डी का व्यक्तिगत परिचय

दण्डी ने अपने काव्यादर्श में दक्षिण प्रान्त के मलयानिल (२।१७८ और ३।१६५), काञ्ची (अस्पष्ट ३।११४), कावेरी (३।१६६) और चोल

(अस्पष्ट ३।१६५) स्थानों का वर्णन किया है। ऐसे ही आधारों पर दण्डी के दाक्षिणात्य होने की कल्पना की जाती है। संभव है यह कल्पना ठीक हो, जब कि दण्डी की वर्णन शैली भी वैदर्भी रीति प्रधान है जो काश्मीर प्रान्त के साहित्यिकों से प्रायः भिन्न प्रतीत होती है।[1]

दण्डी द्वारा प्रणीत ग्रन्थ

मि० पीटरसन् ने[2]—

'त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः ॥'

यह पद्य राजशेखर के नाम से उद्धृत किया है। इसमें दण्डी को तीन प्रबन्धों का प्रणेता बताया गया है। इनमें काव्यादर्श और दशकुमारचरित्र दण्डी के नाम से प्रसिद्ध और उपलब्ध है। यद्यपि दशकुमारचरित्र को भी श्री त्रिवेदी[3] और श्री आगशे[4] दण्डी-प्रणीत नहीं मानते हैं। उनका तर्क यह है कि दण्डी ने काव्यादर्श में जो दोष निरूपण किये हैं वे अधिकांश में दशकुमारचरित्र की रचना में वर्तमान है। किन्तु इस तर्क के आधार पर दण्डी को दशकुमारचरित्र के प्रणेता के अधिकार से वञ्चित नहीं रक्खा जा सकता क्योंकि काव्य-नियम-निरूपक अपने ग्रन्थ मे दोषों का विवेचन किया जाना एक अन्य बात है, और अपनी कृति में उन दोषों को न आने देना दूसरी बात है। महाकवि क्षेमेन्द्र ने औचित्यविचार-चर्चा में अपने निर्दिष्ट दोषों के अनेक उदाहरणों में स्वय प्रणीत ग्रन्थों के पद्य भी अपने नामोल्लेख सहित उद्धृत किये है। फिर यह भी संभव है कि दण्डी ने काव्यादर्श के प्रणयन के पूर्व अपनी साहित्य-क्षेत्र की प्रवेशावस्था मे दशकुमार-

---

१ 'दशकुमारचरित' नामक दण्डी का पद्यात्मक काव्य वैदर्भी प्रधान है।
२ देखो सुभाषितावली की भूमिका पृ० १०१ पद्य संख्या १७४
३ देखो प्रतापरुद्रीययशोभूषण की भूमिका।
४ देखो इण्डियन एण्टिक्वेरी सन् १९०५ पृ० ६७।

चरित्र लिखा हो। दण्डी के तीसरे ग्रन्थ के विषय में अब तक कुछ पता नहीं मिलता था। किन्तु हर्ष का विषय है कि दण्डी का तीसरा ग्रन्थ 'अवन्तिसुन्दरी-कथा' नामक अब दक्षिण भारत ग्रन्थावली में मुद्रित हो गया है जिसके विषय में आगे लिखा जायगा।

काव्यादर्श में दण्डी ने लिखा है—'तस्याः कलापरिच्छेदे रूपमाविर्भविष्यति' (३।१७१) इसके द्वारा ज्ञात होता है कि वह कलापरिच्छेद लिखना चाहता था, उसे वह काव्यादर्श का ही चतुर्थ परिच्छेद बतलाता है अथवा अन्य स्वतंत्र ग्रन्थ? यह अनिश्चित है और यह भी पता नहीं चल सकता कि उसे वह लिख पाया या नहीं?

दण्डी का समय

दण्डी का समय भी अत्यन्त संदिग्ध है। दण्डी की अन्तिम सीमा के लिये अन्य ग्रन्थों में निम्नलिखित आधार प्राप्त होते हैं—

(१) श्री अभिनवगुप्ताचार्य ने, जिनका समय लगभग दशम शताब्दी है, ध्वन्यालोक की व्याख्या लोचन में लिखा है—

'यथाह दण्डी—

गद्यपद्यमयीचम्पूः' (उद्योत ३।७ की वृत्ति पृ० १४१)

(२) प्रतिहारेन्दुराज ने, जिसका समय लगभग ईसवी सन् ९२५ है, उद्भटाचार्य के काव्यालङ्कारसारसंग्रह की लघुवृत्ति (पृ० २८) में लिखा है—'अतएव दण्डिना लिम्पतीव' इत्यादि।

(३) कनारी भाषा में 'कविराजमार्ग' नामक एक ग्रन्थ राष्ट्रकूट के राजकुमार अमोघवर्ष प्रणीत है। उसके सम्पादक श्री पाठक के कथनानुसार उस ग्रन्थ में साधारणोपमा, असंभवोपमा, संभवोपमा, विशेषोक्ति की परिभाषाएँ दण्डी के काव्यादर्श से सर्वथा अनुवादित हैं। और अन्य भागों पर भी काव्यादर्श का पर्याप्त प्रभाव है। उस ग्रन्थ का निर्माणकाल शक ७३७-७९७ (८१५-८७५ ई०) है।

(४) सिंहली भाषा में एक 'सियाकसलकार' (स्वभाषालङ्कार) नामक ग्रन्थ है। वह दण्डी के काव्यादर्श पर ही अवलम्बित है; उसमें काव्यादर्श का स्पष्ट नामोल्लेख भी है। महावंश के अनुसार इसका लेखक प्रथम राजसेन के राज्यकाल सन् ८४६-८६६ ई० का है[१]।

(५) वामन के काव्यालङ्कार सूत्र से दण्डी के काव्यादर्श की तुलनात्मक विवेचना द्वारा विदित होता है कि वामन से दंडी प्राचीन है। दण्डी ने रीति-सिद्धान्त का जो महत्वपूर्ण विवेचन किया था, उसे वामन ने अन्तिम सीमा तक पहुँचा दिया है। दण्डी वैदर्भ और गौड़ी दो ही मार्ग बतलाता है—'तत्र वैदर्भगौडियौ' (१।४०), किन्तु वामन उनमें एक 'पाञ्चाली' और बढ़ाकर तीन बतलाता है। वामन इनको 'मार्ग' न कह कहकर 'रीति' कहता हुआ (यद्यपि उसने "मार्ग" का प्रयोग भी किया है ३।१।१२) इतना महत्व देता है कि—'रीतिरात्मा काव्यस्य' (१।२।६) इससे ज्ञात होता है कि वामन की पाञ्चाली रीति से और उसके पारिभाषिक शब्द 'रीति' से दण्डी सर्वथा अपरिचित था। और भी ऐसे कारण है, जिनके द्वारा दंडी का वामन से प्रथम होना प्रतीत होता है। वामन का समय आठवीं शताब्दी ईसवी का उत्तरार्द्ध है जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायगा।

इन आधारों पर दण्डी की अन्तिम सीमा सन् ८०० ईसवी के लगभग हो सकती है। किन्तु एक और भी प्रमाण मिलता है, जिसके द्वारा यह सीमा और भी पूर्व काल तक चली जाती है। शार्ङ्गधर-पद्धति में (संख्या १८०) विज्जिका नाम्नी एक स्त्री लेखिका का—

'नीलोत्पलदलश्यामां विज्जिकां मामजानता।
वृथैव दण्डिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती॥'

यह पद्य है। काव्यादर्श में दण्डी ने मंगलाचरण के प्रथम पद्य में

---

१ देखो जरनल आव द रायल एशियाटिक सोसाइटी सन् १९०५ पृ० ८४१।

'सर्वशुक्लासरस्वती' लिखा है। इसपर विजिका का यह व्यङ्ग्यात्मक उपहास है। विजिका के अनेक पद आचार्य मम्मट आदि के ग्रन्थों में उदाहरण रूप में मिलते हैं। इसके पद्य विजया, विज्जा के नाम से भी उद्धृत किये गये हैं। इसके विषय में जल्हण की सूक्ति मुक्तावली (संख्या १८८) में राजशेखर के नाम से—

> 'सरस्वतीव कार्णाटी विजयाङ्का जयत्यसौ।
> या विदर्भगिरां वासः कालिदासादनन्तरम्॥'

यह पद्य है। इसके द्वारा यह दक्षिण प्रान्त की विदित होती है। संभवतः यह विख्यात कार्णाटी वही भट्टारिका विजियाङ्का है, जो चन्द्रादित्य की महारानी थी। चन्द्रादित्य द्वितीय पुलकेशिन का पुत्र था[1]। इनका समय सन् ६६० ई० है। यदि विजियाङ्का का विज्जिका से एकीकरण भ्रमात्मक न हो, जैसा कि संभव भी नहीं है, क्योंकि जिसने स्वयं अपनी विद्वत्ता के गर्व पर दण्डी पर व्यङ्ग्योक्ति की है और जिसके विषय में राजशेखर जैसे विद्वान् द्वारा ऐसा महत्वपूर्ण उल्लेख हो सकता है, तो दंडी की अंतिम सीमा विज्जिका के पूर्व लगभग सन् ६०० ई० तक चली जाती है। इसके सिवा ईसवी सन् की छठी शताब्दी के सुबन्धु प्रणीत वासवदत्ता में—"यश्च छन्दोविचितिरिव कुसुमविचित्रागिः।" 'छन्दोविचितिरिव मालिनीसनाथा।' 'छन्दोविचितिमिव भ्राजमानतनुमध्याम्' इस प्रकार तीन स्थलों पर 'छन्दोविचिति शब्द का प्रयोग मिलता है। कुछ विद्वानों का मत है कि दंडी के—छन्दोविचित्यां सकलस्तत्प्रपञ्चो निदर्शितः।' इस वाक्य में दंडी ने अपने जिस 'छन्दोविचिति' नामक अपने छन्द-ग्रन्थ का नामोल्लेख किया है, उसी के विषय में उपर्युक्त वाक्य सुबन्धु के हैं। यदि यह कल्पना ठीक हो तो इसके द्वारा भी दंडी का सुबन्धु के पूर्ववर्ती अर्थात् ईसवी की छठी शताब्दी में होना सिद्ध होता है। दंडी का समय बहुत से ऐतिहासिक विद्वान्

1 देखो इंडियन एण्टिक्वेरी पुस्तक ७ पृ० १६३ और पु० ८ पृ० ४८

छठी शताब्दी में ही बतलाते हैं। जैसे मि० मेक्समूलर[1], मि० वेबर[2], प्रोफ़ेसर मेकडोनल[3] और कर्नल जेकव[4] आदि।

किन्तु दंडी की पूर्व सीमा के लिये जो अन्य आधार उपलब्ध होते हैं, वे अधिक प्रबल हैं, और उनके द्वारा ऊपर की मान्यता पर आघात पहुँचता है। श्री महेशचन्द्र न्यायरत्न, मि० पीटरसन और जेकोबी का मत है कि दडी के २।१९७ में बाण की कादम्बरी (बोम्बे संस्कृत सीरीज संस्करण के पृ० १०२ पंक्ति १६) का प्रतिबिम्ब है। बाण का समय तो महाराज श्रीहर्षवर्द्धन के समकालीन ६०६-६४७ ई० है।

मि० जेकोबी का मत है कि दंडी के—

'रत्नभित्तिषु संक्रान्तैः प्रतिबिम्बशतैर्वृतः।
ज्ञातो लंकेश्वरः कृच्छ्रादाञ्जनेयेन तत्वतः॥'

—का० द० २।३०२

इस पद्य का माघ के—

'रत्नस्तम्भेषु संक्रान्तप्रतिमास्ते चकाशिरे।
एकाकिनोऽपि परितः पौरुषेयवृता इव॥'

शिशुपा० ३।४

इस पद्य में समानता है। इनमें समानता किसी अंश में अवश्य है। किन्तु इस अत्यन्त शिथिल आधार पर माघ और दण्डी के पूर्वापर की कल्पना करना नितान्त अविश्वसनीय है। अच्छा, एक और आधार उपलब्ध होता है, उसके द्वारा दण्डी के पूर्वोक्त समय पर कुछ और ही प्रकाश पड़ सकता है। दण्डी-

१ देखो इंडिया : ह्वाट केन इट् टीच अस, संस्करण १ पृ० ३३२।

२ देखो हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर पृ० २३२।

३ देखो हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर पृ० ४३४

४ देखो जरनल आव द रायल एशियाटिक सोसा० सन् १८४७ पृ० ३८७।

प्रणीत पूर्वोक्त 'अवन्तिसुन्दरीकथा' नामक ग्रन्थ से, जो अभी मद्रास में मुद्रित हुआ है, विदित होता है कि दण्डी महाकवि भारवि के प्रपौत्र थे। उस ग्रन्थ में स्वयं दंडी ने लिखा है कि भारवि के पूर्वज गुजरात प्रान्तस्थ आनन्दपुर के निवासी थे, वहाँ से वे नासिक आये, फिर दक्षिण के अचलपुर में—संभवतः अब जिसे एलिचपुर कहते हैं, रहने लगे। इसी वंश में कौशिक गोत्रीय ब्राह्मण नारायण स्वामी के पुत्र महाकवि भारवि थे। भारवि का असली नाम दामोदर था। महाकवि भारवि का उल्लेख सर्वप्रथम दक्षिण के चालुक्यवंशी राजा पुलकेशी (द्वितीय) के शिलालेख में इस प्रकार मिलता है—

'येनायोजिनवेश्मस्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः॥'[1]

यह शिलालेख शक ५५६ (६३४ ई०) का लिखा हुआ है। इसके द्वारा स्पष्ट है कि भारवि सप्तम शताब्दी में सुप्रसिद्ध हो चुके थे। अवन्तिसुन्दरीकथा में यह भी उल्लेख है कि भारवि, युवराज विष्णुवर्द्धन की, जो पुलकेशी द्वितीय का कनिष्ठ भ्राता था, सभा में रहा। तदनन्तर भारवि पश्चिम के गङ्गावंशीय राजा दुर्विनीत के आश्रय में रहा। दुर्विनीत का समय भी सप्तम शताब्दी ही माना जाता है। दुर्विनीत ने भारवि के सुप्रसिद्ध महाकाव्य किरातार्जुनीय के पंद्रहवें सर्ग की टीका की है, जैसा कि राजा पृथ्वीकोंकण के दानपत्र के—

'किरातार्जुनीयपञ्चदशसर्गादिकोंकारो दुर्विनीतनामधेयः।'

इस वाक्य द्वारा विदित होता है। अतएव भारवि का समय लगभग छठी शताब्दी के अन्तिम चरण से सप्तम शताब्दी के प्रथम चरण तक माना जा सकता है। और अवन्तिसुन्दरीकथा के—

मनोरथाह्वयस्तेयां मध्यमो वंशवर्द्धनः।
ततस्तनूजाश्चत्वारः स्रष्टुर्वेदा इवाभवन्'॥

---

१ देखिये—इण्डियन एण्टिक्वेरी ५।६७-७१

श्रीवीरदत्त इत्येषां मध्यमो वंशवर्द्धनः।
यवीयानस्य च श्लाघ्या गौरी नामाभवत्प्रिया॥
ततः कथंचित्सा गौरी द्विजाधिपशिरोमणेः।
कुमारं दण्डिनामानं व्यक्तशक्तिमजीजनत्॥

इन पद्यों से विदित होता है कि भारवि के मध्यम पुत्र मनोरथ के चार पुत्रों में सबसे छोटा वीरदत्त था। वीरदत्त की पत्नी का नाम गौरी था। इन्हीं वीरदत्त और गौरीदेवी से दंडी का जन्म हुआ है। इनकी जन्मभूमि काञ्ची (आधुनिक काजीवर) थी। इसके द्वारा दंडी का दाक्षिणात्य होना भी सिद्ध है, जैसाकि अबतक विद्वानों की कल्पना है। यदि प्रत्येक पीढ़ी के लिये २० वर्ष भी मान लिये जायँ तो भी दंडी का समय इस आधार पर सप्तम शताब्दी का अंतिम चरण हो सकता है। इसके द्वारा भामह और दंडी के पूर्वापर के सम्बन्ध में जो पहिले विवेचन किया गया है, उसकी पुष्टि भी होती है कि भामह का समय महाकवि बाण के पूर्ववर्ती संभवतः छठी शताब्दी है और दंडी का सप्तम शताब्दी का अंतिम चरण ही माना जा सकता है।

—:o:—

उद्भट और उसका काव्यालङ्कारसारसंग्रह

"विद्वान्दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
भट्टोभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः॥"

—रजत० ४।४९५

भामह और दंडी के बाद अलङ्कार सम्प्रदाय के प्रधान प्रतिनिधि उद्भटाचार्य हैं। इन्होंने काव्यालङ्कारसारसंग्रह ग्रन्थ लिखा है। यह ग्रंथ भी लुप्तप्राय था, इसकी खोज के यशोभागी मि० बूल्हर हैं, जिन्होंने लघुवृत्ति युक्त इस ग्रंथ की एक प्रति प्रथम जेसलमेर में प्राप्त की थी। यह ग्रन्थ छः वर्गों में विभक्त है।

इसकी ७५[1] कारिकाओं में ४१ अलङ्कारों का निरूपण है। ६५ पद्यों में उदाहरण हैं, जो उद्भट ने स्वयं प्रणीत 'कुमारसंभव' काव्य से दिये हैं, जैसा कि लघुवृत्तिकार प्रतिहारेन्दुराज ने अंतदीपक की वृत्ति में कहा है—'अनेन ग्रन्थकृता स्वोपरचितकुमारसम्भवैकदेशोत्र उदाहरणत्वेनोपन्यस्तः'।

उद्भट ने अलङ्कारों का क्रम और उनके वर्ग भामह के काव्यालङ्कार के अनुसार रक्खे हैं, और प्रायः संख्या भी। भामह के निरूपित ३९ अलङ्कारों में से इसने आशी, उत्प्रेक्षावयव, उपमारूपक, और यमक इन चार को छोड़ दिया, और पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, लाटानुप्रास, काव्यलिङ्ग, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और संकर ये छः अलङ्कार अधिक निरूपण किये हैं। उद्भट ने १२ अलङ्कार के लक्षण अक्षरशः भामह से लिये हैं, जैसा कि पहिले (पृ० ११४ में) कहा गया है। इनके सिवा अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, रसवत् और भाविक के लक्षणों में भी भामह से अधिकांश साम्य है। इसका मुख्य कारण सम्भवतः यह है कि जिस अलङ्कार के विषय में उद्भट के विचार भामह के समान थे, उन्हीं अलङ्कारों के लक्षण उसने भामह से लिये हैं; जैसे कि आचार्य मम्मट ने भी किसी किसी लक्षण के विषय में ऐसा किया है। और जिन लक्षणों के विषय में भामह से उसका मतैक्य नहीं था, उनमें उद्भट ने परिवर्तन कर दिया है। और भामह के जिन लक्षणों से उद्भट सर्वथा सहमत न था उनका उसने नवीन निर्माण किया है। अतएव उद्भट को भामह का दासवत् अनुयायी नहीं कहा जा सकता है। भामह के निरूपित ४ अलङ्कारों का उसने बहिष्कार कर दिया है और छः अलङ्कार नवीन लिखे हैं—जैसा कि अभी कह चुके हैं। उद्भट के निरूपित इन ६ अलङ्कारों को उसके परवर्ती आचार्यों ने भी स्वीकार किया है। यही नहीं, इन छः अलङ्कारों में पुनरुक्तवदाभास, काव्यहेतु और दृष्टान्त ये तीन तो सबसे प्रथम उद्भट द्वारा ही आविष्कृत हैं—इसके पूर्ववर्ती भामह, दण्डी आदि ने नहीं

---

1. यह संख्या बाम्बे संस्कृत सीरीज के संस्करण के अनुसार है। निर्णय-सागर प्रेस के संस्करण में ७९ कारिकाओं में लक्षण और १०० में उदाहरण हैं।

लिखे हैं। अनुप्रास, श्लेष और प्रेय अलङ्कार के विषय में तथा और भी अनेक स्थलों पर उद्भट का भामह से मतभेद है।

उद्भट ने काव्यालङ्कारसारसंग्रह के सिवा 'भामह विवरण' भी लिखा है— जिसका काव्यालङ्कारसारसग्रह की लघुवृत्ति में प्रतिहारेन्दुराज द्वारा विशेषोक्ति की व्याख्या में और ध्वन्यालोक के लोचन में भी उल्लेख है[1]।

उद्भट का परिचय

उद्भटाचार्य बड़े प्रतिष्ठित विद्वान् थे। अलङ्कारशास्त्र मे इनका उच्च स्थान है। इनके परवर्ती सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों ने इनका मत और नामोल्लेख सम्मान के साथ किया है। श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक की वृत्ति मे भी उल्लेख किया है—'तत्र भवद्भिः भट्टोद्भटादिभिः' (पृ० १०८)। लोचन में श्री अभिनवगुप्ताचार्य ने भी उल्लेख किया है—'भट्टोद्भटवामनादिना' पृ० १०। काव्यमीमासा में राजशेखर ने 'इति औद्भटाः' (पृ० ४०) और कहीं—'उद्भटमतानुयायिनः' भी लिखा है। इसके द्वारा विदित होता है कि उद्भट के मतानुयायी अनेक विद्वान् थे। काव्यप्रकाश मे शब्द-श्लेष और अर्थ-श्लेष की भिन्नता के प्रतिपादन में उद्भट की आलोचना भी की गई है[2]। रुय्यक ने भी इनका मत (त्रिवेन्द्रम स० पृ० ६) अन्य आचार्यों के साथ उद्धृत किया है।

काव्यालङ्कारसारसंग्रह यद्यपि संक्षिप्त ग्रन्थ है, जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, किन्तु सम्भव है उद्भट के विचारो का यह अत्यन्त अल्प भाग हो क्योंकि उद्भट जैसे विद्वान् द्वारा अलङ्कार शास्त्र पर अधिक विवेचन न किया जाना आश्चर्य का विषय है। सम्भव है इस विषय पर भामह विवरण में अथवा अन्य किसी स्वतत्र ग्रन्थ में उसने अधिक विवेचन किया हो जो अब अनुपलब्ध है। कर्नल जेकब ने—'रसाधिष्ठितं काव्यं' इस पद्य को उद्भट का समझकर यह लिखा है

१ देखो ध्वन्यालोक लोचन पृ०४०—'यत्तु विवरणकृत्' इत्यादि।
२ देखो काव्यप्रकाश नवम उल्लास श्लेष-प्रकरण।

कि उद्भट रस को काव्य की आत्मा बताता है[1]। किन्तु यह कल्पना भ्रमात्मक है, क्योंकि प्रतिहारेन्दुराज ने लघुवृत्ति में—काव्यालिङ्ग के लक्षण की ५८ वीं कारिका की वृत्ति में 'तदाह' के आगे यह पद्य लिखा है, (त्रिवेन्द्रम् संस्करण) जिससे स्पष्ट है कि यह पद्य उद्भट का नहीं, किन्तु प्रतिहारेन्दुराज ने अपने किसी पूर्ववर्ती का उद्धृत किया है। उद्भट ने तो रसवत् अलङ्कार की परिभाषा में रसों का केवल नामोल्लेख मात्र ही किया है—रस पर अधिक विवेचन नहीं किया। और यही बात लघुवृत्ति में प्रतिहारेन्दुराज ने इन कारिकाओं की व्याख्या में स्पष्ट की है—'रसानां भावानां च किं काव्यालङ्कारत्वमुतकाव्यजीवितमिति न तावद्विचार्यते······अप्रकृतत्वाच्च' (पृ० ५४ बांबे सं० सीरीज) इसके सिवा रुय्यक ने अलङ्कार सर्वस्व (पृ० ७ त्रिवेन्द्र० संस्क०) में—'अलङ्कारा एव काव्ये प्रधानम्' इस सिद्धान्त की पुष्टि में अलङ्कारों को काव्य में प्रधान माननेवाले प्राचीन आचार्यों के साथ ही उद्भट का नामोल्लेख किया है। अतः कर्नल जेकब की यह कल्पना भ्रमात्मक और निर्मूल है। जहाँ तक देखा जाता है, उद्भट और उनके अनुयायियों का मत तो यह है कि गुण और अलङ्कार वस्तुतः एक ही स्वभाव के हैं—दोनों ही काव्यसौन्दर्य-वर्द्धक हैं और दोनों ही का सम्बन्ध शब्द और अर्थ दोनों के साथ है, इनमें भेद केवल यही है कि ये काव्य के भिन्न-भिन्न अङ्ग हैं, इसी कारण से इनका पृथक् पृथक् निर्देश किया जाता है।

उद्भट का समय

श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने उद्भट का उल्लेख किया है—जिनका समय नवम शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। अतः उद्भट उनके पूर्ववर्ती हैं। इसके सिवा राजतरङ्गिणी में भी उल्लेख है कि यह काश्मीर के शासक जयापीड की विद्वत्-परिषद के सभापति थे और इनका वेतन प्रतिदिन का एक लक्ष दीनार (एक प्रकार की सुवर्ण-मुद्रा) था—

[1] देखो जरनल आव द रा० ए० सो० सन् १८९७ पृ० ८४५।

'विद्वान्दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
भट्टोभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः॥'

—राजत० ४।४९५

जयापीड का शासन-काल सन् ७७९ से ८१३ ई० तक माना जाता है। किन्तु उद्भटाचार्य जयापीड के शासन-काल के प्रथम भाग में रक्खे जा सकते हैं, क्योंकि ऐसा कहा जाता है कि जयापीड ने अपने शासन के अन्तिम भाग में प्रजा पर अत्याचार किया था, जिससे वह ब्राह्मणों द्वारा बहिष्कृत कर दिया गया था। अतएव उद्भट का समय ईसवी सन् की ८वीं शताब्दी में ही सम्भव हो सकता है।

उद्भट के काव्यालङ्कार पर प्रतिहारेन्दुराज की लघुवृत्ति टीका ही सबसे प्राचीन है। प्रतिहारेन्दुराज ने अपने विषय में स्वयं लघुवृत्ति के प्रारम्भ से—'विद्वदग्र्यान्मुकुलकादधिगम्य विविच्यते' और अन्त में 'कौंकणः श्रीन्दुराजः' यह लिखा है। अतः यह मुकुल का शिष्य और कौंकण-निवासी था। इसने भामह और दण्डी के अतिरिक्त अनेक स्थलों पर वामन का नामोल्लेख भी किया है। (पृ० १८, ८२, ८८, ९०)। मुकुल ने अभिधावृत्तिमातृका ग्रन्थ लिखा है, उसमें उद्भट का नामोल्लेख भी है। उसके अन्तिम पद्य में मुकुल ने अपने पिता का नाम भट्ट कल्लट लिखा है, जो कि राजतरङ्गिणी के—'अनुग्रहाय लोकाना भट्ट श्री कल्लटादयः। अवन्तिवर्मणः काले' (५।६६) इस उल्लेख के अनुसार काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के समकालीन था। अवन्तिवर्मा का समय सन् ८५५–८८४ ई० है। अतः मुकुल का समय लगभग ईसा की नवीं शताब्दी और उसके शिष्य प्रतिहारेन्दुराज का समय भी इसी समय में माना जा सकता है। मि० पीटरसन इस प्रतिहारेन्दुराज का और भट्टेन्दुराज का एकीकरण करता है, उस भट्टेन्दुराज का जिसका उल्लेख श्री अभिनवगुप्ताचार्य ने अपने उपाध्याय के रूप में लोचन में (पृ० ४३, ११६, २०७, २१४) और नाट्यशास्त्र की अभिनवभारती व्याख्या में, 'उपाध्यायाः' (पृ० १०९, २७५) और भट्टेन्दुराज' (पृ० ३०६) किया गया है। किन्तु यह एकीकरण भ्रमात्मक है,

प्रतिहारेन्दुराज और भट्टेन्दुराज भिन्न भिन्न हैं, इस विषय पर आगे ध्वन्यालोक विषयक निबन्ध में अभिनवगुप्ताचार्य के प्रसङ्ग में उल्लेख किया जायगा।

काव्यालङ्कारसारसंग्रह पर प्रतिहारेन्दुराज की लघुवृत्ति और राजानक तिलक के उद्भटविवेक[1] के अतिरिक्त एक उद्भटालङ्कार विवृति भी है, जिसकी मालाबार से उपलब्ध एक हस्तलिखित प्रति मद्रास गवर्नमेंट लायब्रेरी में है। उसके लेखक का नाम अज्ञात है। उस विवृति के बहुत से उद्धरण भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टिट्यूट द्वारा मुद्रित काव्यालङ्कारसारसंग्रह में दिये गये हैं।

—:०:—

वामन और उसका काव्यालङ्कारसूत्र

"पावनी वामनस्येयं पदोन्नतिपरिष्कृतिः।
गम्भीरा राजते वृत्तिर्गङ्गेव कविहर्षिणी"॥

—कामधेनु व्याख्या।

उद्भट के पश्चात् उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर काव्य-लक्षण ग्रन्थों का लेखक वामन दृष्टिगत होता है। वामन ने काव्यालङ्कारसूत्र नामक ग्रन्थ प्रणीत किया है। यह सूत्रों में है और सूत्रों पर स्वयं वामन ने वृत्ति भी लिखी है।

इस ग्रन्थ में पाँच अधिकरणों में बारह अध्याय और ३१९ सूत्र हैं। प्रथम अधिकरण में काव्य-लक्षण, काव्य प्रयोजन, अधिकारी, रीति और काव्य के अङ्ग; दूसरे में दोष; तीसरे में गुण; चौथे में अलङ्कार और पाँचवें में काव्य-समय और शब्द-शुद्धि प्रकरण है। शब्द-शुद्धि प्रकरण में भामह के छठे परिच्छेद के साथ अधिकांश में साम्य है।

वामन ने केवल ३३ अलङ्कारों का निरूपण किया है, जिनमें ३१ इसके पूर्ववर्ती भामह और दण्डी द्वारा निरूपित हो गये थे। वक्रोक्ति और व्याजोक्ति ये दो अलङ्कार संभवतः इसी के द्वारा नवीन आविष्कृत हैं। इसने व्याजोक्ति,

1 देखो अलङ्कारसर्वस्व (निर्णयसागर संस्करण) पृ० ११५ और २०५।

प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्त, उदात्त, भाविक और आशी ये आठ अलङ्कार जो भामह और दण्डी दोनों के निरूपित थे और आवृत्ति, हेतु, सूक्ष्म, और लेश ये चार जो केवल दंडी के निरूपित थे, नहीं लिखे है। इसके सिवा वामन ने 'विशेषोक्ति' की परिभाषा भी विचित्र दी है जिसको पंडित-राज ने रसगङ्गाधर मे दृढारोपरूपक बतलाया है। आक्षेप के इसने जो भेद बतलाये हैं, वे सभी विचित्र हैं; वे काव्यप्रकाश में निरूपित प्रतीप और समासोक्ति मे मिलते हैं। 'वक्रोक्ति' अलङ्कार इसने नवीन निरूपण किया है; इसकी परिभाषा—'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः' (४।३।८) भी विलक्षण है।

वामन ही एक ऐसा लेखक है, जिसने 'वैदर्भी' रीति में सब गुणो के व्यञ्जक वर्णोंवाली रचना, 'गौडी' मे ओज और कान्ति गुण-व्यञ्जक वर्णो-वाली रचना और पाञ्चाली मे माधुर्य और सौकुमार्य गुण-व्यञ्जक वर्णोंवाली रचना का होना बताया है। फिर इसने गुणों और अलङ्कारों का भेद—

'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः।
तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः'।

—काव्यालं० सू० ३।१।१,२

इन सूत्रों में दिखाया है। यद्यपि काव्य मे गुणों की स्थिति की—जिन पर 'रीति' अवलम्बित हैं, आवश्यकता प्रायः सभी आचार्यो ने स्वीकार की है, पर उनको काव्य की आत्मा मानकर ऐसी प्रधानता देनेवाला एक वामन ही है। रीति सिद्धान्त के प्रवर्त्तकों पर ध्वनिकारो ने (३।५२ कारिकायें) आक्षेप किया है। एवं आचार्य मम्मट ने वामन के ये दोनों सूत्र उद्धृत करके काव्यप्रकाश मे इनकी बड़ी ही तीव्र किंतु सारगर्भित और मार्मिक आलोचना की है, जिसका उल्लेख इस ग्रंथ के द्वितीय भाग में 'रीति सम्प्रदाय' के अन्तर्गत किया जायगा। मम्मट की उस आलोचना का महत्त्व इसी से सिद्ध हो जाता है कि, उसके द्वारा वामन का रीति-सिद्धांत सर्वथा विच्छिन्नप्राय हो गया।

वामन का समय

वामन की अंतिम सीमा के लिये स्पष्ट उल्लेख राजशेखर की काव्यमीमांसा में मिलता है—

'कवयोऽपि भवन्ति' इति वामनीयाः'

(काव्यमी० पृ० १४)

'तत्र विवेकिनः पूर्वे तद्विपरीतास्तु ततोनन्तराः'

इति वामनीया (पृ० १४)

यह अवतरण राजशेखर ने संभवतः वामन के काव्यालङ्कारसूत्र की वृत्ति से उद्धृत किया है। किंतु मुद्रित काव्यालङ्कारसूत्र में पाठ-भेद है[1]। संभव है, काव्यमीमांसा की हस्तलिखित प्रति के प्रमाद से ऐसा हुआ हो। अस्तु इसके द्वारा यह तो स्पष्ट है कि राजशेखर के समय में (सन् ९२५ ई०) वामन प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था।

श्री अभिनवगुप्ताचार्य ने भी वामन का नामोल्लेख किया है—" 'वामनस्य तु उपमानाक्षेपः' इति आक्षेपलक्षणात्" (ध्वन्या० लोचन पृ० ३७)। इसके सिवा ध्वन्यालोक की (३।५२ की कारिका की) वृत्ति में जो रीति-सिद्धांत प्रवर्तकों पर आक्षेप है, उसके द्वारा प्रतीत होता है कि श्री आनन्दवर्द्धनाचार्य भी वामन से परिचित थे, इसकी पुष्टि ध्वन्यालोक की वृत्ति में उद्धृत—

'अनुरागवती संध्या दिवसस्तत्पुरस्सरः।
अहो दैवगतिःकीदृक् तथापि न समागमः' ॥

(पृ० ३७)

---

१ देखो निर्णयसागर संस्करण एवं विद्याविलास प्रेस बनारस संस्करण काव्यालङ्कारसूत्र प्रथम अधिकरण अध्याय २ का प्रथम, द्वितीय और तृतीय सूत्र तथा वृत्ति।

इस पद्य की अभिनवगुप्ताचार्य द्वारा की गई—

'वामनाभिप्रायेणायमाक्षेपः भामहाभिप्रायेण तु समासोक्तिरित्याशयं मनसि गृहीत्वा समासोक्त्याक्षेपयोरिदमेकोदाहरणम् व्यतरत् ग्रन्थकृत्'।

(पृ० ३७)

इस व्याख्या द्वारा भी होती है और श्री आनन्दवर्धनाचार्य (जिनका समय सन् ८५० ई० के लगभग है) वामन के परवर्ती सिद्ध होते हैं।

उद्भट के काव्यालं० सा० पर लघुवृत्ति में प्रतिहारेन्दुराज ने भी लिखा है—'भट्टवामनेन चात्र वक्रोक्ति-व्यवहारः प्रवर्तितः' (पृ० ८८ बाबे सीरीज)। इससे भी उक्त समय की पुष्टि होती है।

वामन की पूर्व सीमा के लिए भी साधन मिलते हैं। उसने अपने काव्यालङ्कारसूत्र (४।३।६ सूत्र की वृत्ति) में 'इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयोः'। यह पद्य भवभूति के उत्तररामचरित (अङ्क १।३८) का रूपक के उदाहरण में उद्धृत किया है। भवभूति का समय लगभग सन् ७२५ ई० है, क्योंकि उसके आश्रयदाता कन्नौज के राजा यशोवर्मन का यही समय माना जाता है।

वामन ने अतिशयोक्ति के उदाहरण में[1] माघ के शिशुपालवध का—

'उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहावाकाशगङ्गापयसः पतेताम्'।

(सर्ग ३।८)

यह पद्य और शब्द-शुद्धि प्रकरण मे[2]—'सितं सितिम्ना सुतरा मुनेर्वपु' इत्यादि शिशुपालवध (१।२५) का पद्य उद्धृत किया है। माघ का समय मि० जेकोबी ईसा की छठी शताब्दी बताते हैं। यह तो निश्चित है कि माघ श्री आनन्दवर्धनाचार्य के पूर्ववर्ती हैं क्योंकि ध्वन्यालोक की वृत्ति मे[3] माघ के अनेक पद्य[4] उद्धृत है। अतः भवभूति और माघ दोनों से वामन के परवर्ती हैं। कल्हण के—

---

१ देखो काव्यालङ्कार सूत्र अधिकरण ४ अध्याय ३।१०

२ देखो काव्यालं० सूत्र अ० ५।२।९।

३ देखो ध्वन्यालोक पृ० ११४ और ११५।

४ देखो शिशुपालवध सर्ग ५।२६, ३।५३ इत्यादि।

'मनोरथः शंखदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः'।

—राजत० ४।४९७

इस उल्लेख में वामन को काश्मीर के राजा जयापीड का मन्त्री बताया गया है। जयापीड का समय सन् ७७९–८१३ ई० है। मि० बूल्हर के मतानुसार जयापीड का मंत्री यही वामन था जिसने काव्यालङ्कार सूत्र प्रणीत किया है[1]। ऊपर के अवतरणों से भी इसका समर्थन होता है। अतएव वामन का समय आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में निश्चित हो जाता है और साथ ही उद्भट के समकालीन भी। तथापि यह अवश्य ध्यान देने योग्य है कि उद्भट और वामन दोनो समकालीन ही नहीं, एक राजा के आश्रित होने पर भी इन्होंने अपने ग्रन्थों में एक दूसरे का कहीं भी नामोल्लेख नहीं किया है। काशिकावृत्ति के प्रणेता वामन से यह वामन भिन्न है।

वामन के काव्यालङ्कार सूत्र पर 'कामधेनु' नामक टीका गोपेन्द्रत्रिपुरहर भूपाल की है, जिसके कई संस्करण निकल चुके है। एक दूसरी टीका महेश्वर-प्रणीत साहित्यसर्वस्व का पता भी चलता है[2]।

—:०:—

यहाँ तक भट्टि, भामह, दण्डी, उद्भट तथा वामन और इन पाँचो के ग्रन्थों के सम्बन्ध में विवेचन किया गया है। नाट्यशास्त्र और अग्निपुराण का समय उपलब्ध ग्रन्थों में अलङ्कार सिद्धान्त का सबसे प्राचीन प्रारम्भ काल है और इनके पश्चात् भट्टि से वामन तक पाँचो के समय तक अलङ्कार सिद्धान्त के क्रम-विकास का द्वितीय काल है, क्योंकि इन पाँचों में अन्तिम वामन के समय तक अलङ्कारों की संख्या ५२ तक पहुँच गई है। इन पाँचो में किस-किस ने कितनी संख्या के कौन-कौन अलङ्कार निरूपण किये हैं, इसकी स्पष्टता के लिये अलङ्कार-विवरण-

---

१ देखो श्री बुल्हर की काश्मीर रिपोर्ट पृ० ६५।

२ देखो इंडिया ऑफिस केटलाग पृ० ३२१।

तालिका संख्या १ इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग में अलङ्कार सम्प्रदाय के अंतर्गत दी गई है।

रुद्रट और उसका काव्यालङ्कार

रुद्रट का भी अलङ्कार शास्त्र में एक प्रतिष्ठित और उच्च स्थान है। रुद्रट साधारण विद्वान् नही था—इसने अलंकार विषय पर बड़ा चमत्कारक प्रकाश डाला है। इसके द्वारा अलङ्कारो के क्रमविकास मे उल्लेखनीय अभिवृद्धि दृष्टिगत होती है। इसके द्वारा केवल अलङ्कारो की संख्या मे वृद्धि ही नहीं हुई किंतु अलङ्कारों का अपूर्व शैली से प्रतिपादन भी हुआ है जिससे रुद्रट का इस विषय पर महत्त्वपूर्ण अधिकार भी व्यक्त होता है।

रुद्रट ने काव्यालङ्कार नामक ग्रंथ लिखा है। जिसमे प्रायः काव्य के सभी अङ्गो पर प्रकाश डाला है। इस ग्रन्थ मे १६ अध्याय हैं जिनमें विषय-क्रम इस प्रकार है—प्रथमाध्याय मे काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु; दूसरे में काव्य-लक्षण, रीति, भाषा-भेद वक्रोक्ति आदि तीन शब्दालङ्कार; तीसरे में यमकालङ्कार; चौथे में श्लेषालङ्कार; पाचवे मे चित्र-काव्य; छठे मे शब्द-दोष; ७, ८, ९ और १० चार अध्यायों में अर्थालङ्कार; ११वे मे अर्थालङ्कार-दोष; १२, १३, १४ और १५ चार अध्यायो मे रस और नायिकाभेदादि का निरूपण है और १६वें मे महाकाव्य, प्रबंधादि का लक्षण है।

रुद्रट के पूर्ववर्ती भामहादि आचार्यों ने अलङ्कारो का जो पृथक् पृथक् समूहो मे वर्गीकरण किया है, वह किसी विशेष सिद्धात पर नहीं, संभवतः उनके पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा विभिन्न ग्रंथों में स्वीकृत अलङ्कारो की संख्या पर किया गया है। किंतु रुद्रट ने उनका अनुसरण न करके वैज्ञानिक सिद्धात पर अलङ्कारों का वर्गीकरण किया है। इसने ५ शब्दालंकार और ५८ अर्थालङ्कारोका निरूपण किया है जिनमें अर्थालङ्कारों को इसने चार वर्गों में विभक्त किया है—(१) वास्तव वर्ग में २३, (२) औपम्य वर्ग में २१, (३) अतिशय वर्ग में १२ और (४) श्लेष वर्ग मे १ श्लेष। इस प्रकार ५७ और १ संकर सब

मिलाकर ५८ अलङ्कारों में ७ अलङ्कार ऐसे हैं जो दो-दो वर्ग में एक ही नाम से दिखाये गए हैं—जैसे सहोक्ति, समुच्चय और उत्तर ये तीनों वास्तव और अतिशय दोनों वर्गों में हैं, इसी प्रकार उत्प्रेक्षा एवं पूर्व, औपम्य और अतिशय दोनों वर्गों में हैं। श्लेष को भी अर्थालङ्कार और शब्दालङ्कार दोनों में पृथक् पृथक् गिना गया है। एक ही नाम के जिन-जिन अलङ्कारों को दो-दो वर्ग में रुद्रट ने रक्खा है, उनका वर्गानुकूल लक्षण लिखकर भेद दिखा दिया है। यदि इन आठों की संख्या कम कर दी जाय तो रुद्रट द्वारा ५० अर्थालङ्कार और ५ शब्दालङ्कार, कुल ५५ अलङ्कारों का नामोल्लेख है।

रुद्रट के पूर्ववर्ती भट्टि से वामन तक ५२ अलङ्कार निरूपित हो चुके थे, जैसा कि पहिले दिखाया गया है। किंतु इस संख्या द्वारा यह न समझना चाहिये कि रुद्रट निरूपित अलङ्कारों की संख्या उसके पूर्ववर्तियों से केवल ३ ही अधिक है। रुद्रट के निरूपित ५५ अलङ्कारों में केवल २६ अलङ्कार ही ऐसे हैं जो इसके पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित हो चुके थे। शेष २९ [1] रुद्रट द्वारा अधिक (या नवाविष्कृत) निरूपित हैं और उनमें बहुत से महत्त्वपूर्ण अलङ्कार रुद्रट के उत्तर-कालीन आचार्य मम्मट जैसे सुप्रसिद्ध आलङ्कारिकों ने स्वीकार किये हैं। इसी से सिद्ध होता है कि रुद्रट ने अलङ्कारों के विकास-क्रम में एक बार ही नवीन युग उपस्थित कर दिया है।

रुद्रट का परिचय और समय

रुद्रट का व्यक्तिगत कुछ परिचय इसके काव्यालङ्कार पर नमि साधु की लिखी हुई टीका द्वारा मिलता है। काव्यालङ्कार के पञ्चम अध्याय के चित्रकाव्य-प्रकरण में १२, १३, १४ की संख्या के श्लोकों की टीका में नमि साधु ने यह दिखाया है कि इन पद्यों के चित्रकाव्य के अंतर्गत—

---

१ इन २९ अलङ्कारों के नामों के लिये द्वितीय भाग में अलङ्कार विवरण तालिका देखिये।

शतानन्दापराख्येन भट्टवामुकसुनुना,
साधितं रुद्रटेनेदं सामाजा धीमतां हितम्

यह श्लोक निकलता है और इस श्लोक द्वारा रुद्रट ने अपना परिचय दिया है। इसके द्वारा केवल यह विदित हो सकता है कि रुद्रट का दूसरा नाम शतानंद था और वह सामवेदी था तथा इसके पिता का नाम भट्ट वामुक था।

रुद्रट की अंतिम सीमा के लिये इसका नामोल्लेख और इसके ग्रंथ के उद्धरण उत्तर कालीन अनेक आचार्यों के ग्रंथों में उपलब्ध होते हैं। आचार्य मम्मट ने श्लेष-प्रकरण में कहा है—'तथा ह्युक्तं रुद्रटेन स्फुटमर्थालङ्कारौ', इत्यादि (काव्यप्रकाश ९।८५ पृ० ५३०) और रुद्रट के स्वीकृत उपमानाधिक्य-व्यतिरेक अलङ्कार की मम्मट ने आलोचना भी की है[1]। तथैव काव्यप्रकाश में यमकादि अलङ्कारों के बहुत से उदाहरण भी रुद्रट के लिये गये हैं।

श्री अभिनवगुप्ताचार्य ने रुद्रट की—'यस्य विकारः प्रभवन्' इत्यादि (काव्यालङ्कार ७।३८) यह परिभाषा और 'एकाकिनी यदवला' इत्यादि (काव्यालङ्कार ७।४१) यह उदाहरण उद्धृत किया है[2]। श्री भोजराज ने रुद्रट के—'किं गौरि मां प्रति रुषा ननुगौरहं किं' इत्यादि पद्य[3] और इसके सिवा २० अन्य भी पद्य उदाहरणों में उद्धृत किये हैं। राजशेखर ने भी लिखा है—काकुवक्रोक्तिर्नाम शब्दालङ्कारोयम् इति रुद्रटः' और 'चक्रंदहतारं—चक्रंदहतारं' इत्यादि पद्य भी (काव्यालङ्कार ३।४), काव्यमीमांसा में (पृ० ५७) उद्धृत है। प्रतिहारेंदुराज ने उद्भट के काव्यालङ्कारसारसंग्रह की लघुवृत्ति में रुद्रट के बहुत से पद्य उद्धृत किये हैं, यद्यपि उसने रुद्रट का नामोल्लेख नहीं किया है, पर वे काव्यालङ्कार से लिये गये हैं[4]।

---

१ देखो काव्यप्रकाश, उ० १० पृ० ७८४।

२ देखो ध्वन्यालोक की लोचनव्याख्या पृ० ४५।

३ देखो काव्यालङ्कार २।१५ और सरस्वतीकण्ठाभरण वक्रोक्ति का उदाहरण।

४ 'उपसर्जनोपमेयं' इत्यादि (लघुवृत्ति पृ० ११ 'वस्तुप्रसिद्धमिति' इत्यादि

इन आधारों पर प्रतिहारेन्दुराज तक (लगभग सन् ६०० ई० तक) रुद्रट की अन्तिम सीमा का पता चलता है। किन्तु रुद्रट की पूर्व सीमा के लिये न तो उसने काव्यालङ्कार में अपने किसी पूर्ववर्ती का नामोल्लेख ही किया है और न किसी ग्रन्थ के उदाहरण ही लिये हैं—सम्भवतः इसने स्वयं प्रणीत उदाहरण दिखलाये हैं। ऐसी अवस्था में रुद्रट द्वारा निरूपित अलङ्कारों का क्रम-विकास ही ऐसा आधार है जिसके द्वारा उसकी पूर्व सीमा की कल्पना की जा सकती है। यह कह चुके हैं कि इसने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित अलंकारों से २६ अलङ्कार नवीन निरूपण किये हैं और उनका अपूर्व वैज्ञानिक वर्गीकरण किया है। और इसके सिवा 'वक्रोक्ति' जिसको भामह ने एक विशेष अलङ्कार नहीं किन्तु—

'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना'॥

—काव्यालङ्कार २।८५

यह कहकर वक्रोक्ति की सभी अलङ्करों में व्यापकता बताई है, और दण्डी ने स्वभावोक्ति को छोड़कर सभी अलङ्कारों का सामूहिक नाम वक्रोक्ति बताया है—(का० द० २।३६३) और वामन ने अर्थालङ्कारों में वक्रोक्ति को एक विशेष अलङ्कार प्रदर्शित करके भी परिभाषा में जिसे स्पष्ट सादृश्य-लक्षणा के आश्रित लिखा है; किंतु-अग्निपुराण के पश्चात् रुद्रट ही प्रथम है, जिसने वक्रोक्ति के नामार्थ के अनुसार इसका यथार्थ प्रतिपादन करके इस वक्रोक्ति को शब्दालङ्कारों के प्रारम्भ में ही प्रधान स्थान दिया है। और इसका अनुसरण रुद्रट के उत्तरकालीनप्रायः सभी साहित्याचार्यों ने किया है। ये नवीनताएँ हमें बलात् रुद्रट को भट्टि, भाम-

(ल० पृ० ३३। 'त्वयिदृष्ट एव तस्या' इत्यादि (ल० पृ० ३६।) 'तदद्विगुणं त्रिगुणं वा' इत्यादि (ल० पृ० ४५)। लघुवृत्ति में उद्धृत हैं, वे काव्यालङ्कार में क्रमशः ८।४०, ८।८९, ८।९५, ७।३५, संख्या के हैं। इनके सिवा और भी लिये गये हैं।

हादि पूर्वोल्लिखित पाँचों आचार्यों के पश्चात् किन्तु अन्य मम्मट, अभिनवगुप्त और मुकुल आदि सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों के प्रथम स्वीकार करने के लिये बाध्य करती हैं। क्योंकि इसके ग्रन्थ—काव्यालङ्कार द्वारा यह स्पष्ट विदित होता है कि ध्वनि सम्प्रदाय से—जिसके प्रवर्तक ध्वनिकार और श्री आनन्दवर्धनाचार्य हैं, रुद्रट सर्वथा अपरिचित था। अतएव रुद्रट का समय श्री आनन्दवर्धनाचार्य से, जिनका समय सन् ८५० ई० के लगभग है, कुछ ही उत्तरवर्ती या समकालीन एवं प्रतिहारेन्दुराज (सन् ९०० ई०) आदि से पूर्व, सम्भवतः नवम शताब्दी के उत्तरार्ध में, प्रतीत होता है। रुद्रट का समय डा० बूल्हर ने ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना है[1] पर यह सर्वथा भ्रमात्मक है।

रुद्रट और रुद्रभट्ट

अच्छा अब रुद्रट के सम्बन्ध में एक प्रश्न और उपस्थित होता है कि यह रुद्रट और वह रुद्र (अथवा रुद्रभट्ट) जो शृङ्गारतिलक ग्रन्थ का प्रणेता है क्या एक ही है? मि० पिशल, वेबर औफ्रेस्ट और बूल्हर ने इनको एक ही बतलाया है। किन्तु यह उनका भ्रम है—जैसा कि स्थूलदृष्टि से आपाततः होना स्वाभाविक भी है, क्योंकि रुद्रट के काव्यालङ्कार में रस-प्रकरण की जो परिभाषाएँ आदि दी हैं, उनकी रुद्र के शृङ्गारतिलक से अधिकतया समानता दृष्टिगत होती है। किन्तु इस समानता पर विचार करने के प्रथम हम इन दोनों को भिन्न-भिन्न मानने के कारण दिखाते हैं—इनके ग्रन्थो में अनेक स्थल ऐसे हैं, जिनके द्वारा इनमें भिन्नता स्पष्ट विदित हो जाती है, देखिये—

(१) रुद्र ने प्रचलित परम्परानुसार नौ ही रसों का उल्लेख किया है (शृं० ति० १।६); पर रुद्रट दसवाँ एक प्रेयस् रस भी (काव्यालं० १५।३) लिखता है। और दोनों ग्रन्थों में रसों का वर्णन-क्रम भी सर्वथा भिन्न है।

(२) रुद्र ने भावों की गणना (१।१०—१६) विस्तृत रूप में की है किन्तु रुद्रट ने इनको एक ही पद्य में (१२।४) कह दिया है।

---

[1] काश्मीर रिपोर्ट पृ० ६५।

(३) रुद्र ने भरत के मतानुसार साधारणतः कौशिकी, आरभटी, सात्वती और भारती चार ही वृत्तियाँ लिखी हैं, पर रुद्रट कुछ-कुछ उद्भट का अनुसरण करता हुआ मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता और भद्रा ये पाँच वृत्तियाँ निरूपित करता है, जिनका उपर्युक्त चारों से कुछ सम्बन्ध नहीं है, और इनको श्रवण - सुखद बताता हुआ अनुप्रास के अन्तर्गत दिखाता है।

(४) रुद्र ने प्रचलित परम्परानुसार नायिकाओं की आठ अवस्था निरूपित की है, किन्तु रुद्रट केवल चार अवस्थाओं का ही (१२।४१) उल्लेख करता है। यद्यपि काव्यालङ्कार में १२।४० और १२।४१ के मध्य में १४ आर्यावृत्तों में नायिकाओ की आठ अवस्थाओं का वर्णन है, पर वह प्रक्षिप्त है, जो कि ग्रन्थ-क्रम से निस्सन्देह स्पष्ट निश्चित होता है और मुद्रित पुस्तक में भी प्रक्षिप्त लिखा हुआ है।

(५) शृङ्गारतिलक के अन्तिम आर्यावृत्त में स्वयं ग्रंथकर्त्ता अपना नाम रुद्र बताता है—

'त्रिपुरवधादेव गतामुल्लासमुमां समस्तदेवनताम्।
शृङ्गारतिलकविधिना पुनरपि रुद्रः प्रसादयति'।

इत्यादि अन्य भी ऐसे स्थल हैं, जिनके द्वारा स्पष्ट ही रुद्रट और रुद्र एक व्यक्ति नहीं माने जा सकते। और इनमें जो ऐक्य दृष्टिगत होता है, वह उन्हीं कुछ पद्यों में है, जिनमें परिभाषा या नियमो का उल्लेख है। वह सम्भवतः रुद्र द्वारा, जो रुद्रट का परवर्ती है, रुद्रट से लिये गये हैं। रुद्रट ने रस की परिभाषाएँ मात्र दी हैं—पर अन्य वर्णित विषयों की स्पष्टता उदाहरण सहित की है, अतएव कोई आश्चर्य नहीं कि इसी त्रुटि को पूर्ण करने के लिये रुद्र ने रुद्रट की रस-विषयक परिभाषाएँ लेकर और स्वतः प्रणीत नवीन उदाहरण देकर संभवतः शृङ्गारतिलक की रचना की हो। परिभाषाएँ अन्य के ग्रन्थों से लेने की परिपाटी तो दण्डी के समय से ही आचार्य मम्मट के बाद तक प्रचलित दृष्टि-गत होती है। इस विषय में इस सम्भावना के लिये स्थान नहीं है कि इस त्रुटि को पूर्ण करनेवाला रुद्रट ही क्यों न मान लिया जाय? क्योंकि ऊपर जो इन दोनों के विचारों में

महत्वपूर्ण विभिन्नता दिखाई गई है, वह इनके एकीकरण के विरुद्ध है।

शृङ्गारतिलक के प्रणेता रुद्र के समय की अन्तिम सीमा के लिये आधार यह है कि शृङ्गारतिलक (१।४१ पृ० १२०) का—सार्धं मनोरथशतैस्तव धूर्तकान्ता इत्यादि पद्य विष्णु शर्मा ने पञ्चतन्त्र के लब्धप्रणाश तंत्र में उद्धृत किया है। विष्णु शर्मा कुट्टनीमत के लेखक दामोदर गुप्त के बाद का है क्योंकि कुट्टनीमत का 'पर्यङ्कः स्वास्तरणः' इत्यादि (संख्या ७६६) पद्य पञ्चतन्त्र के प्रथम तंत्र में उद्धृत है। दामोदर गुप्त काश्मीर के राजा जयापीड का मन्त्री था[1]। जयापीड का समय सन् ७५५–७८६ ई० है। और शृंगारतिलक के प्रारंभ के 'शृङ्गारीगिरिजानने...' इस पद्य को हेमचन्द्रने (पृ० ११० में) उद्धृत करके उसकी आलोचना की है। अतः इसका समय दामोदर गुप्त और नवीं शताब्दी के रुद्रट के बाद और १२ वीं शताब्दी के हेमचन्द्र से पूर्व है।

रुद्रट के ग्रन्थ पर नमि साधु की केवल एक ही टीका मुद्रित है। नमि साधु श्वेताम्बर जैन भिक्षुक था और शालिभद्र का शिष्य था। उसने टीका का समय ग्रन्थान्त में विक्रमाब्द ११२५ (१०६९ ई०) लिखा है—

'पञ्चविंशति संयुक्तैरेकादशसमाशतैः।
विक्रमात्समतिक्रान्तैः प्रावृषीदं समर्थितम्,।

इस पर एक टीका वल्लभदेव की भी है जो नमि साधु से प्राचीन है। किन्तु वह अनुपलब्ध है। वल्लभदेव ने माघ की टीका में (४।२१ और ६।२८ में) स्पष्ट किया है कि वह राजानक आनन्ददेव का पुत्र काश्मीरी था। इसने कालिदास और रत्नाकर आदि के ग्रन्थों पर भी टीकाएँ लिखी हैं। इसका समय सम्भवतः दशमी शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। इसके पौत्र कैय्यट ने आनन्दवर्धनाचार्य के देवीशतक पर सन् ९७७ ई०में टीका लिखी है। यह वल्लभदेव सुभाषितावली के लेखक १६वीं शताब्दी के वल्लभदेव से भिन्न है।

—:※:—

---

१ देखो राजतरङ्गिणी ४।४९५।

ध्वनिकार एवं श्री आनन्दवर्धनाचार्य
और
उनका ध्वन्यालोक

'ध्वनिनातिगंभीरेण काव्यतत्वनिवेशिना ।
आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः' ।

—राजशेखर ।

ध्वन्यालोक के कारिकाकार अज्ञातनामा ध्वनिकार और वृत्तिकार श्री आनन्दवर्धनाचार्य का स्थान भामह आदि साहित्याचार्यों में सर्वोच्च और महत्वपूर्ण है। इन्होंने साहित्य-संसार में वस्तुतः युगान्तर उपस्थित कर दिया है। इनके प्रथम भामह आदि द्वारा सभी ग्रन्थों में अलङ्कार सिद्धान्त का ही सर्वत्र प्राधान्य था। रीति को प्रधानता देनेवाला वामन भी अलङ्कारों को गुणों का—जिनपर रीति सिद्धान्त अवलम्बित है—अतिशय-कारक स्वीकार करता है। किन्तु ध्वनिकारों ने ध्वनि-सिद्धात का अपूर्व प्रतिपादन करके केवल अलंकार-सिद्धांत को ही नहीं, काव्य के अन्य सभी सिद्धांतों की प्रधानता को दबाकर काव्य में ध्वनि का ही सर्वत्र साम्राज्य स्थापित कर दिया है। यहाँ तक कि रससिद्धांत की—जिसको महामुनि भरत ने सर्वप्रधान बताया है, इन्होंने—प्रधानता स्वीकार करते हुए भी अपनी अपूर्व प्रतिभा के महत्वपूर्ण विवेचन द्वारा बड़ी मार्मिकता से इसे ध्वनि के ही अन्तर्गत ध्वनि का एक प्रधान भेद स्पष्ट रूप से प्रदर्शित कर दिया है। इसीलिये ध्वन्यालोक का साहित्य-शास्त्र में सर्वोच्च स्थान है। यह ग्रन्थ कतिपय उन ग्रन्थों में है जिनमें यथार्थ मौलिकता का सार्वत्रिक साम्राज्य है। इस ग्रन्थ के सिद्धातों को प्रायः सभी साहित्याचार्यों ने बड़े संमान के साथ मान्य किया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी, जिन्होंने प्रायः सभी साहित्याचार्यों की लगे हाथ बड़ी तीव्र आलोचना की है, ध्वन्यालोक के सिद्धांत सादर मान्य किये हैं। यही नहीं किंतु—'ध्वनिकृतामालङ्कारिकसरणिव्यवस्थापकत्वात्' (रसगङ्गाधर पृ० ४२५) यह कहकर ध्वनिकारों के सिद्धातों को आदर्श-रूप भी स्वीकार किया है।

ध्वन्यालोक में चार उद्योत हैं, उनमें १२६ कारिकाएँ हैं। और वृत्ति में अत्यन्त महत्वपूर्ण और मार्मिक आलोचनात्मक विवेचन द्वारा ध्वनि सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है। यह ग्रन्थ काव्यमाला में निर्णयसागर प्रेस में मुद्रित हुआ है। मुद्रित ग्रन्थ में तीन उद्योतों पर श्री अभिनवगुप्ताचार्य कृत 'लोचन' व्याख्या है और चतुर्थ उद्योत मूल मात्र है। इसका प्रधान विषय-निरूपण इस प्रकार है—

(१) प्रथम उद्योत की २२ कारिकाओं में ध्वनि की स्थापना की गई है।

(२) द्वितीय उद्योत की ३६ कारिकाओं में ध्वनि के भेद—अविवक्षित वाच्य, विवक्षित वाच्य आदि, रसवदादि अलङ्कार, माधुर्यादि तीन गुण, श्रुतिकटु आदि कुछ दोष, ध्वन्यात्मभूत अलङ्कार, अनुकरणात्मक ध्वनि, अलङ्कारध्वनि और ध्वन्याभास आदि निरूपण है।

(३) तृतीय उद्योत में ५४ कारिकाओं में पद-वाक्य-व्यञ्जकता, सघटना रसौचित्य, गुणीभूतव्यङ्ग्य, वाच्यालंकार और ध्वनि-संसृष्टि का निरूपण है।

(४) चतुर्थ उद्योत में १७ कारिकाओं में ध्वनि का उत्कर्ष और काव्य-मार्ग का आनत्य प्रदर्शित किया गया है।

ध्वन्यालोक के लेखक

ध्वन्यालोक की रचना में तीन अंश हैं—मूल कारिकाएँ, वृत्ति और उदाहरण। उदाहरण तो तत्कालिक प्रचलित प्रथानुसार प्रायः ग्रन्थान्तरों के उद्धृत हैं। किन्तु कारिका और वृत्ति के प्रणेता के विषय में यह एक जटिल प्रश्न है कि कारिका और वृत्ति दोनों का प्रणेता एक ही है, या दो भिन्न भिन्न? इस विषय में ध्वन्यालोक के उत्तरकालीन ग्रन्थकार—जिन्होंने इस ग्रन्थ की कारिकाएँ और वृत्तियों के उद्धरण अथवा इसके सिद्धात उद्धृत किये हैं, वे दो समूहों में विभक्त हैं। एक समूह के द्वारा कारिकाकार और वृत्तिकार की भिन्नता प्रतीत होती है और दूसरे समूह द्वारा इनका एकीकरण ज्ञात होता है।

इस विषय में अन्य ग्रन्थों के उल्लेखों के प्रथम इस ग्रन्थ के अन्तरङ्ग उपलब्ध आधारो पर विचार किया जाता है, तो मुद्रित ग्रन्थ के सम्पादकीय

वक्तव्य द्वारा विदित होता है, कि इसके प्रकाशक महाशयों ने तीन हस्तलिखित प्रति संग्रह की थीं, उनमें काश्मीर और पूना के भण्डारकर लाइब्रेरी की दोनों प्रतियों में वृत्तिकार के अन्तिम दो श्लोकों के प्रथम—

'इत्यानन्दवर्धनाचार्यविरचिते सहृदयालोके काव्यालङ्कारे ध्वनि प्रतिपादने चतुर्थ उद्योतः समाप्तः'

यह लेख अधिक है। और तीसरी प्रति, जो माइशोर की ताडपत्र पुस्तक की प्रतिलिपि है, उसके अन्त में—

'इति श्री राजानक आनन्दवर्धनाचार्यविरचिते
सहृदयालोक नाम्नि काव्यालङ्कारे चतुर्थः उद्योतः'

यह लेख है। और मुद्रित पुस्तक में भी ग्रन्थ समाप्ति पर अन्तिम श्लोक के प्रथम श्लोक में—

"काव्याख्येऽखिलसौख्यधाम्नि विबुधोद्याने ध्वनिर्दर्शितः'।

यह कहा गया है। तथा 'लोचन' व्याख्या के प्रारंभ में अभिनवगुप्ताचार्य ने भी प्रथम पद्य में—

'सरस्वत्यास्तत्वं कविसहृदयताख्यं विजयतामू'।

और दूसरे पद्य में—

'यत्किञ्चिदप्यनुरणन्स्फुटयामि काव्या-
लोकं सुलोचननियोजनया जनस्य'।

ऐसा लिखा है इसके सिवा तृतीय उद्योग की ५३वीं मूल कारिका में भी कहा है—

'शब्दतत्वाश्रयाः काश्चिदर्थतत्वयुजोऽपराः।
वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन्काव्यलक्षणे'

इनके अतिरिक्त अभिनवगुप्ताचार्य ने नाट्यशास्त्र की 'अभिनवभारती' टीका में भी—

'तच्च मदीयादेव तद्विवरणात्सहृदयालोचनादवधारणीयम्'
(अ० भा० पृ० ३४४)

इन वाक्यों द्वारा अनुमान होता है कि कारिकात्मक मूल-ग्रन्थ का नाम संभवतः 'सहृदय या काव्यध्वनि' अथवा केवल 'काव्य' या 'ध्वनि' रहा हो। और उनपर वृत्ति लिख कर श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने वृत्ति की संज्ञा 'आलोक' रखकर इसको 'सहृदयालोक' या 'काव्यालोक' अथवा 'ध्वन्यालोक' सज्ञा प्रदान की हो। अभिनव-भारती में 'सहृदयालोक' नाम के सिवा 'ध्वन्यालोक' का नामोल्लेख भी है—
"यदाह—'या व्यापारवती रसान्रसयितुं' इत्यादि ध्वन्या ३" (अ० भा पृ० ३०१)

जो कुछ हो, यह तो निस्सन्देह है कि 'सहृदय' के साथ ध्वन्यालोक ग्रन्थ का सम्बन्ध प्रणेता के रूप में या ग्रन्थ-संज्ञा के रूप में अवश्य है। क्योंकि 'अभिधावृत्तिमातृका' के लेखक मुकुल ने भी—जो अभिनवगुप्ताचार्य का पूर्ववर्ती है, और जिसका समय लगभग सन् ६२५-६४० ई० है, लिखा है—

(१) 'तथाहि तत्र विवक्षितान्यपरता सहृदयैः काव्यवर्त्मनि निरूपिता'
(अ० मा० पृ० १९)

(२) 'लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेः सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यत इति'। (अ० मा० पृ० २१)

और मुकुल के शिष्य, उद्भट पर लघुवृत्ति के लेखक प्रतिहारेंदुराज ने भी कहा है—

'ननु यत्र काव्ये ......काव्यजीवितभूतः कैश्चित्सहृदयै ध्वर्निर्नाम व्यञ्जकत्वभेदात्मा काव्यधर्मोऽभिहितः'।
(काव्याल० सारसंग्रह पृ० ८५ बांबे सीरीज)

इन वाक्यों द्वारा भी इसकी पुष्टि होती है कि 'सहृदय' से ध्वनि विषयक नवीन सिद्धात का सबंध अवश्य था। संभव है लेखक के नाम से ही इस ग्रन्थ को 'सहृदय' संज्ञा दी गई हो।

लोचन व्याख्या के लेखक अभिनवगुप्ताचार्य, कारिका और वृत्ति के लेखक भिन्न भिन्न मानते हैं—

'उक्तमेव ध्वनिस्वरूपं तदाभासविवेकहेतुतया कारिकाकारोनुवदतीत्यभिप्रायेण वृत्तिकृदुपस्कारं ददाति'
(ध्व० टीका पृ० १२२)

केवल यही नहीं और भी अनेक स्थलों पर (ध्व० टीका पृष्ठ १, ८, ५६, ६०, ७१, १०४ आदि में) लोचन में कारिकाकार और वृत्तिकार की पृथक्ता दिखाई है। यही क्यों, और देखिये—

'एतत्तावत्त्रिभेदत्वं न कारिकाकारेण कृतं वृत्तिकारेणतु दर्शितं'।

(ध्व० टी० पृ० १२३)

'कारिकाकारेण पूर्वं व्यतिरेकउक्तः······। वृत्तिकारेणतु अन्वयपूर्वकोव्यतिरेकइतिशैलीमनुकर्तुमन्वयः पूर्वमुपात्तः'।

(ध्व० टी० पृ० १२०-२१)

इत्यादि अनेक स्थलों पर लोचन में कारिकाकार और वृत्तिकार की लेखन शैली में स्पष्टतया भेद प्रदर्शित किया गया है। इनके अतिरिक्त इस विषय में ध्वन्यालोक मूल ग्रन्थ में भी एक स्थान पर एक संकेत दृष्टिगत होता है। तृतीय उद्योत की छठी कारिका की वृत्ति में कहा गया है कि अव्युत्पत्ति कृत दोष कवि की प्रतिभा द्वारा कहीं कहीं छिप जाता है, इसके उदाहरण में महाकवि कालिदास द्वारा कुमारसंभव में वर्णित संभोगशृङ्गार का उल्लेख है। और इस विषय का निरूपण आगे कारिका ग्रन्थ में भी है, इसलिये वृत्तिकार ने लिखा है—'दर्शितमेवाग्रे' (ध्वन्या० पृ० १३८) यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि यदि वृत्तिकार ही कारिकाओं का प्रणेता होता तो वह 'दर्शितं' इस प्रकार भूतकालिक प्रयोग आगे दिखाये जानेवाले प्रकरण के लिये न करके, भविष्य-कालिक प्रयोग करता अर्थात् यह कहता कि 'आगे दिखाया जायगा'। किन्तु प्रतीत होता है कि कारिकाएँ उनके पूर्ववर्ती लेखक की थीं इसीलिये उस भूतकाल के लेखक के लिये 'दर्शितं' का प्रयोग किया है। और लोचन में भी 'दर्शितमग्रे' की व्याख्या में स्पष्ट यही लिखा हुआ है कि—'दर्शितमग्रे कारिकाकारेण'। निष्कर्ष यह है कि ध्वन्यालोक के उपलब्ध अन्तरङ्ग संदिग्ध संकेतों द्वारा तथा प्रतिहारेन्दुराज के और अभिनवगुप्ताचार्य के वाक्यों द्वारा वृत्तिकार श्री आनंदवर्धनाचार्य से ध्वनिकारिका-कार भिन्न प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त राजशेखर भी—

'प्रतिभा श्रेयसी' इति आनन्द...... तदाहुः—
अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते[1] ॥
(काव्य मी० पृ० १६)

इस उल्लेख द्वारा आनन्दवर्धनाचार्य को वृत्तिकार बताता है। अच्छा, जब कि उपर्युक्त आधार कारिका के प्रणेता ध्वनिकार और वृत्ति के लेखक श्री आनंदवर्धनाचार्य को—दो भिन्न-भिन्न, स्वीकार करने के लिये मिलते हैं, तब दूसरी ओर इन दोनों का एकीकरण जिनके द्वारा प्रतीत होता है ऐसे उल्लेख भी बहुत से दृष्टिगत होते हैं। जैसे—

(१) रुय्यक के 'अलङ्कारसर्वस्व' के टीकाकार समुद्रबंध ने (१२६५ ई०) रुय्यक के पूर्ववर्ती, काव्यशास्त्र के पाच सिद्धांतो के प्रवर्तकों का उल्लेख करते हुए आनंदवर्धनाचार्य को ध्वनि-सिद्धात का प्रवर्तक बताया है[2]।

(२) जल्हण ने सूक्तिमुक्तावली में कुछ पद्य संदिग्धतया राजशेखर के नाम से उद्धृत किये हैं उनमें—

'ध्वनिनातिगभीरेण काव्यतत्वनिवेशिना।
आनंदवर्द्धनः कस्य नासीदानंदवर्द्धनः'[3] ॥

इस पद्य में आनंदवर्धनाचार्य को ध्वनि-प्रवर्तक बताया है।

(३) महिमभट्ट ने (१०७५ ई०) ध्वन्यालोक की कारिका और वृत्ति दोनों ध्वनिकार के नाम से उद्धृत की है, जैसे—

---

१ यह पद्य ध्वन्यालोक की वृत्ति में (पृ० १३७) परिकर श्लोक के नाम से लिखा गया है।

२ देखो अलङ्कारसूत्र त्रिवेन्द्रम संस्क० पृ० ९

३ देखो जर्नल आफ बांबे ब्रांच रायल एशियाटिक सोसाइटी पुस्तक १७ पृ० १३७।

'यथार्थः शब्दो वा' इत्यादि कारिका १।१३ ध्वन्या० पृष्ट ३३ और व्यक्तिविवेक पृ० १।

'सारभूतोह्यर्थः स्वशब्देनाभिधेयत्वेन' वृत्ति ध्वन्या० पृ० २३९, व्यक्तिविवेक पृ० १२।

(४) राजानक कुन्तक ने भी (लगभग ६५० ई०) 'ताला जाअंति गुणा जालादे सहि अएहि घेप्पंति'। इस पद्य को—जिसे ध्वन्यालोक (पृ० ६२) में श्री आनंदवर्धनाचार्य ने वृत्ति में स्वप्रणीत विषमबाण लीला का बताया है, ध्वनिकार के नाम से उद्धृत किया है—'ध्वनिकारेण······समर्थितः' (वक्रोक्तिजीवित २।२६ पृ० ७०) अर्थात् वृत्ति ग्रन्थ के लेखक का ही ध्वनिकार के नाम से उल्लेख करता है।

(५) प्रतिहारेंदुराज (लगभग ६५० ई०) द्वारा दिये गये एक उद्धरण का ऊपर उल्लेख किया गया है, उसने उसी प्रकरण में ध्वनि सिद्धात की विस्तृत आलोचना भी की है[1]। जिसमें ध्वन्यालोक के वृत्तिकार को भी 'सहृदय' ही संज्ञा दी है। यहाँ तक कि ध्वन्यालोक वृत्ति में—'सर्वैकशरण-मक्षयमधीशं धियां हरिं कृष्णम्' इत्यादि पद्य—जिनको आनंदवर्धनाचार्य ने 'यथाममैव' अर्थात् स्वयं प्रणीत स्पष्ट बताये हैं, उनका भी उल्लेख उसने 'सहृदय'[2] कह कर ही किया है।

(६) क्षेमेन्द्र ने भी (१०७५ ई०) ध्वन्यालोक की 'अविरोधी विरोधी वा' इत्यादि मूल कारिका (३।२४ पृ० ११२) को, 'तदुक्तं आनंदवर्द्धनेन'[3] कहकर उद्धृत की है। अर्थात् क्षेमेंद्र भी आनंदवर्धनाचार्य का ही कारिकाकार के निर्माता के रूप में उल्लेख करता है।

(७) हेमचंद्र ने भी (लगभग ११२५ ई०), 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इत्यादि

---

१ देखो काव्यालङ्कारसारसंग्रह बांबे सीरीज संस्करण पृ० ८५ से ९२ तक।

२ देखो काव्यालंकारसारसंग्रह बांबे सीरीज पृ० ९०।

३ देखो औचित्यविचार चर्चा पृ० १३४।

मूल कारिका (ध्वन्या० १।४ पृ० १४) को विवेक में (पृ० २६) श्री आनन्दवर्धनाचार्य के नाम से, और काव्यानुशासन (पृ० ११३, २३५) में 'विनयोन्मुखीकर्तुं' (ध्वन्या० ३।३० पृ० १७६) और 'अर्थान्तर गतिः काक्वा' (ध्वन्या० ३।३६ पृ० २१२) इन दोनो कारिकाओं को ध्वनिकार के नाम से उद्धृत किया है। अर्थात् इसने श्री आनंदवर्धनाचार्य और 'ध्वनिकार को एक ही माना है।

उपर्युक्त आचार्यों के उत्तरकालीन ग्रन्थों के उल्लेख इस विषय में उद्धृत करना अनावश्यक है, जब कि ध्वन्यालोक के निकटवर्ती उक्त ग्रन्थकारों का ही एक मत नहीं है, जैसा कि ऊपर के अवतरणों से स्पष्ट है। तथापि पूर्वोक्त एक से चार तक के लेखकों की लेखनशैली में कुछ भिन्नता प्रतीत होने पर भी वस्तुतया मतैक्य ही है क्योंकि प्रथम के दोनों—समुद्रबन्ध और जल्हण—ने श्री आनन्दवर्धनाचार्य को ध्वनि का प्रवर्तक और तीसरे—महिमभट्ट—ने वृत्ति के लेखक को ध्वनिकार और चौथे—कुन्तक—ने वृत्ति और कारिका दोनों के लेखक को ध्वनिकार संज्ञा प्रदान की है अर्थात् इन चारों ने श्री आनन्दवर्धनाचार्य को केवल ध्वनि प्रवर्तक या ध्वनिकार बताया है न कि कारिकाकार। अतएव इसके द्वारा यह सिद्ध नहीं हो सकता कि वे आनन्दवर्धनाचार्य को कारिकाकार बताते हैं, अथवा कारिकाकार और वृत्तिकार को एक मानते हैं।

अच्छा, अब प्रश्न यह हो सकता है कि क्या वृत्तिकार श्री आनन्दवर्धनाचार्य ध्वनि प्रवर्तक या ध्वनिकार नहीं हैं? क्या केवल कारिकाकार ही इस उपाधि का एकमात्र अधिकारी है?. यदि वस्तुतः देखा जाय तो ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तक तो कारिकाकार और श्री आनन्दवर्धनाचार्य दोनों ही नही कहे जा सकते हैं, जब कि ध्वनिसिद्धात इन दोनो ही के प्रथम भी प्रचलित था, जैसा कि ध्वन्यालोक के प्रारम्भ ही में—

'काव्यस्यात्मा ध्वनिरितिबुधैर्यः समाम्नात पूर्वः' (पृ० २)

इस कारिका में और इसकी वृत्ति में—

'बुधै काव्यतत्वविद्भिः काव्यास्यात्माध्वनि-
रिति संज्ञितः परम्परया यः समाम्नातः
(पृ० ३)

यह कहा गया है और इससे स्पष्ट है कि ध्वन्यालोक के पूर्व भी ध्वनि विषय पर अनेक विद्वानों द्वारा विवेचन किया गया है। किंतु संभवतः इस सिद्धांत को स्वतंत्र ग्रन्थ रूप में इसके पूर्व किसी के द्वारा सम्बद्ध नहीं किया गया था। जैसा कि इस कारिका और वृत्ति की व्याख्या लोचन में कहा गया है—'विनापि विशिष्टपुस्तकेषु विवेचनादित्यभिप्रायः' (ध्वन्या० टीका पृ० ३) इसके द्वारा स्पष्ट विदित होता है कि पूर्व विद्वानों के ध्वनि-सिद्धांत-विषयक वाक्य यत्र तत्र बिखरे हुए थे, सबसे प्रथम कारिकाकार ने ही स्वतंत्र-ग्रन्थ रूप में ध्वनि सिद्धांत का प्रतिपादन किया है इसीलिये कारिकाकार को ध्वनि-प्रवर्तक कहा जाता है, यद्यपि उसने वस्तुतः पूर्व के ध्वनि-सिद्धातवादियों का प्रतिनिधित्व ही किया है। सत्य तो यह है कि यदि इन अल्पसंख्यक कारिकाओं पर श्री आनन्दवर्धयाचार्य द्वारा विवेचनात्मक गंभीर एवं ओजपूर्ण विस्तृत वृत्ति न लिखी जाती तो क्या यह संभव था कि इस ग्रन्थ की केवल मूल कारिकाओं द्वारा इस सिद्धांत को इतना महत्व प्राप्त हो सकता? ऐसी परिस्थिति में जिस श्री आनन्दवर्धनाचार्य की वृत्ति द्वारा साहित्य क्षेत्र में ध्वनि-सिद्धांत अपना एकाधिपत्य स्थापित करने में समर्थ हो सका है, वह वृत्तिकार क्या कारिकाकार के समान ध्वनि-प्रवर्तक अथवा ध्वनिकार की उपाधि का अधिकारी नहीं? यदि ऐसा माना जाता तो वस्तुतः श्री आनन्दवर्धनाचार्य के साथ कृतघ्नता होती, किन्तु कृतज्ञ विद्वानों द्वारा ऐसा क्यों हो सकता था, इसीलिये उन्होंने ध्वनिकार की उपाधि से श्री आनन्दवर्धनाचार्य को भी विभूषित करके अपना कर्तव्य पालन किया है। इसी को लक्ष्य में रख-कर आचार्य मम्मट ने भी दोनों के लिये ही 'ध्वनिकार' का प्रयोग किया है, जब कि उसने—'व्यञ्जन्ते वस्तुमात्रेण……' इति 'ध्वनिकारोक्तदिशा' (का० प्र० पृ० २५५) और 'तदुक्तं ध्वनिकृता—सगुणीभूतव्यङ्ग्यै……' (का० प्र० पृ० २५७) इन कारिकाओं के साथ ध्वनिकार का नामोल्लेख किया है, तब उसी

प्रकार ध्वन्यालोक के 'अनौचित्यादृते नान्यद्......' (काव्यप्रकाश पृ० ५४०) इस (ध्वन्या० पृ० १४५) वृत्तिगत पद्य का भी ध्वनिकार के नाम से उल्लेख किया है। आचार्य मम्मट के विषय में यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि वह कारिका और वृत्ति का लेखक एक ही समझता था क्योंकि जिस अभिनवगुप्ताचार्य ने ध्वन्यालोक की लोचन टीका में कारिकाकार और वृत्तिकार को स्पष्टतया भिन्न बताया है, (जैसा कि ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है) उस (अभिनव०) से आचार्य मम्मट केवल परिचित ही नहीं था, किंतु वह (मम्मट) अभिनवगुप्ताचार्य को संभवतः अपना आचार्य भी व्यक्त करता है। अतएव इसके द्वारा निर्विवाद सिद्ध होता है कि आचार्य मम्मट ने यह जानते हुए भी कि—कारिकाकार और वृत्तिकार भिन्न भिन्न हैं, दोनों के लिये 'ध्वनिकार' उपाधि का प्रयोग किया है। अतएव अन्य लेखकों द्वारा भी ऊपर के अवतरणों में ऐसा उल्लेख किया जाना कोई आश्चर्य-कारक नहीं हो सकता। इसी प्रकार ऊपर की पाँचवीं संख्या के प्रतिहारेन्दुराज द्वारा 'सहृदय' का प्रयोग भी 'सहृदयैः' बहुवचन में किया गया है, न कि 'सहृदयेन' इस प्रकार एक वचन से अर्थात् ध्वनिकार और वृत्तिकार आनन्दवर्धनाचार्य दोनों के लिये ही है। अतएव इन पाँचों के द्वारा किये गये उल्लेख का तो इस प्रकार समाधान हो जाता है। अब रहे छठे और सातवें—क्षेमेन्द्र और हेमचन्द्र। इनके द्वारा यद्यपि कारिकाओं के साथ श्री आनंदवर्धनाचार्य का नामोल्लेख किया गया है, किन्तु प्रतीत होता है कि इस-प्रकार के उल्लेख करनेवाले ग्रन्थकर्ताओं द्वारा कारिका और वृत्ति के लेखक के विषय में सूक्ष्म विचार नहीं किया गया है और न उन्हें इसपर विचार करने की आवश्यकता ही थी। ऐसे लेखकों को तो ध्वन्यालोक के सिद्धांत अपने ग्रन्थ में उद्धृत करना मात्र ही अभीष्ट था—न कि उसके लेखक के विषय में निर्णय करना। एतावता इनके उल्लेखों द्वारा ध्वन्यालोक की कारिका और वृत्ति के लेखक के निर्णय के लिये कुछ सहायता नहीं प्राप्त हो सकती। ऐसी अवस्था में ध्वन्यालोक के टीकाकार अभिनवगुप्ताचार्य के मतानुसार कारिका और वृत्ति के भिन्न भिन्न लेखक मानना ही उचित है।

अच्छा, अब एक प्रश्न यह होता है कि ध्वन्यालोक का कारिकाकार, श्री आनन्दवर्धनाचार्य से भिन्न है, तो वह कौन है ? इसके लिये कोई विश्वसनीय साधन नहीं है। यदि ग्रन्थ के अन्तरङ्ग उल्लेख द्वारा—जैसा कि ऊपर अनुमान किया गया है—'सहृदय' को कारिकाकार माना जाय तो इसमें भी एक प्रबल विरोध है—अभिनवगुप्ताचार्य ने 'सहृदय' पद की व्याख्या में कहीं भी कारिकाकार से सम्बन्ध प्रदर्शित नहीं किया है, किंतु 'सहृदय' की स्पष्टता यही की है—

'ये तादृशपूर्वकाव्यरूपतया जानन्ति त एव सहृदयाः'

(ध्वन्या० लोचन पृ० ७)

और कारिका के प्रणेता के लिये आज्ञातनामा 'कारिकाकार' का ही प्रयोग किया है, अतएव यह प्रश्न निरुत्तर ही रहता है।

ध्वन्यालोक का समय

ध्वन्यालोक की कारिका के लेखक ध्वनिकार के समय पर तो अधिक क्या कहा जा सकता है, जब उसका नाम ही निश्चित नहीं है, केवल यही अनुमान हो सकता है कि कारिकाकार संभवतः श्री आनंदवर्धनाचार्य से २ या ३ शताब्दी से अधिक प्राचीन नहीं। यदि इस बात पर ध्यान दिया जाय, और ध्यान देना उचित भी है, कि ध्वनि-सिद्धांत को पूर्ण महत्त्व श्री आनंदवर्धनाचार्य द्वारा वृत्ति लिखे जाने पर उपलब्ध हुआ है, तो यह भी संभव है कि कारिका ग्रन्थ भामह और दण्डी आदि के समकालीन या उनके निकटवर्ती कुछ आगे पीछे लिखा गया है, क्योंकि ध्वनि के विषय में भामहादि द्वारा कुछ भी संकेत नहीं किया गया है।

श्री आनन्दवर्धनाचार्य
का
परिचय और समय

वृत्तिकार श्री आनंदवर्धनाचार्य का व्यक्तिगत परिचय, ध्वन्यालोक की एक हस्तलिखित प्रति के—जो इण्डिया ऑफिस में है, तृतीय उद्योत के अन्त में

यह मिलता है कि वह अपने पिता का नाम लोडोपाध्याय या चौथे उद्योत के अन्तिम पद्य में जोलोपाध्याय बतलाते हैं[1]। किन्तु श्री आनंदवर्धनाचार्य के देवीशतक के १०१ वें श्लोक द्वारा यह 'नोण' के पुत्र प्रतीत होते हैं[2]। और लोडोपाध्याय एवं जोलोपाध्याय के उल्लेख का कारण लिपिभ्रम प्रतीत होता है।

श्री आनंदवर्धनाचार्य का समय तो सरलता से निश्चित हो जाता है। कल्हण ने लिखा है—

'मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः,
प्रथां रत्नाकरश्चागात्साम्राज्येऽवन्तिवर्मणि'।

—राजतरङ्गिणी ५।३४

इसके अनुसार श्री आनंदवर्धनाचार्य काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के राज्य-काल में (सन् ८५७-८८४ ई०) विद्यमान थे। और लगभग सन् ९२५ ई० के राजशेखर ने काव्यमीमांसा में इनका नामोल्लेख किया है। और श्री आनंदवर्धनाचार्य ने लगभग सन् ८०० ई० के लेखक आचार्य उद्भट का ध्वन्यालोक वृत्ति मे उल्लेख किया है जैसा कि उद्भटाचार्य के निबन्ध में पहिले दिखा चुके हैं। अतः श्री आनंदवर्धनाचार्य का समय संभवतः सन् ८०० से ८८४ ई० के मध्य में सन् ८५० ई० के लगभग है।

श्री आनंदवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक की वृत्ति के अतिरिक्त और भी कितने ही ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमे अर्जुनचरित्र तथा विषमबाणलीला का नामोल्लेख इन्होंने स्वयं ध्वन्यालोक की वृत्ति में किया है[3]। इनका देवीशतक तो काव्यमाला

---

१ देखो मुद्रित ध्वन्यालोक का संपादकीय लेख—एतत्पितुश्च 'नोण' इति नामासीदित्येतत्प्रणीतदेवीशतकतो बुध्यते।

२ देखो श्री काणे की साहित्यदर्पण की अंग्रेजी भूमिका पृ० ६९।

३ अर्जुनचरित्र का उल्लेख ध्वन्यालोक पृ० १४८ और विषमबाणलीला का ध्वन्यालोक पृ० १५२, २४१ में है।

में मुद्रित भी हो गया है। और धर्मकीर्ति के 'प्रमाणविनिश्चय' की टीका भी इन्होंने लिखी है। यह काश्मीरी थे यह तो इनकी राजानक उपाधि द्वारा ही स्पष्ट है।

ध्वन्यालोक पर श्री अभिनवगुप्ताचार्य कृत 'लोचन' व्याख्या मुद्रित हो चुकी है। और लोचन व्याख्या द्वारा विदित होता है कि ध्वन्यालोक पर एक चन्द्रिका नाम की टीका भी अभिनवगुप्ताचार्य के किसी पूर्वज द्वारा लिखी गई है[1]। उसपर अभिनवगुप्ताचार्य ने लोचन में—'इत्यलं निजपूर्वजसगोत्रैः साकं विवादेन' इत्यादि वाक्यों द्वारा आक्षेप भी किया है[2]। अभिनवगुप्ताचार्य और उनकी लोचन व्याख्या के विषय में अधिक उल्लेख आगे कालक्रम के अनुसार अभिनवगुप्ताचार्य के प्रकरण में किया जायगा।

मुकुलभट्ट और अभिधावृत्तिमात्रिका

मुकुल की अभिधावृत्तिमात्रिका में केवल १५ कारिकाएँ है। उनपर स्वयं मुकुल ने ही विस्तृत वृत्ति लिखी है। इसमें वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) और लक्ष्यार्थ एव अभिधा और लक्षणा मात्र का निरूपण किया गया है। यह ग्रन्थ छोटा होने पर भी महत्वपूर्ण है। मुकुल भट्ट का यद्यपि अन्य कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, फिर भी मुकुल का स्थान साहित्यक्षेत्र में उल्लेखनीय अवश्य है। उद्भटाचार्य के काव्यालङ्कारसारसंग्रह पर लघुवृत्ति व्याख्या के लेखक श्री प्रतिहारेन्दुराज जैसे विद्वान् ने लघुवृत्ति के अंतिम पद्य मे मुकुल का अपने आचार्य रूप मे गौरव के साथ उल्लेख किया है।

अभिधावृत्तिमातृका के अंतिम पद्य मे मुकुल ने अपने पिता का नाम कल्लट भट्ट बताया है। भट्ट कल्लट काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा का सभा-पण्डित था जैसा कि राजतरंगिणी के—

---

१ देखिये ध्वन्यालोक के प्रथम और तृतीय उद्योत की लोचन व्याख्या के अन्तिम श्लोक।

२ देखिये, लोचन व्याख्या पृ० १२३, १७४, १७८, १८५।

'अनुग्रहाय लोकानां भट्टाः श्री कल्लटादयः ।
अवन्तिवर्मणः काले सिद्धा भुवमवातरन् ।'

—राजतरङ्गिणी ५।६६

इस पद्य मे कहा गया है। अवन्तिवर्मा का समय सन् ८५७-८८४ ई० है[1]। इसके द्वारा-मुकुल का समय ई० सन् की नवम शताब्दी का अन्तिम चरण या दशवीं शताब्दी के प्रारम्भ में माना जा सकता है।

—:o:—

राजशेखर और उसकी काव्यमीमांसा

'बभूव वल्मीकभवः पुराकविस्ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम् ।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः' ।

—बालभारत १।१३

काव्यमीमासा रस, रीति अथवा अलङ्कार आदि किसी विशेष विषय का ग्रन्थ नहीं। किन्तु इसमें काव्य के सारे प्रयोजनीय विषयों का एक नवीन किन्तु अत्यन्त सारगर्भित आलोचनात्मक शैली द्वारा विवेचन किया गया है। अतएव यह ग्रन्थ काव्य-शिक्षा-विषयक अत्यन्त महत्वपूर्ण और उपयोगी है। खेद है कि १८ अधिकरणों में पूर्ण होनेवाले इस महाग्रन्थ का केवल एक 'कविरहस्य' नामक प्रथम अधिकरण ही उपलब्ध हो सका है जो गायकवाड़ सीरीज में मुद्रित हुआ है। इस अधिकरण में १८ अध्याय हैं। इसका विषय-विवरण संक्षिप्ततया भी विस्तार-भय से हम यहाँ नहीं दे सकते। इसका विषय-विवेचन अपूर्व और पाण्डित्य-पूर्ण है। सक्षेप में यही कहना पर्याप्त है कि यह अपूर्व ग्रन्थ अनेक विषयों का भाण्डागार है। इसका जो कुछ अंश उपलब्ध है, उसी मे काव्य-मर्मज्ञों के लिये ऐसी विलक्षण सामग्रियों का समावेश है, जो अन्यत्र किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं हो सकतीं। इसके भौगोलिक वर्णन से स्पष्ट है कि राजशेखर इस

१ देखो उद्भट के काव्यालङ्कारसारसंग्रह (बांबे सीरीज) की अंग्रेजी भूमिका, पृ० १४।

विषय का भी अच्छा ज्ञाता था। यह ग्रन्थ अधिकांश में कौटिल्य के अर्थशास्त्र एवं वात्स्यायन के कामसूत्र की शैली पर है। यह क्लिष्ट होने पर भी श्रुति-मधुर और हृदय-ग्राही है। राजशेखर इस ग्रन्थ के सम्पूर्ण लिखने में कृतकार्य हो सका या नहीं, यह भी अनिश्चित है। सम्पूर्ण ग्रन्थ, जैसा कि इसके प्रथम अध्याय मे संकेत है, न भी लिखा गया हो, तो भी यह तो नहीं कहा जा सकता कि केवल इसका उपलब्ध एक अधिकरण ही लिखा गया है। क्योंकि अलङ्कार-शेखर में केशव मिश्र ने—'तदाह राजशेखरः—समानमधिकं न्यूनं' इत्यादि दो श्लोक उपमा प्रकरण में (अलङ्कार शे० मरीचि ११ पृ० ३२) और—'राज-शेखरस्तु—उत्पाटितैर्नभोर्नातैः······' यह पद्य (अलङ्कार शे० मरीचि १६ पृ० ६७) समस्या-पूर्ति प्रकरण मे उद्धृत किये हैं पर ये काव्यमीमांसा के उपलब्ध प्रथमाधिकरण में नहीं हैं। संभवतः केशव मिश्र द्वारा प्रथम दोनों पद्य काव्य-मीमासा के उपमालङ्कार अधिकरण से और तीसरा पद्य वैनोदिक अधिकरण से लिया गया हो, क्योंकि मुद्रित प्रथम अधिकरण में इन अधिकरणों के लिखे जाने का उल्लेख राजशेखर ने किया है।

राजशेखर ने काव्यमीमासा मे अपने पूर्ववर्ती अनेक ग्रन्थकारों के सिद्धात और उनके ग्रंथों के उदाहरण उद्धृत किये हैं, जिनमें श्री भरतमुनि, श्री आनंद-वर्धनाचार्य, उद्भट, मंगल, रुद्रट, वाक्पतिराज, वामन आदि साहित्याचार्य और कालिदास, अमरु, भारवि, बाण, भवभूति, भट्ट नारायण, माघ, मयूर, आदि महाकवि उल्लेखनीय हैं।

राजशेखर अपने को कविराज बताता है, न कि महाकवि। उसने कवियों को दस श्रेणियों में विभक्त किया है, जिनमे उसने छठी श्रेणी में महाकवि का और इससे उच्च सातवीं श्रेणी में कविराज का स्थान निर्दिष्ट किया है। कविराज की स्पष्टता मे उसने कहा है—

'यस्तु तत्र तत्र भाषाविशेषेतेषु प्रबन्धेषु तस्मिंतस्मिश्चरसे
स्वतंत्रः स कविराजः। ते यदि जगत्यपि कतिपये'।
(काव्यमीमांसा पृ० १९)

वस्तुतः काव्यमीमासा के लेखक का अपने को इस वाक्य के अनुसार कविराज की श्रेणी का अधिकारी बताना अत्युक्ति या गर्वोक्ति नहीं कही जा सकती। यद्यपि राजशेखर ने स्वयं अपने को कविराज बताकर गर्वोक्ति अवश्य की है, पर संस्कृत के सुप्रसिद्ध कवियों के लिये यह नयी बात नहीं, जबकि कविशेखर कालिदास जैसे कतिपय विनीत कवियों की अपेक्षा अपने विषय में गर्वोक्ति करनेवाले प्रसिद्ध कवियों की संख्या कही अधिक है।

'कर्पूरमञ्जरी' सट्टिका द्वारा विदित होता है कि राजशेखर ने बाल रामायण और बाल भारत की संज्ञा में बाल शब्द का प्रयोग संभवतः इसलिये किया है कि राजशेखर की ये दोनों कृतियाँ बाल्यावस्था की हैं। और कर्पूरमञ्जरी तथा काव्य-मीमासा मे उसने अपने को कविराज की उपाधि से उल्लेख किया है[1]।

राजशेखर ने काव्यमीमांसा के अतिरिक्त बालभारत (या प्रचण्ड पाण्डव), बाल रामायण-नाटक और कर्पूरमञ्जरी सट्टक लिखा है, जो मुद्रित हो गये हैं। इनके सिवा विद्धशालभञ्जिका-नाटक भी लिखा है। हेमचंद्र ने (काव्यानु० पृ० ३३५) इसके हरिविलास ग्रंथ का नामोल्लेख भी किया है। और काव्यमीमांसा में (पृ० ९८) इसने स्वयं अपने एक भुवनकोष-ग्रंथ का भी नामोल्लेख किया है।

क्षेमेन्द्र के कविकण्ठाभरण एवं औचित्यविचारचर्चा में, महाराज भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण में, हेमचंद्र के काव्यानुशासन विवेक में; वाग्भट्ट के काव्यानुशासन में और केशव मिश्र के अलङ्कारशेखर आदि में जो काव्ययोनयः, अर्थ-व्याप्ति, परकीय-काव्यहरण, कवि-समय, और देश काल आदि का जो कुछ न्यूनाधिक वर्णन दृष्टिगत होता है, वह सब काव्यमीमासा पर ही निर्भर है, अतएव उक्त सभी ग्रंथकर्ता राजशेखर के अत्यन्त ऋणी हैं। हेमचन्द्र ने तो काव्यमीमासा का लगभग चतुर्थांश अपने ग्रंथ में समावेश कर लिया है, यहाँ तक कि ७, ६, १३,

---

१ 'बालकविः कविराजो निर्भयराजस्य तथोपाध्यायः। इत्येत्तस्य परम्परया आत्मा माहात्म्यमारूढः' ॥ कर्पूरमञ्जरी १।९।

१७ और १८ अध्यायों में इसके बड़े बड़े अवतरणों का सब का सब अंग प्रायः अविकल—कुछ शब्दों का परिवर्तन करके ले लिया है।

राजशेखर का परिचय

राजशेखर महामंत्री दुर्दुक अथवा दुहिक और शिलावती का पुत्र था और यायावरीय वंश के अकालजलद कवि का प्रपौत्र। यायावरीय वंश में ही सुरानंद, तरल और कविराज जैसे प्रसिद्ध विद्वान् और कवि उत्पन्न हुए थे[1]। इसने काव्य मीमांसा में अनेक स्थलों पर यायावरीय मत का उल्लेख किया है। और स्वयं अपना भी इसने निजवंश-सूचक 'यायावरीय' की व्यापक उपाधि द्वारा उल्लेख किया है। यद्यपि स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० दुर्गाप्रसाद जी ने कर्पूरमञ्जरी (काव्यमाला संस्करण) की भूमिका मे और श्री सी० डी० दलाल ने काव्यमीमासा की भूमिका में लिखा है कि यह ब्राह्मण था या क्षत्रिय इसका पता नहीं चल सकता। जबकि राजा महेन्द्रपाल का उपाध्याय होने के कारण इसे ब्राह्मण माना जा सकता है, तब इसकी पत्नी अवंतिसुन्दरी चौहाण वंश की क्षत्रिया थी,[2] इसलिये इसका क्षत्रिय होना भी कल्पना किया जा सकता है। किंतु 'यायावरीय' की उपाधि द्वारा ज्ञात

---

१ राजशेखर ने स्वयं लिखा है—

'स मूर्तो यत्रासीद्गुणगणइवाकालजलदः,
सुरानन्दः सोऽपि श्रवणपुटपेयेन वचसा।
न चान्ये गण्यन्ते तरलकविराजप्रभृतयो'
महाभागस्तस्मिन्नयमजनि यायावरकुले'॥
—बालरामायण १।१३

२ राजशेखर ने कर्पूरमञ्जरी में लिखा है—

'चौहाणकुलमौलिमालिआ राजशेहरकइन्दगेहिणी।
भत्तुणो किदिमवन्तिसुन्दरी सा पउञ्जइदुमेदमिच्छदि॥
(१।११)

होता है कि यह ब्राह्मण ही था। राजशेखर की विद्धशालभञ्जिका की टीका में नारायण दीक्षित ने १।५ की व्याख्या में 'यायावर' का अर्थ देवल स्मृति के अनुसार एक प्रकार का गृहस्थ लिखा है—

'द्विविधोहि गृहस्थो यायावरः शालीनश्च'

और आश्रमोपनिषद् में लिखा है—

'गृहस्थापि चतुर्विधा भवन्ति। वार्ताकवृत्तयः
शालीनवृत्तयो यायावरा घोरसंन्यासिकाश्च'।

और 'यायावर' की व्याख्या में लिखा है—

'यायावरा यजन्तो याजयन्तोऽधीयाना
अध्यापयन्तो ददतः प्रतिगृह्णन्तः'।

इस वाक्य में जो यायावरों के छः कर्म बतलाये गये हैं; वे मनु आदि स्मृतियों में ब्राह्मणों के लिये ही नियत हैं[1]। श्रीमद्भागवत में भी यायावर वृत्ति ब्राह्मणों की ही बतलाई गई है[2]। अतएव यायावरीय राजशेखर का ब्राह्मण होना ही सिद्ध होता है। अब रहा यह कि उसकी पत्नी अवन्तिसुन्दरी क्षत्रिया थीं। क्षत्रिया स्त्री के साथ ब्राह्मणों का वैवाहिक सम्बन्ध पुराणेतिहासों में मिलता ही है। संभव है किसी विशेष कारण के उपस्थित होने पर राजशेखर ने ऐसा किया हो, किन्तु इस आधार पर राजशेखर ब्राह्मणातिरेक जाति का सिद्ध नही हो सकता। इसकी पत्नी अवन्तिसुन्दरी भी बड़ी विदुषी और कवयित्री थी। इसीके मनोरञ्जनार्थ ही राज-

---

१ अध्यापनमध्ययनं यजनं याजन तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयेत्।

—मनु० १।८८

२ वार्ता विचित्रा शालीनयायावरशिलोच्छनम्।
विप्रवृत्तिश्चतुर्धेयं श्रेयसी चोत्तरोत्तरा।

—श्रीमद्भा० ७।११।१६

शेखर ने कर्पूरमञ्जरी लिखी है। काव्यमीमांसा में इसके मत का भी अनेक स्थलों पर उल्लेख है[1]।

राजशेखर महाराष्ट्रीय प्रतीत होता है। बाल रामायण में इसने अपने प्रपितामह अकालजलद के लिये 'महाराष्ट्रचूडामणि' का प्रयोग किया है। यद्यपि इनके—'ताडङ्कवल्गनतरङ्गितगण्डलेख......' (काव्यमी० पृ० ८), और 'यो मार्गः परिधान......' (बा० रा० अंक १०।६०), इत्यादि वर्णन कान्यकुब्ज की रमणियों के विषय में तथा 'शश्वत् सुधामवसुधा' इत्यादि (बालरा० अंक १०।८८, ८९) कान्यकुब्ज देश के वर्णन में, तथैव—'यत्रार्येन' इत्यादि (बालरा० अंक १०।८६) पाञ्चाल देश के वर्णन में हैं। इनके द्वारा कान्यकुब्ज और पाञ्चाल पर राजशेखर का पक्षपात विदित होता है और कुछ लाट देश पर भी (काव्यमी० पृ० ३४)। किंतु संभव है कि महाराष्ट्रीय होने पर भी अपने अपूर्व पाण्डित्य के प्रभाव से इन देशों के राजाओं से भी सम्मानित होने के कारण राजशेखर ने इन देशों का वर्णन भी चित्ताकर्षक किया हो।

राजशेखर नाम के संस्कृत के कई लेखक हुए हैं। एक राजशेखर ने चतुर्विंशतिप्रबन्ध प्रणीत किया है। इस ग्रन्थ के अन्त में इसका रचनाकाल संवत् १४०५ वि० (१३४८ ई०) लिखा है। एक राजशेखर केरल का राजा हुआ है, जिसने स्वप्रणीत तीन नाटक भगवान् शङ्कराचार्य के अर्पण किये थे[2] और जिसका उल्लेख श्री माधवाचार्य ने शङ्करदिग्विजय में किया है[3]। एक राजशेखर राजा का उल्लेख चंगणाशेरि के समीप तलमनूइल्लं गांव के एक ताम्रपत्र में मिला है, उसका समय उसके सम्पादक श्री गोपीनाथ राव ने सन् ७५०–८५० ई० बतलाया है। इत्यादि आधारों पर कुछ विद्वान् लेखकों ने कविराज राजशेखर की उपर्युक्त राजशेखर नाम

---

१ देखो काव्यमीमांसा पृ० २०, ४६-५७।

२ भगवान् शङ्कराचार्य के विषय में कुछ विद्वान् माधवाचार्य का उल्लेख भ्रमात्मक मानते हैं।

३ देखिये ट्रावनकोर संस्करण जिल्द २ पृ० ९, १०।

के व्यक्तियो से एकता की है। किंतु पुरातत्ववेत्ता महामहोपाध्याय रायबहादुर श्री गौरीशङ्कर हीराचंद ओझा जी ने उन लेखको की कल्पनाओ को भ्रमात्मक सिद्ध कर दिया है[1]। वस्तुतः कविराज राजशेखर उन सभी से भिन्न है।

राजशेखर का समय

इसके नाटकों की प्रस्तावना द्वारा ज्ञात होता है कि यह कन्नौज के शासक महेन्द्रपाल का उपाध्याय था[2] और उसके पुत्र महीपाल का भी कृपापात्र था। महेन्द्रपाल का शिलालेख ६०७ ई० का है[3]। और महीपाल का समय ६१७ ई० का है[4]। राजशेखर ने वाक्पतिराज का नामोल्लेख किया है—'न इति वाक्पतिराजः।' (काव्यमीमासा पृ० ६२) और 'तस्य च त्रिधाऽभिधाव्यापारः इति औद्भटाः'। (काव्यमीमासा पृ० २२) इत्यादि से उद्भट का एवं (काव्यमीमासा पृ० १६) श्री आनन्दवर्धनाचार्य का भी नामोल्लेख किया है। अतः राजशेखर श्री आनन्दवर्धनाचार्य का (जिनका समय काश्मीराधिपति अवन्तिवर्मा के समकालीन लगभग ८५० ई० है) परवर्ती है।

सोमदेव ने यशस्तिलक (पृ० ११३) में राजशेखर का नामोल्लेख किया है—'तथा उर्वभारः''' ''राजशेखरादिमहाकविकाव्येषु'। सोमदेव के यशस्तिलक की रचना ६५६ ई० की है[5]। अतः राजशेखर का काव्य-समय लगभग सन् ८८४ से ६२५ ई० तक प्रतीत होता है।

—:o:—

१ देखिये नागरीप्रचारिणी पत्रिका सं० १९८२ वि० पृ० ३६५-३७०।

२ 'रघुकुलचूडामणेर्महेन्द्रपालस्य कश्चगुरुः'। कर्पूरमञ्जरी १।५

'देवो यस्य महेन्द्रपालनृपतिः शिष्यो रघुग्रामणीः'।

बालभारत १।११

३ देखिये मि० कीलहार्न द्वारा प्रकाशित स्यादोनी का शिलालेख।

४ देखो एपीग्रफिया इंडिका, जिल्द १ पृष्ठ १७१।

५ देखो काव्यशाला सस्करण कर्पूरमञ्जरी का सम्पादकीय लेख पृ०-२।

धनञ्जय तथा धनिक और दशरूपक

धनञ्जय ने दशरूपक ग्रंथ प्रधानतया नाट्य विषय पर लिखा है, जो श्री भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के मतानुसार है। दशरूपक चार प्रकाशों में विभक्त है। प्रथम और तृतीय प्रकाश में दस रूपकों के भेदों के लक्षण और नृत्यादि नाटक के अनेक विषयों का निरूपण है। द्वितीय प्रकाश में नायक-नायिका भेद एवं चतुर्थ प्रकाश में नवरसों का विवेचन है। यह ग्रन्थ निर्णयसागर प्रेस में धनिक की टीका के साथ मुद्रित हुआ है। इस ग्रन्थ के लोकप्रिय और अधिक प्रचलित होने का कारण इसमें की गई विषय-विवेचन की सरलता एवं सुन्दरता है। धनञ्जय के उत्तरकालीन विश्वनाथ आदि ने जो नाट्य विषय पर विवेचन किया है वह दशरूपक पर ही निर्भर है अतएव वे अधिकतया धनञ्जय के ऋणी हैं।

धनञ्जय ने अपना परिचय देते हुए कहा है—

> विष्णोःसुतेनाऽपि धनञ्जयेन
> विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः।
> आविष्कृतं मञ्जुमहीशगोष्ठी
> वैदग्धभाजा दशरूपमेतत् ॥
>
> —दशरूपक चतुर्थ प्रकाश ८६

इससे विदित होता है कि धनञ्जय के पिता का नाम विष्णु था और धनञ्जय मुञ्ज राजा का सभा-पण्डित था। मुञ्ज की प्रसिद्धि वाक्पतिराज के नाम से भी है। धनञ्जय ने—"प्रणयकुपितां दृष्ट्वा देवीं"—इत्यादि पद्य को दशरूपक (प्रकाश ४) में प्रणय-मान और ईर्ष्या-मान दोनों के उदाहरणों में वाक्पतिराज और मुञ्ज दोनों के नाम से उद्धृत किया है। मुञ्ज के अमोघवर्ष, पृथ्वीवल्लभ और श्रीवल्लभ भी उपनाम थे। मुञ्ज मालव के परमारवंशीय राजाओं में था। इसका शिलालेख १०३१ विक्रमीयाब्द के अनुसार ९७४ ई० का है[1]। मुञ्ज की राजधानी

---

1 देखो प्राचीन लेखमाला प्रथम भाग पृ० १

उज्जैनी थी, धारानगरी को तो मुञ्ज के बाद महाराज भोज के समय में राजधानी की प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी। इसके द्वारा धनञ्जय का समय लगभग १००० ई० हो सकता है।

धनिक ने दशरूपक पर अवलोक टीका लिखी है। 'अवलोक' की समाप्ति के—

'इति श्री विष्णुसूनो धनिकस्य कृतौ
दशरूपावलोके रस विचारो नाम चतुर्थः प्रकाशः'

इस वाक्य में 'विष्णुसूनो' के प्रयोग द्वारा प्रतीत होता है कि धनिक सम्भवतः धनञ्जय का भाई था। धनिक ने 'नवसाहसाङ्कचरित' के प्रणेता पद्मगुप्त के (जो परिमल के नाम से प्रसिद्ध था) उद्धरण लिये हैं[1]। साहित्यदर्पण मे विश्वनाथ ने और प्रतापरुद्रयशोभूषण के प्रणेता विद्याधर ने धनिक और धनञ्जय को एक ही समझ कर दशरूपक की कारिकाएँ धनिक के नाम से उद्धृत की हैं किन्तु यह उनका भ्रम है।

—:o:—

अभिनवगुप्तपादाचार्य, भट्ट तौत और भट्टेन्दुराज

ध्वन्यालोक के 'लोचन' टीकाकार श्री अभिनवगुप्ताचार्य केवल कवि ही नहीं प्रगाढ़ दार्शनिक विद्वान भी थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थ निर्माण किये हैं। नाट्यशास्त्र पर इनकी अभिनवभारती व्याख्या भी उल्लेखनीय है जो गायकवाड़ सीरीज में मुद्रित हुई है। इनके प्रणीत कुछ साम्प्रदायिक ग्रन्थ काश्मीर संस्कृत सीरीज में भी मुद्रित हो गये हैं। श्रीमद्भगवद्गीता पर इनकी की हुई व्याख्या निर्णयसागर में मुद्रित हुई है। इनके प्रगाढ़ पाण्डित्य के परिचय के लिये यही पर्याप्त है कि ये उन मम्मटाचार्य के आचार्य थे, जिनको विद्वत्समाज में भगवती सरस्वती का अवतार कहा जाता है। इनकी ध्वन्यालोक पर लोचन टीका का स्थान भी संस्कृत साहित्य में बड़ा

1 देखो दशरूपक में मोहायित अनुभाव का उदाहरण।

महत्वपूर्ण है। यह टीका हस्तलिखित प्रतियों में ध्वन्यालोकलोचन के सिवा सहृदयालोकलोचन और काव्यालोकलोचन की संज्ञा से भी व्यक्त की गई है। अभिनवगुप्तपादाचार्य केवल ध्वन्यालोक के टीकाकार ही नहीं किंतु ध्वनि सम्प्रदाय के स्थापकों एवं प्रवर्तकों में इनका स्थान वृत्तिकार श्री आनंदवर्धनाचार्य के समकक्ष है। इन्होंने लोचन में कारिकाकार और वृत्तिकार को भिन्न-भिन्न बताते हुए भी किसी-किसी स्थल पर इन दोनों के विषय में भ्रमोत्पादक उल्लेख भी कर दिया है। इन्होंने भट्ट तौत (अभिनवभारती पृ० ३१०) और भट्टेन्दुराज अथवा इन्दुराज (ध्वन्यालोक पृ० १६० और श्री गीता की व्याख्या प्रथम पद्य) को अपना उपाध्याय बतलाया है। भट्ट तौत ने काव्यकौतुक ग्रन्थ लिखा है जिसका उल्लेख लोचन में (पृ० २६) है और उसपर अभिनव-गुप्ताचार्य ने विवरण लिखा है (लोचन पृ० १७८)। भट्ट तौत का क्षेमेन्द्र ने भी उल्लेख किया है—

यदाह-भट्ट तौतः 'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता'.

(औचित्य वि० पृ० १५५)। इसके कुछ श्लोक भी लोचन में (पृ० २५,४३, ११६, १६०, २०७) उद्धृत हैं।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि भट्टेन्दुराज जिसको अभिनवगुप्तपादाचार्य अपना उपाध्याय बतलाते हैं, और प्रतिहारेन्दुराज, जिसने उद्भट के काव्यालङ्कार-सारसंग्रह पर लघुवृत्ति लिखी है, एक ही हैं या भिन्न-भिन्न? यद्यपि रुय्यक के टीकाकार समुद्रबंध ने इनको एक ही समझा है, जैसा कि उसके—

'अप्रस्तुतप्रशंसोदाहरणे भट्टोद्भट ग्रन्थे ...... व्याख्यातम्' भट्टेन्दुराजेन 'प्रोणित प्रणयि' इत्यादि—

(अलङ्कार सूत्र त्रिवेन्द्रम संस्करण पृ० ११९)

और इस पद्य को प्रतिहारेन्दुराज ने लघुवृत्ति में (काव्यालङ्कार सा० स० भंडारकर पूना संस्क० पृ० ३६) अप्रस्तुतप्रशंसा के उदाहरण में दिया है। अर्थात् समुद्रबंध ने प्रतिहारेन्दुराज को ही भट्टेन्दुराज समझ लिया है। किन्तु यह समुद्रबंध का भ्रम मात्र है। और इस भ्रम का कारण केवल दोनों के नाम की

समानता ही है क्योंकि इन दोनों के एकीकरण के विरुद्ध एक यही प्रबल प्रमाण पर्याप्त है कि प्रतिहारेन्दुराज ने लघुवृत्ति में ध्वनि सिद्धान्त का प्राधान्य स्वीकार नहीं किया है किन्तु इस विषय पर विस्तृत विवेचन करके यह प्रतिपादन करने की भरसक चेष्टा की है कि 'ध्वनि' अलङ्कारों में समावेशित है[1]। किन्तु श्री अभिनवगुप्ताचार्य के उपाध्याय भट्टेन्दुराज ध्वनि-सम्प्रदाय के अनुयायी थे, जैसा कि अभिनवगुप्तपादाचार्य के—

'एवं वस्त्वलङ्काररसभेदेन त्रिधाध्वनि-
रत्रश्लोकेऽस्मद्गुरुभिर्व्याख्यातः'

इत्यादि वाक्यों द्वारा स्पष्ट है। अतएव भट्टेन्दुराज और प्रतिहारेन्दुराज ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

अभिनवगुप्तपादाचार्य का परिचय और समय

अभिनवगुप्ताचार्य ने पराविंशिका मे अपने पिता का नाम चुखल, पितामह का नाम वराह गुप्त एवं छोटे भाई का नाम मनोरथ बताया है, और अपना समय भी स्वयं बतलाया है। प्रत्यभिज्ञावृहतीवृत्ति की रचना का समय उन्होंने उसी के अन्त में लिखा है—

'इति नवतितमेऽस्मिन् वत्सरेऽन्त्ये युगांशे
तिथिशशिजलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने ॥'[2]

अर्थात् गत कलि ४११५ (सन् १०१५ ई०)। भैरव स्तोत्र की रचना का जो समय इन्होने लिखा है उसके अनुसार सन् ९९१ ई० है[3]। महाकवि क्षेमेन्द्र ने अभिनवगुप्ताचार्य को भारत मञ्जरी के—

'आचार्यशेखरमणेर्विद्याविवृतिकारिणः।
श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात्साहित्यं बोधवारिधेः ॥'

—भारत मञ्जरी पृ० ८५०

---

१ देखो काव्यालङ्कारसारसंग्रह भण्डारकर पूना संस्करण पृ० ८५-९२।

२ देखो ब्हूलर की काश्मीर रिपोर्ट पृ० १५९।

३ देखो ब्हूलर की काश्मीर रिपोर्ट पृ० १२६।

इस पद्य में अत्यन्त गौरव के साथ अपना साहित्यिक गुरु बताया है। क्षेमेंद्र अनन्तराज का समकालीन है जिसका समय सन् १०२०-१०८० ई० है[1]। लगभग १०५० ई० के आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में रस-विषयक भरत-सूत्र के व्याख्याकारों में अभिनवगुप्ताचार्य के मत को 'आचार्यपद' के प्रयोग द्वारा उद्धृत किया है। इसके द्वारा भी अभिनव और मम्मट का गुरु-शिष्य सम्बन्ध विदित होता है। अतएव अभिनवगुप्तपादाचार्य का समय सन् ९७० से १०५० ई० तक के लगभग हो सकता है।

इनका नाम केवल अभिनव था। अभिनवगुप्तपाद नाम की प्रसिद्धि के विषय में सुधासागर टीका में कहा गया है कि यह बाल्यकाल में अपने सहपाठी बालकों को डराया करते थे, इसलिये गुरु जी ने इनका नाम 'बालवलभीभुजङ्ग' रख दिया था, इसी सांकेतिक नाम के आधार पर इनका अभिनवगुप्तपाद नाम प्रसिद्ध हुआ। किन्तु संभवतः यह कल्पना अनाधार है। अभिनवगुप्ताचार्य ने स्वयं अपने पितृव्य का नाम वामन गुप्त बतलाया है[2] अतः इनकी 'गुप्त' की उपाधि वंशपरंपरागत प्रतीत होती है।

—:o:—

राजानक कुन्तल अथवा कुन्तक और उसका वक्रोक्तिजीवित

कुन्तल का स्थान भी साहित्य क्षेत्र में उल्लेखनीय है। इसने वक्रोक्तिजीवित ग्रन्थ लिखकर अपना एक नवीन सिद्धान्त स्थापित करने की चेष्टा की थी। अतएव

---

१ देखो इसी ग्रन्थ मे क्षेमेन्द्र विषयक निबन्ध।

२ देखो नाट्यशास्त्र की अभिनवभारतीय पृ० २९७—'तत्र हास्याभासो यथास्मत्पितृव्यस्य वामनगुप्तस्य।'

कुन्तल की अपेक्षा वक्रोक्तिजीवितकार के नाम से इसकी अधिक प्रसिद्धि है।

वक्रोक्तिजीवित मे चार उन्मेष हैं। किन्तु बाबू सुशीलकुमार दे द्वारा सम्पादित और कलकत्ता ओरिएन्टल सीरीज द्वारा प्रकाशित सस्करण में तीसरा उन्मेष भी असमाप्त ही मुद्रित हो सका है। इस ग्रन्थ में कुन्तल ने वक्रोक्ति को न तो वामन और रुद्रट इन दोनों में किसी के मतानुसार केवल एक अलङ्कार-विशेष ही स्वीकार किया है और न भामह के (काव्यलं० ३।८५) मतानुसार सम्पूर्ण अलङ्कारों मे ही व्यापक बतलाया है। कुन्तल ने वक्रोक्ति को शब्द और अर्थ को सुशोभित करनेवाली कवि-कौशल द्वारा वर्णन करने की साधारण उक्ति की प्रसिद्ध शैली से विशिष्ट एक विचित्र शैली बतलाया है—

'उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलङ्कृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते ॥'

—वक्रोक्ति जी०. १।१०

इसमें 'वक्रोक्ति' शब्द के आगे 'एव' के प्रयोग द्वारा इसने काव्य-रचना मे कवि का कौशल एक मात्र वक्रोक्ति में ही मर्यादित कर दिया है। यहाँतक कि जिस 'ध्वनि' सिद्धात का ध्वनिकारों ने काव्य मे सर्वत्र सर्वोपरि साम्राज्य स्थापित किया है, उस 'ध्वनि' को भी इसने वक्रोक्तिवैचित्र्य मे ही समावेशित करने की चेष्टा की है। और जिस शैली द्वारा ध्वन्यालोक मे पद, वाक्य आदि में व्यङ्ग्यार्थ द्वारा ध्वनि का चमत्कार प्रदर्शित किया है, और काव्य-विषयक प्रधान चमत्कार व्यङ्ग्यार्थ पर अवलम्बित बताया है उसी प्रकार इसने भी पद, वाक्य आदि वक्रता के उदाहरण दिखलाकर वाच्यार्थ के उक्ति-वैचित्र्य में ही संपूर्ण काव्य-चमत्कार प्रतिपादन करने की चेष्टा की है। सत्य तो यह है कि कुन्तक का प्रधान उद्देश्य इस ग्रंथ के प्रणयन का एक मात्र ध्वनि सिद्धात को निर्मूल करने का ही था क्योंकि उसने ध्वनि काव्य को स्वीकार करके भी उसे स्वतंत्र सिद्धात न मानकर अपने वक्रोक्ति-मार्ग के अंतर्गत स्थापन करने की चेष्टा की है। कुन्तल का कहना है कि वक्रोक्ति-उक्ति-वैचित्र्य ही काव्य का जीवन सर्वस्व है, न कि व्यङ्ग्यार्थ। रुय्यक ने स्पष्ट कहा है—

"उपचारवक्रतादिभिः समस्तो ध्वनिप्रपञ्चः स्वीकृतः। केवलमुक्तिवैचित्र्य जीवितंकाव्यं न-व्यंग्यार्थजीवितमिति तदीयं दर्शनं व्यवस्थितम्।"

(अलङ्कारसर्वस्व काव्यमाला सस्करण पृ० ८)

किन्तु कुन्तल अपने आघातों से ध्वनि-सिद्धान्त को किञ्चित् भी विचलित न कर सका, प्रत्युत इस चेष्टा द्वारा उसका यह सिद्धात नितांत शिथिल होकर नाम मात्र अवशेष रह गया।

यद्यपि कुंतल के इस सिद्धांत का मूलाधार भामह द्वारा स्वीकृत वक्रोक्ति का व्यापक सिद्धांत है तथापि कुंतल ने अपने मूलाधार के बलाबल पर विचार न करके उसपर निर्मर्याद असह्य भार का भवन निर्माण करके वस्तुतः असंभव चेष्टा की जिसका परिणाम विपरीत हुआ जो कि अवश्यंभावी था। दूसरे शब्दो में इसकी स्पष्टता यह है कि आचार्य भामह ने अपनी दूरदर्शिता से वक्रोक्ति अर्थात् उक्ति-वैचित्र्य की व्यापक शक्ति अलङ्कारों तक ही मर्यादित रखी थी, इससे वह स्थिर भी रह सकी। किंतु कुंतल ने वक्रोक्ति सिद्धात में गुण, रीति, रस, ध्वनि सभी को समावेश करने का दुःसाहस किया है, ऐसी परिस्थिति में वह चिरस्थायी किस प्रकार रह सकता था अर्थात् न तो वह अपने उत्तर-कालीन आचार्यों को ही प्रभावित करने में समर्थ हुआ और न भामह के सिद्धांत को आच्छादित ही कर सका। प्रत्युत भामह के चमत्कारिक सिद्धांत का प्रकाश अपने पूर्व रूप में ही उसके अत्यंत दूरवर्ती आचार्य मम्मट जैसे साहित्याचार्यो तक को अपनी ओर आकर्षित करता रहा।

ध्वनि-सिद्धांत के विरोधी होने के कारण कुंतल का वक्रोक्तिसिद्धांत यद्यपि स्थिर न रह सका, फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि कुंतल एक उल्लेखनीय साहित्य-मर्मज्ञ और मार्मिक आलोचक था। वक्रोक्तिजीवित में उसने अपने पूर्ववर्ती कालिदासादि महाकवियों के पद्य उदाहरणों मे उद्धृत करके उनपर जो विवेचन क्रिया है वह केवल चित्ताकर्षक ही नहीं वस्तुतः भाव-गर्भित और विद्वत्ता-पूर्ण है। उसके द्वारा कुंतल की विवेचन-शक्ति का पर्याप्त परिचय मिलता है।

कुन्तल का समय

कुन्तल ने अपने पूर्ववर्ती कालिदास, भारवि, बाण और भवभूति आदि के बहुत से पद्य उदाहरणों में उद्धृत किये हैं। और इन सब से अन्तिम और अपने निकटवर्ती राजशेखर का—जिसका समय लगभग सन् ८८४–६२५ ई० है—नामोल्लेख किया है—

'भवभूतिराजशेखरविरचितेषु।'—(वक्रोक्तिजी० पृ० ७१)

और राजशेखर के बालरामायण के बहुत से पद्य भी उद्धृत किये हैं[1]। अतः कुन्तल का समय राजशेखर के बाद का है। और कुन्तल के उत्तरकालीन निकटवर्ती महिम भट्ट ने (व्यक्तिविवेक पृ० २८)—

'शब्दार्थौसहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।' इत्यादि—

(वक्रोक्तिजी० ११७)

कारिका को कुन्तल के नामोल्लेख के साथ उद्धृत किया है। महिम भट्ट का समय संभवतः ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी का मध्यकाल है जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायगा। इसके द्वारा कुन्तल, स्पष्ट ही महिम भट्ट का पूर्ववर्ती सिद्ध होता है। किंतु कुन्तल के काल-निर्णय के विषय में यहाँ एक यह जटिलता उपस्थित होती है कि महिम भट्ट और कुन्तल दोनों ही ध्वन्य सिद्धान्त के प्रबल प्रतिपक्षी थे और महिम भट्ट ने अभिनवगुप्त की ध्वन्यालोक व्याख्या के कुछ अंश की व्यक्तिविवेक में आलोचना भी की है और महिम के ध्वनि-सिद्धान्त-विरोधी मत का मम्मट ने काव्यप्रकाश में बड़ा तीव्र खण्डन किया है, किंतु महिम के पूर्ववर्ती कुन्तल के ध्वनि-सिद्धान्त के विरोधी वक्रोक्ति-सिद्धान्त का मम्मट द्वारा खण्डन नहीं किया जाना वस्तुतः आश्चर्य का विषय है जब कि राजानक उपाधि द्वारा कुन्तल और मम्मट दोनों ही एकदेशीय काश्मीरी होने के कारण उनका परस्पर में अनभिज्ञ रहना भी असंभव सा ही है। ऐसी परिस्थिति में यही अनुमान हो सकता है कि

---

१ देखिए, वक्रोक्तिजीवित प्रथम उन्मेष पद्य सं २२, ३३, ५६, ६३, १०२ और द्वितीय उन्मेष सं० १०, ११, २९, ३४, ७१, ७६, ९९, १००, १०४।

संभवतः कुन्तल के वक्रोक्तिजीवित को उस समय तक प्रसिद्धि प्राप्त न होने के कारण यह ग्रन्थ मम्मट के दृष्टि-पथ में न आ सका। इसलिये कुन्तल का समय अभिनवगुप्ताचार्य और महिम भट्ट के अधिक पूर्व नहीं माना जा सकता क्योंकि अभिनवगुप्ताचार्य ने वक्रोक्ति के विषय में पूर्ववर्ती कई आचार्यों के मत उद्धृत किये हैं। यदि कुन्तल का ग्रन्थ इनके सन्मुख होता तो उसके वक्रोक्ति सिद्धान्त की वे क्रूर आलोचना अवश्य करते क्योंकि वे ध्वनि-सिद्धान्त के कट्टर प्रतिनिधि थे और कुन्तल प्रतिपक्षी था। अतएव कुन्तल के वक्रोक्तिजीवित का समय अभिनवगुप्ताचार्य के अन्तिम समय के लगभग और मम्मट के समकालीन संभवतः ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी का प्रथम चरण हो सकता है।

महिम भट्ट और उसका व्यक्तिविवेक

महिम भट्ट ने भी कुन्तक के बाद ध्वनि सिद्धान्त को पर्याप्त युक्तियों द्वारा उच्छिन्न करने का दुःसाहस किया है। इसने 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ को तीन विमर्शों में लिखा है। प्रथम विमर्श में ध्वनि लक्षण लिखकर उसका अनुमान में अन्तर्भाव, द्वितीय में अनौचित्य विचार और तृतीय में ध्वन्यालोक में ध्वनि के दिखाये गये ४० उदाहरणों को अनुमान में गतार्थ करने की चेष्टा की गई है। ध्वनिकारों ने जिस प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) अर्थ को व्यंजना वृत्ति का व्यापार और काव्य में सर्वप्रधान चमत्कारक पदार्थ बताया है, उस व्यङ्ग्यार्थ को महिम अनुमान का विषय बताता है। महिम का कहना है कि शब्द की व्यंजना वृत्ति है ही नहीं—केवल अभिधा मात्र वृत्ति है। ध्वनिकारों ने शब्द के अभिधेय, लक्ष्य और व्यङ्ग्य तीन अर्थ बताये हैं किन्तु महिम अभिधेय और अनुमेय दो ही अर्थ मानता है—'अर्थोऽपि द्विविधोवाच्यो अनुमेयश्च।' (व्यक्तिविवेक पृ० ७) इसकी स्पष्टता में वह कहता है—

'तत्र शब्दव्यापारविषयो वाच्यः। स एव मुख्यः। ततएव तदनुमिताद्वा लिङ्गभूतायर्थान्तरमनुमीयतेसोऽनुमेयः।

स च त्रिविधः वस्तुमात्रमलङ्काररसादयश्चेति। तत्राद्यौ वाच्यावपि सम्भवतः। अन्यस्त्वनुमेय एवेति वक्ष्यते।'

—व्यक्तिवि० पृ०७

अर्थात् महिम वाच्य को मुख्यार्थ और प्रतीयमान (अर्थान्तर) को अनुमेय (अनुमान द्वारा ज्ञात होनेवाला) मानता है। फिर इन दोनों के—वस्तुमात्र, अलङ्कार और रस आदि यह तीन भेद कहकर वस्तु और अलङ्कार को वाच्यार्थ और अनुमेयार्थ दोनों और रस आदि को केवल अनुमेयार्थ बताता है। उसके बाद महिम ने—

'वाच्यप्रतीयमानयोर्वक्ष्यमाणक्रमेण लिङ्गलिङ्गिभावस्य समर्थनात् सर्वस्यैव ध्वनेरनुमानान्तर्भावः समन्वितो भवति तस्य च तदपेक्षया महाविषयत्वात्।'

—व्यक्तिविवेक पृ० १२

इन वाक्यों द्वारा ध्वनि का सम्पूर्ण विषय अनुमान के अन्तर्गत बता दिया है। और रस विषय को—

विभावादिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः सानुमानएवान्तर्भावमर्हति।'

—व्यक्ति पृ० ११२

इस वाक्य में अनुमान के अन्तर्गत बताया है।

इस प्रकार महिम भट्ट ने ध्वनिकार जैसे महान् साहित्याचार्यों के सर्वमान्य सिद्धान्त के विरुद्ध लेखनी उठाने का दुःसाहस किया है यद्यपि महिम भट्ट निस्सन्देह एक उल्लेखनीय तार्किक और प्रखर आलोचक था। उसको अपनी मौलिकता का भी बड़ा गर्व था। संभवतः इसने श्री शंकुक के अनुमानवाद का अनुसरण किया है। क्योंकि श्री शंकुक ने भरत नाट्य शास्त्र के—

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'।

इस सूत्र की जो व्याख्या की है, उसमें रस का आस्वाद अनुमान द्वारा होना ही बताया है, जैसा कि अभिनवगुप्ताचार्य और आचार्य मम्मट द्वारा उद्धृत किये

गये इसके मत से स्पष्ट ज्ञात होता है[1]। किन्तु महिम भट्ट ने अपने पूर्ववर्ती किसी का भी नामोल्लेख नहीं किया है, इसका कारण इसके गर्व के सिवा अन्य क्या हो सकता है। पर खेद है कि महिम ने अपनी इस प्रखर प्रतिभा का उपयोग किसी प्रशंसनीय आदर्श विषय के लिखने में नहीं किया, यदि वह ऐसा करता तो अवश्य ही उसका वह ग्रन्थ साहित्य में बड़ा उल्लेखनीय हो सकता था। किसी सुप्रसिद्ध आचार्य के सारगर्भित सिद्धान्त के विरुद्ध आलोचना द्वारा अपने नवीन मत को स्थापित करने की चेष्टा करना तो सरल है, किंतु वह सिद्धान्त रूप में तभी स्थिर रह सकता है, जब वह सारगर्भित हो और अन्य प्रतिभा-सम्पन्न विद्वानों के द्वारा परीक्षा की कसौटी पर उत्तीर्ण होकर सर्वमान्य हो सके। किन्तु महिम भट्ट के इस नवीन मत को इसके उत्तरकालीन किसी भी साहित्याचार्य ने स्वीकार नहीं किया। प्रत्युत प्रारम्भ में ही महिम के अत्यन्त निकटवर्ती आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में इसके मत का अकाट्य युक्तियों द्वारा सप्रमाण खण्डन करके मूलोच्छेदन ही कर दिया। सत्य तो यह है कि महिमा के ध्वनि-विरोधी सिद्धान्त का सौभाग्य आचार्य मम्मट द्वारा किये गये सार-गर्भित गम्भीर विवेचन पर ही निर्भर है।

मम्मट के बाद अलङ्कारसर्वस्व-प्रणेता रुय्यक भी—जिसने महिम के व्यक्तिविवेक पर टीका भी की है और जो अलङ्कार सम्प्रदाय का उल्लेखनीय प्रतिनिधि था, ध्वनि-सिद्धान्त को स्वीकार करता हुआ महिम पर तीव्र आक्षेप करता है—

'यत्तु व्यक्तिविवेककारो········अविचारिताभिधानम्'

—अलं० सू० त्रिवेन्द्रम् सं० पृ० १०,११।

यही नहीं, रुय्यक ने व्यक्तिविवेक की टीका में भी महिम भट्ट की अत्यन्त घृणास्पद आलोचना की है, जैसा कि—

'यथावस्थितपाठेतु ध्वनिकारस्येतिवचः शब्दान्वितमिष्यमाणं·······

१ देखो नाट्यशास्त्र की अभिनवगुप्ताचार्य की अभिनव भारती टीका पृ० २७४-२७६ और काव्यप्रकाश वामनाचार्य कृत टीका द्वितीय संस्करण पृ० १०२-१०५।

एतच्चास्य साहित्यविचारदुर्निरूपकस्य प्रमुख एवस्खलितमिति महान् प्रमादः।'

व्यक्तिविवेक टीका पृ० ४१

और—

'तदेतस्य विश्वमगणनीयं मन्यमानस्य स्वात्मनः सर्वोत्कर्षशालिता-ख्यापनमिति।'

—(व्यक्तिविवेक टी० पृ० ४४)

इन वाक्यों से स्पष्ट है। विश्वनाथ ने भी साहित्य-दर्पण (५।४ की वृत्ति) में इसका खण्डन किया है।

महिम का परिचय और समय

महिम भट्ट काश्मीरी था, यह बात इसकी राजानक उपाधि से स्पष्ट है। इसके पिता का नाम श्री धैर्य था। और यह महाकवि श्यामल का शिष्य था। श्यामल का एक पद्य क्षेमेंद्र ने औचित्यविचारचर्चा (पृ० १२५) में और एक पद्य सुवृत्ततिलका (२।३१) में उद्धृत किया है। रुय्यक तो इसके व्यक्तिविवेक का टीकाकार ही है। यद्यपि टीका में नामोल्लेख नहीं है, पर रुय्यक के अलङ्कार सर्वस्व के टीकाकार विमर्शनीकार जयरथ ने (अलङ्कारसर्वस्व काव्यमाला सं० पृ० १३) रुय्यक को ही व्यक्तिविवेक का टीकाकार स्पष्ट बताया है। और आचार्य मम्मट ने तो व्यक्तिविवेक का (काव्यप्रकाश पञ्चमोल्लास में) खण्डन किया है। अतएव महिम भट्ट क्षेमेंद्र, रुय्यक और मम्मट का पूर्ववर्ती है। और श्री आनन्द-वर्धनाचार्य से तो इसका परवर्ती होना इसके द्वारा की गई ध्वन्यालोक की आलोचना से ही सिद्ध होता है। और अभिनवगुप्ताचार्य की लोचन व्याख्या पृ० ३३ के एक विस्तृत अवतरण की महिम द्वारा व्यक्तिविवेक (पृ० १९) में आलोचना की गई प्रतीत होती है। अतएव महिम के व्यक्तिविवेक का रचना-काल लगभग ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में हो सकता है।

महाराज भोज तथा उनका सरस्वती-कण्ठाभरण और शृङ्गारप्रकाश

महाराज भोज ने यों तो प्रायः अनेक विषयों पर बहुत से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। साहित्य विषय में भी सरस्वतीकण्ठाभरण और शृङ्गारप्रकाश ये दोनों ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी हैं।

सरस्वतीकण्ठाभरण में ध्वनि और दृश्य काव्य के विषय को छोड़कर काव्य के रस, अलङ्कार आदि सभी विषयों का विस्तृत निरूपण है। इस ग्रन्थ का काव्यमाला वाला संस्करण बहुत उपयोगी है जिसमें तीन परिच्छेदों पर रत्नेश्वर कृत रत्नार्पण टीका, चतुर्थ परिच्छेद पर जगद्धर कृत विवरण और पञ्चम परिच्छेद मूल मात्र मुद्रित है। इस ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद में पद के १६, वाक्य के १६ और वाक्यार्थ के १६ दोष, फिर शब्द के २४ और अर्थ के २४ गुण निरूपित हैं। द्वितीय परिच्छेद में २४ शब्दालङ्कार, तृतीय परिच्छेद में २४ अर्थालङ्कार, चतुर्थ परिच्छेद में २४ उभयालङ्कार और पञ्चम परिच्छेद में रस, भाव और नायक-नायिकादि भेद निरूपित हैं।

सरस्वतीकण्ठाभरण में लक्षण और उदाहरणों के लगभग १५०० उद्धरण अन्य ग्रन्थों के उद्धृत हैं, जो नाट्यशास्त्र, अग्निपुराण, भट्टि, भामह, दंडी, वामन, ध्वनिकार, धनिक और राजशेखर आदि के ग्रन्थों से लिये गये है। सबसे अधिक दण्डी के काव्यादर्श से ४१ कारिकाएं और १६४ उदाहरण लिये गये हैं। यद्यपि अन्य ग्रन्थो के इतनी अधिक संख्या के अवतरणो के आधार पर श्री काणे[1] और एस० के० दे बाबू[2] इस ग्रन्थ को मौलिक स्वीकार न करके संग्रह-ग्रन्थ बताते हैं। पर यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो सरस्वतीकण्ठाभरण

१ देखो साहित्यदर्पण की श्री काणे की अंग्रेजी भूमिका पृ० १५।

२ देखो हिस्ट्री ओफ संस्कृत पोएटिक्स जिल्द १ पृ० १४८

भी उसी स्थान का अधिकारी है, जो स्थान मौलिक माने जानेवाले ग्रन्थों को प्राप्त है। विचारणीय बात यह है कि संस्कृत साहित्य के कतिपय लक्षण ग्रन्थो को छोड़कर प्रायः सभी ग्रन्थों में उदाहरण तो अन्य ग्रन्थों से लिये ही गये हैं इसके अतिरिक्त न्यूनाधिक अंश में परिभाषाएँ भी अन्य ग्रन्थों से ली गई हैं। यह बात भोज के पूर्ववर्ती रुद्रट के काव्यालङ्कार को छोड़ कर भामह, दण्डी, और उद्भट आदि के ग्रन्थों में न्यूनाधिक अंश में दृष्टिगत होती है। किंतु उनके ग्रन्थों में किसी को अधिकाश में और किसी को अल्पांश में मौलिक माना जाना मुख्य-तथा उन ग्रन्थों के विषय-विवेचन पर ही निर्भर है। एसी परिस्थिति में सरस्वती-कण्ठाभरण के विषय में हम यह किस प्रकार कह सकते हैं कि यह सग्रह-ग्रन्थ मात्र है जब कि विषय-विवेचन की मौलिकता इसमें उन ग्रन्थों की अपेक्षा कहीं अधिक है। देखिये—

(१) प्रथम तो अलङ्कारों का वर्गीकरण ही इसमें अपूर्व है। यद्यपि इसके वर्गीकरण को उत्तर-कालीन किसी आचार्य ने स्वीकार नहीं किया है परंतु रुद्रट का वर्गीकरण भी अपूर्व और वैज्ञानिक होने पर उसका अनुसरण उसके उत्तर-कालीन किसी आचार्य ने नही किया है। और यहाँ तो प्रश्न केवल मौलिकता का है।

(२) इसमें निरूपित शब्दालङ्कारों की सख्या २४ है। जब कि इसके पूर्ववर्ती ग्रन्थो में ६ से अधिक किसी में नहीं है।

(३) शब्दालङ्कारों में छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, गुम्फना, वाको, वाक्य, ये अलङ्कार प्राचीनतम अग्निपुराण के मतानुसार निरूपित हैं। किंतु अग्निपुराण में इनका केवल नामोल्लेख मात्र है। सरस्वतीकण्ठाभरण में इन अलङ्कारों की उपभेदो सहित उदाहरणों द्वारा यदि स्पष्टता न की जाती तो इनके स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होना भी बड़ा दुःसाध्य था।

(४) अर्थालङ्कारों में भी जैमिनी के ६ प्रमाणों का सबसे प्रथम इसी में अलङ्कारो के रूप मे निरूपण किया गया है।

(५) अर्थालङ्कारों में जो अलङ्कार अग्निपुराण में निरूपित हैं, उनकी

परिभाषाओं में प्रायः अग्निपुराण का अनुसरण है, जब कि दण्डी ने केवल उपमा के कुछ उपभेद ही अग्निपुराण के आधार पर लिखे हैं।

(६) दोष और गुणों का विवेचन भी पूर्व ग्रन्थों की अपेक्षा इसमें विस्तृत और स्पष्ट है।

(७) वैदर्भी आदि रीतियों को इसमें शब्दालङ्कारों के अंतर्गत रक्खा है, किन्तु दण्डी ने अनुप्रास का भी रीति (या मार्ग) में ही समावेश कर दिया है।

इत्यादि बहुत सी विशेषताएँ सरस्वतीकण्ठाभरण में दृष्टिगत होती हैं। सबसे बढ़ कर महत्त्व यह है कि इसमें विषय-विवेचन विस्तार के साथ पर्याप्त उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है, जैसा कि अन्यत्र दुष्प्राप्य है।

शृङ्गारप्रकाश

कुछ समय पहिले इस महाग्रन्थ का नाम मात्र श्रवणगोचर होता था, जिसका उल्लेख कुमारस्वामि ने किया था[1] एवं कृष्णकवि के मन्दारमरन्दचम्पू में भी इसका उल्लेख मात्र मिलता था[2] और इसकी एक मात्र हस्तलिखित प्रति मद्रास गवर्नमेंट की हस्तलिखित पुस्तकों की लाईब्रेरी में उपस्थित थी[3]। किन्तु हर्ष का विषय है कि अब इस ग्रन्थ के २२, २३, २४ की संख्या के तीन प्रकाश ला प्रिंटिंग हाउस मद्रास में मुद्रित हो गये हैं। मुद्रित ग्रन्थ की प्रस्तावना द्वारा ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ ३६ प्रकाशों में विभक्त है। प्रस्तावना में दिखाये हुए प्रत्येक प्रकाश के आद्यन्त के संक्षिप्त पाठ से विदित होता है, कि इसके प्रथम के १० प्रकाशों में शब्द, शब्द की अर्थ-व्यक्ति, कुछ व्याकरण विषय, वृत्ति, दोष, गुण और अलङ्कारों पर लिखा गया है। ११ वें प्रकाश में रसावियोग और १२ वें में महाकाव्य, नाटकादि के लक्षण आदि निरूपित हैं। और शेष २४ प्रकाशों में रस का विवेचन है। *शृङ्गारप्रकाश* में एकमात्र शृङ्गार ही रस माना गया है।

---

१ देखो प्रतापरुद्रयशोभूषण की रत्नापण टीका पृ० २२१,११४

२ देखो मन्दारमरन्दचम्पू ९ पृ० १०७।

३ मद्रास गवर्नमेंट हस्तलिखित लायब्रेरी पृ० १४७।

वीर अद्‌भुत आदि रसो को वटयक्षवत् मिथ्या रस-प्रवाद बताया गया है, जैसा कि—

'शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य-
बीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः।
आम्नासिषुर्दशरसान्सुधियो वयं तु
शृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनामः॥
वीराद्भुतादिषु च येह रसप्रसिद्धिः
सिद्धा कुतोऽपि वटयक्षवदाविभाति।
लोके गतानुगतिकत्ववशादुपेता-
मेतां निवर्तयितुमेष परिश्रमो नः' ॥

—शृङ्गारप्रकाश १।७,८

ग्रन्थारम्भ के इन पद्यों में कहा गया है। २२, २३ और २४ संख्या के मुद्रित प्रकाशो में शृङ्गाररसान्तर्गत अनुराग स्थापन, सम्भोग और विप्रलम्भ का विवेचन है। यों तो 'भोज' नाम के बहुत से राजा हुए हैं, किंतु शृङ्गारप्रकाश का प्रणेता वही मालवमण्डलाधिपति धारानगरीश महाराज भोज है, जिसने सरस्वतीकण्ठाभरण का प्रणयन किया है। यह बात इन दोनो ग्रन्थों के लक्षणों, उदाहरणो एवं ग्रन्थ निगमन पद्यों द्वारा निर्विवाद हो जाती है।

भोज का परिचय और समय

श्री भोजराज सुप्रसिद्ध परमारवंशीय धारानगरी के अधीश्वर थे। और मालव के राजा मुञ्ज या वाक्पतिराज के भ्राता एवं नवसाहसाङ्कचरित के नायक सिन्धुल के पुत्र और उत्तराधिकारी थे। भोज स्वयं कवि, उदारचेता एवं विद्यारसिक और विद्वानों के आश्रयदाता थे। कल्हण ने लिखा है—

'स च भोजनरेन्द्रश्च दानोत्कर्षेण विश्रुतौ,
सूरी तस्मिन् क्षणे तुल्यौ द्वावास्तां कविबान्धवौ,।

—राजतरङ्गिणी ७।२५९

भोज के समय में लकड़हार भी संस्कृत के विद्वान् थे, जैसा कि—

'भूरिभारभराक्रान्त बाधति स्कन्ध एपते,
न तथा बाधते राजन् यथा बाधति बाधते'।

—सरस्वतीकण्ठाभरण भूमिका पृ० ४

इस श्लोक में कहा गया है। भोज की विद्वत्प्रियता की अनेक आख्यायिकाएँ भोज-प्रबन्ध में हैं, वे प्रामाणिक न होने पर भी उसकी विद्वत्प्रियता की ख्याति तो निस्सन्देह प्रमाणित करती हैं।

भोज ने अपने निकट के पूर्ववर्ती राजशेखर की बालरामायण आदि के एवं दशरूपक प्रणेता धनञ्जय और धनिक के पद्य सरस्वतीकण्ठाभरण[1] और शृङ्गार-प्रकाश में[2] उद्धृत किये हैं, जिनका समय ईसा की दशम शताब्दी है जैसा कि हम दिखा चुके हैं। अतएव भोजराज इनके परवर्ती हैं।

भोज ने अपने ज्योतिष ग्रन्थ राजमृगाङ्क का निर्माण-काल शक ६६४ (१०४२ ई०) लिखा है। अलबेरूनी कृत इण्डिया में भोज को १०३० ई० में धारानगरी का शासक बताया गया है। भोज का एक दानपत्र विक्रमीयाब्द १०७८ (१०२१ ई०) का है[3]। और भोज के उत्तराधिकारी जयसिंह का दानपत्र विक्रमाब्द ११११२ (१०५५ ई०) का है। अतएव भोज का समय संभवतः ईसा की ११ वीं शताब्दी के प्रारम्भ से १०५० ई० तक है। यद्यपि कल्हण ने राजतरिङ्गणी में भोज को कलशराज के समकालीन बतलाया है। कलश क समय विक्रमाब्द ११२०–११४६ (१०६३–१०८६ ई०) है। इसी आधार पर डाक्टर व्हूलर ने और मि० स्टीन ने भोज का समय १०६३ ई० तक माना है, पर जब इसके उत्तराधिकारी जयसिंह का दानपत्र १०५५ ई० का है, तो इसके पूर्व ही भोजराज का अवसान सिद्ध होता है। कल्हण ने संभवतः जन-श्रुति के आधार पर भोज को कलशराज का समकालीन लिख दिया है, जो वस्तुतः भ्रमात्मक है।

१ देखो सरस्वतीकण्ठाभरण काव्यमाला संस्करण भूमिका पृ० ३।

२ देखो शृङ्गारप्रकाश परिशिष्ट पृ० १४।

३ देखो इण्डियन एण्टिक्वेरी ६।५३,५४।

सरस्वतीकण्ठाभरण पर तीन परिच्छेदों की रत्नदर्पण टीका रत्नेश्वर ने राजा रामसिंह से प्रेरित होकर लिखी है, जिसका समय १४०० ई० है।

महाकवि क्षेमेन्द्र और उसके कविकण्ठाभरण

तथा

औचित्यविचारचर्चा

क्षेमेन्द्र के साहित्य-विषयक दो ग्रन्थ औचित्यविचारचर्चा और कविकण्ठाभरण उपलब्ध और मुद्रित हैं। औचित्यविचारचर्चा एक प्रकार का आलोचनात्मक ग्रन्थ है। इसमें क्षेमेंद्र ने पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलङ्कार, रस, क्रिया, लिङ्ग, वचन, देश और काल आदि के वर्णन में औचित्य का, अनेक सुप्रसिद्ध महाकवियों के पद्य उदाहरणों में रखकर गम्भीर एवं निष्पक्ष आलोचनात्मक विवेचन किया है, यहाँ तक कि अपने रचित पद्यों को भी अनौचित्य के उदाहरणों में दिखाया है। इस ग्रन्थ द्वारा क्षेमेन्द्र की आलोचना-शक्ति का पर्याप्त परिचय मिलता है। ग्रन्थ छोटा होने पर भी महत्वपूर्ण है। कविकण्ठाभरण में केवल ५५ कारिकाएं पांच सन्धियों में विभक्त हैं। इसमें कवि-शिक्षा का संक्षिप्त विषय है। संभवतः यह राजशेखर की काव्य-मीमांसा के आदर्श पर लिखा गया है।

क्षेमेन्द्र का परिचय और समय

क्षेमेन्द्र के ग्रन्थों से विदित होता है कि यह प्रकाशेन्द्र का पुत्र और सिंधु का पौत्र था। इसका दूसरा नाम व्यासदास भी था। इसके साहित्य शिक्षक सुप्रसिद्ध अभिनवगुप्ताचार्य थे, जैसा कि इसने—

"आचार्यशेखरमणेर्विद्याविवृतिकारिणः,
श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात्साहित्यं बोधवारिधेः।"

—भारतमञ्जरी पृ० ८५०

---

१ देखो श्री काणे की साहित्यदर्पण की अंग्रेजी भूमिका पृष्ठ ९७।

इस पद्य में स्वयं कहा है। क्षेमेन्द्र ने उपर्युक्त दो ग्रन्थों के अतिरिक्त विभिन्न विषयों पर अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रणीत किये हैं जिनमें शिशुवंश महाकाव्य, दशावतार चरित, बृहत्कथामंजरी, भारतमंजरी, रामायण-मंजरी आदि बृहत् ग्रन्थों के सिवा अनेक स्तोत्र, नाटक, कोष, छन्द, नीति आदि के ग्रन्थ हैं। क्षेमेन्द्र के बहुत से ग्रन्थ काव्यमाला सीरीज (बंबई) में मुद्रित भी हो गये हैं अतएव क्षेमेन्द्र का भी साहित्य-क्षेत्र में उल्लेखनीय स्थान है।

क्षेमेन्द्र काश्मीर के अनन्तराज का सभापण्डित था, यह बात इसके ग्रंथों के—

'राज्ये श्रीमदनन्तराजनृपतेः काव्योदयोऽयं कृतः।"

—कविकण्ठाभरण

'भूभृद्भर्तुर्भुवनजयिनोऽनन्तराज्यस्य राज्ये।"

—सुवृत्ततिलक

'तस्य श्रीमदनन्तराजनृपतेः काले किलायं कृतः।'

—औचित्यविचार चर्चा

इत्यादि वाक्यों में कही गई है। अनन्तराज का राज्यकाल सन् १०२८ से १०८० ई० तक है[1]। अनन्तराज मालवाधीश भोज के समकालीन है। राजतरङ्गिणी में कहा है—

'स च भोजनरेन्द्रश्च दानोत्कर्षेण विश्रुतौ,
सूरी तस्मिन् क्षणे तुल्यौ द्वावास्तां कविबान्धवौ।'

—राजतरङ्गिणी ७। २५९

यहाँ 'स च' प्रसङ्गानुसार अनन्तराज के लिये कहा गया है। अतः क्षेमेन्द्र का समय भी लगभग सन् १०५० ई० का समझना चाहिये। इसकी पुष्टि आचार्य अभिनवगुप्त के साथ इसके गुरु-शिष्य सम्बन्ध द्वारा भी होती है।

---

१ देखिये काव्यमाला प्रथम गुच्छक पृ० ३४-३५ की पाद टिप्पणी।

आचार्य मम्मट और उसका काव्यप्रकाश

आचार्य मम्मट और उसके काव्यप्रकाश को साहित्य-संसार में जैसी व्यापक प्रतिष्ठा प्राप्त है, वैसी अद्यापि किसी साहित्याचार्य और साहित्य-ग्रन्थ को उपलब्ध नहीं हो सकी है। इस बात में किसी भी साहित्य-मर्मज्ञ विद्वान् का मत-भेद न होगा कि काव्यप्रकाश में जिस शैली से थोड़े शब्दों में काव्य के जटिल विषयो का गंभीर और मार्मिक विवेचन किया गया है, वह वस्तुतः अभूत-पूर्व है। काव्यप्रकाश पर प्रत्येक प्रान्त के विद्वानो द्वारा अनेको टीकाएँ लिखी गई हैं जो रुय्यक और विश्वनाथ जैसे लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्याचार्यों द्वारा ही नहीं, किन्तु नैय्यायिक जगदीश, नरसिंह ठक्कुर, वैय्याकरण नागोजी भट्ट, मीमांसक कमलाकर भट्ट, वैष्णव बलदेवभूषण और तांत्रिक गोकुलनाथ जैसे विभिन्न शास्त्रो के विद्वानों द्वारा भी लिखी गई हैं। इसका कारण केवल यही नहीं कि वे विद्वान् साहित्य से रुचि रखनेवाले थे, किन्तु यह भी है कि उन्होंने काव्यप्रकाश के टीकाकार के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त करने में अपने पाण्डित्य का अत्यन्त गौरव भी समझा है। इसके द्वारा आचार्य मम्मट का सम्पूर्ण भारतवर्ष में एक उत्कट विद्वान् माना जाना और लोक-प्रिय होना निर्विवाद सिद्ध होता है।

यद्यपि काव्यप्रकाश के प्रथम भामह आदि द्वारा साहित्य के बहुत से महत्व-पूर्ण ग्रन्थ लिखे गये थे, पर काव्यप्रकाश के प्रकाश के सम्मुख वे सभी ग्रन्थ अपने स्वतंत्र प्रकाश की विशेषता प्रकट करने मे समर्थ न हो सके। उन सभी की ठीक वही अवस्था प्रतीत होने लगी, जिस प्रकार तिमिराच्छन्न गगन-मण्डल में चमत्कृत होनेवाले शुक्रादि अन्य नक्षत्रों की चन्द्रोदय के प्रकाश होने पर हो जाती है।

काव्यप्रकाश का विषय-विवरण

काव्यप्रकाश में १४२ कारिकाएँ १० उल्लासों में विभक्त हैं। और ६०३ पद्य उदाहरणों में लिखे गये हैं। जिनका विषय-क्रम इस प्रकार है—

(१) प्रथम उल्लास में काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु, काव्य का सामान्य लक्षण

और उसके तीन भेद—उत्तम, मध्यम और अधम अर्थात् ध्वनि, गुणीभूत व्यङ्ग्य और अलङ्कार के सामान्य लक्षण और उदाहरण हैं।

(२) द्वितीय में शब्द के वाचक, लक्ष्य और व्यङ्ग्य इन तीन अर्थों का और चौथे तात्पर्यार्थ का स्पष्टीकरण है। उसके बाद लक्षणा और व्यञ्जना का निरूपण है।

(३) तृतीय में पूर्वोक्त वाच्य आदि तीनों अर्थों की व्यञ्जकता का निदर्शन है।

(४) चतुर्थ में ध्वनि के भेद और रसों एवं स्थायी भावों, विभावों तथा व्यभिचारी भावों की स्पष्टता और ध्वनि-भेद का निरूपण है।

(५) पञ्चम में काव्य के द्वितीय भेद गुणीभूत व्यङ्ग्य का विषय और व्यञ्जना का प्रतिपादन है और महिम भट्ट के ध्वनि-विषयक मत का खण्डन है।

(६) छठे में काव्य के तीसरे चित्र अर्थात् शब्द के भेद और अर्थ के अलङ्कारों का विभाजन है।

(७) सप्तम में दोष प्रकरण है।

(८) अष्टम में गुण और अलङ्कार का स्वरूप और गुण एवं रीति के विवेचन में अन्य आचार्यों की आलोचना है।

(९) नवम में शब्दालङ्कार के वक्रोक्ति आदि ८ विशेष भेद निरूपत हैं।

(१०) दशम में उपमा आदि ६२ अलङ्कारों के विशेष भेद जिनमें अतद्गुण, मालादीपक, विनोक्ति, सामान्य और सम ये पांच अलङ्कार संभवतः मम्मट द्वारा नवाविष्कृत हैं—मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्यों ने नहीं लिखे हैं।[1]

---

१ आगे द्वितीय भाग में दी जानेवाली अलङ्कार-विवरण-तालिका में मम्मट-निरूपित शब्द और अर्थ के सब अलङ्कारों की संख्या ६९ है। किन्तु उसमें श्लेष की एक ही संख्या गणना की गई है किन्तु यहां श्लेष की शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार दोनों में गणना है, अतः यहां ७० की संख्या होती है। और 'प्रदीप' आदि में काव्यप्र० के अर्थालङ्कारों की संख्या ६१ बतलाई गई है, पर वहां माला-दीपक की गणना दीपक ही में की गई है। 'संकेत' आदि टीकाओं

मम्मट के पूर्ववर्ती भामह, दण्डी, उद्भट और वामन आदि सभी ने अलङ्कार, गुण-रीति विषयक न्यूनाधिक निरूपण किया है और रुद्रट एवं भोज ने रस विषय का भी, किन्तु इनमें किसी ने भी इस रहस्य पर कुछ प्रकाश नहीं डाला कि काव्य के रस, अलङ्कार, गुण और रीति आदि जो पदार्थ हैं उनका काव्य में क्या-क्या स्थान है अर्थात् काव्य मे इनको किस-किस श्रेणी का महत्त्व है। यद्यपि वामन ने रीति को काव्य की आत्मा बतलाकर प्रधानता दी थी किन्तु आचार्य मम्मट ने रीति को इस अधिकार के अयोग्य बतलाकर वामन के इस मत का बहुत ही मार्मिक खण्डन किया है। ध्वनिकारो ने काव्य में ध्वनि का साम्राज्य स्थापित करके भी अन्य काव्य-विषयों का स्थान स्पष्टतया निर्दिष्ट नही किया था, किन्तु मम्मटाचार्य ने ही सर्वप्रथम ध्वनि, गुणीभूतव्यंङ्ग्य और अलङ्कारों को, उत्तम, मध्य और अधम काव्य की संज्ञा निर्दिष्ट करके इस जटिल् समस्या की पूर्ति की है। यही नही, ध्वनिकारों ने जिस व्यङ्ग्यार्थ और व्यञ्जना के आधार पर ध्वनि-सिद्धान्त का विशाल भवन खड़ा किया था, उसपर महिम भट्ट ने तीव्र प्रहार करके उसके अस्तित्व को ही समूल नष्ट करने की जो चेष्टा की थी। आचार्य मम्मट ने अपनी मार्मिक विवेचना के शिल्पचातुर्य द्वारा ध्वनि-सिद्धान्त के उस भवन को परिष्कृत करके उसे अत्यन्ताधिक चमत्कृत और चित्ताकर्षक भी बना दिया। यह आचार्य मम्मट द्वारा की गई मार्मिक विवेचना का ही फल है कि मम्मट के परवर्ती हेमचन्द्र, विश्वनाथ और पण्डिराज जगन्नाथ जैसे सभी सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों को ध्वनि-सिद्धान्त पर आक्षेप करने का साहस न हो सका।

मम्मट के संमुख उसके पूर्ववर्ती साहित्याचार्यों के ग्रन्थ थे, उन सभी को उसने सन्मान-दृष्टि से देखा है, किंतु इसने किसी का भी दासवत् अनुसरण नहीं किया। मम्मट को जिसका जो मत उचित प्रतीत हुआ उसे अपने प्रतिपाद्य विषय में उसने उद्धृत किया है और जो मत प्रतिकूल प्रतीत हुआ उसकी आलोचना भी की है—पर क्रूर शब्दों मे नहीं, देखिये—

में काव्यप्र० के शब्दालङ्कारों की संख्या ६ बतलाई है। वहां छेकानुप्रास और लाटानुप्रास की अनुप्रास के अन्तर्गत गणना की गई है किन्तु यहां पृथक् २ है।

(१) प्रथम भामह को ही लीजिये। भामह के—

'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते'।··· (काव्यालं० २।८५)

इस सिद्धान्त को मम्मट ने स्वीकार किया है।[1] और भामह की कुछ कारिकाओं का अंश भी लिया है,जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायगा। किन्तु भामह के— 'श्रव्यं नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते' (का० लं० २।२३) इस मत का खण्डन भी किया है—

'आल्हादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम्।
श्रव्यत्वंपुनरोजप्रसादयोरपि।

काव्यप्र० उल्ला० ८ पृ० ५७४

(२) दण्डी और वामनादि ने शब्द के १० गुण बताये हैं, किन्तु मम्मट ने—

'माधुर्यौजः प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश'—

का० प्र० ३०।८ पृ० ५७३

इस कारिका में केवल तीन गुण ही स्वीकार किये हैं और शेष सात गुणों में किसी को अपने स्वकृत उक्त तीन गुणों के अन्तर्गत, किसी को दोष का अभाव और किसी को रस-विशेष में दोष रूप प्रतिपादन करके युक्तिपूर्वक-अस्वीकार किया है। इसी प्रकार वामनादि ने--और श्री भरतमुनि ने भी अर्थ के १० गुण बताए हैं। इस मत को भी मम्मट ने विस्तृत विवेचन के उपरात 'तेननार्थगुणावाच्याः' (का० प्र० उल्ला० ८।७३) इस कारिका में अस्वीकार कर दिया है।

(३) रुद्रट के वहुत से पद्य काव्यप्रकाश के उदाहरणों में उद्धृत हैं। और श्लेष प्रकरण में मम्मट ने अपने मत के समर्थन में रुद्रट के—

"तथाह्युक्तं रुद्रटेन स्फुटमर्थालङ्कारा·········'

काव्यालं० ४।३२

---

[1] देखो काव्यप्र० विशेषालङ्कार की वृत्ति उल्ला० १० वामनाचार्य संस्क० पृ० ९१० ।

इस मत को श्लेष प्रकरण में उद्धृत किया है। किन्तु रुद्रट ने व्यधिकरण और एक देश में समुच्चय अलङ्कार दिखाया है (काव्यालं० ७।१९,२९) उसका मम्मट ने खण्डन किया है—

'व्यधिकरणे इति एकदेशे इति च न वाच्यम्।'

काव्यप्र० समुच्चय प्रकरण

और रुद्रट के स्वीकृत हेतु अलङ्कार का भी मम्मट ने (काव्यप्र० उ० १० पृ० ८५९) खण्डन किया है।

(४) वामन के—

'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मागुणास्तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।'

काव्यालं० सू० ३।१।१,२

इस मत का मम्मट ने (काव्यप्र० उ० ८) खण्डन किया है।

(५) उद्भट की कुछ कारिकाओं के अंश काव्यप्रकाश में लिये गये है। किन्तु उद्भट के श्लेष विषयक—'अलङ्कारान्तरगतो प्रतिभां जनयत्पदैः।' (काव्यालं० सारसं०, श्लेष प्रकरण) इस मत का मम्मट ने—न चायमुपमा-प्रतिभोत्पत्तिहेतुश्लेषः (काव्यप्र० श्लेष प्रकरण) खण्डन किया है। फिर गुण और अलङ्कार के भेद का प्रतिपादन करते हुए भी (काव्यप्र० उत्तर ८) मम्मट ने उद्भट के मत का खण्डन किया है।

(६) ध्वनिकार एवं आनन्दवर्धनाचार्य मम्मट के अत्यन्त श्रद्धेय थे अतएव उनके मतों को मम्मट ने अपने प्रतिपाद्य विषयों के समर्थन में अनेक स्थलों पर उद्धृत किया है। किन्तु उनकी आलोचना करने में भी मम्मट ने सङ्कोच नही किया है। ध्वन्यालोक में रसों के विरोधाविरोध प्रकरण में—

'विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेववा।
तद्विरुद्धरसस्पर्शस्तदाङ्गानां न दुष्यति'॥

—ध्वन्या० ३।३०

यह कारिका है। इसकी वृत्ति में कहा गया है—

'शृङ्गारविरुद्धरसस्पर्शः............न दुष्यति। यावद्विनेयानुन्मु-

स्वीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा क्रियमाणो न दुष्यति-

सत्यं मनोरमा रामा सत्यं रम्या विभूतयः ।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम् ॥
इत्यादिषु नास्ति रसविरोधदोषः ।

आचार्य मम्मट ने रस के इसी विरोधाविरोध-प्रकरण में—'सत्यं मनोरमा' इत्यादि पद को उद्धृत करके इसकी आलोचना में कहा है—

'इत्यत्राद्यमर्द्धं बाध्यत्वेनैवोक्तम् ।·········शान्तमेव पुष्णाति ।······ नतु विनेयोन्मुखीकरणमत्र परिहारः ।······नापि काव्यशोभाकरणम् । रसान्तरादनुप्रासमात्राद्वा तथा भावात्' । —काव्यप्र० उ-७ पृ० ५४४

अर्थात् 'सत्यं मनोरमा रामा·········' इस श्लोकके पूर्वार्द्ध में शृङ्गार रस के और उत्तरार्द्ध में शान्त रस, के विभाव होने के कारण शृङ्गार और शान्त रस परस्पर विरोधी रसो का समावेश है । इसके विरोध के परिहार में ध्वनिकार का कहना है कि यद्यपि इसमें शृङ्गार रस के विभाव हैं पर एक तो काव्य मधुरता से उपदेश दिया करता है और दूसरे यहाँ काव्य-शोभा के लिए ऐसा वर्णन किया गया है इसलिये यहाँ दोष नहीं । पर मम्मट इसके विरुद्ध यह कहते हैं कि यह बात नहीं, यहाँ पूर्वार्द्ध में भी शृङ्गार के विभाव हैं, वे बाधित[1] रूप से कहे गये हैं—शृङ्गार की निवृत्ति के लिये ही ऐसा वर्णन किया गया है न कि काव्य-शोभा के लिये । अतः इसके द्वारा शान्त रस की पुष्टि ही होती है, काव्य-शोभा तो यहाँ अनुप्रास और रसान्तर की स्थिति होने से ही हो जाती है ।

इनके सिवा काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास में तो दोषों के उदाहरणों में

---

१ 'बाधित का अर्थ यह है कि किसी रस के अङ्गों के विद्यमान रहने पर भी उसके विरोधी रस के अङ्गों के प्रबल होने के कारण उस रस की अभिव्यक्ति का रुक जाना । यहाँ शान्तरस के विभाव प्रबल होने से शृङ्गार रस को अभिव्यक्ति रुक गई है ।

कालिदास आदि प्रायः अनेक सुप्रसिद्ध महाकवियों की कृतियों मे दोष प्रदर्शित किये गये हैं। अतएव स्पष्ट है कि मम्मटाचार्य एक अलौकिक प्रतिभा-सम्पन्न उत्कट विद्वान् होने के सिवा स्वतन्त्र विचार के समालोचक भी थे। इसी से अल्प समय के पश्चात् ही—लगभग एक शताब्दी के बाद ही-इनकी वाग्देवी-सरस्वती के अवतार के रूप में प्रसिद्धि हो गई थी, जैसा कि अमरुकशतक के टीकाकार—जिनका समय लगभग १२२५ ई० है, धारेश्वर अर्जुनदेव के—'तदावाग्देवतादेश इति व्यवसितस्य' (अमरुक पृ० ५५) इस वाक्य से विदित होता है। मम्मट का एक ग्रन्थ शब्दव्यापारविचार भी निर्णय-सागर में मुद्रित हुआ है। उसमे शब्द-वृत्ति-लक्षणा, व्यञ्जनादि पर विस्तृत विवेचन है।

काव्यप्रकाश का लेखक

काव्यप्रकाश में कारिका, वृत्ति और उदाहरण तीन अंश हैं। इनमें उदाहरण तो प्राचीन प्रचलित परंपरा के अनुसार अन्य ग्रन्थों से उद्धृत ही हैं। किन्तु काव्यप्रकाश की साहित्यकौमुदी नामक टीका के लेखक विद्याभूषण तथा महेश्वर आदि कुछ टीकाकारों ने कारिका और वृत्ति के लेखक भिन्न-भिन्न बताये हैं, इस आधार पर कि नाट्य-शास्त्र की—

> "शृङ्गारहास्य करुणा········" नाट्यशा० ६।१५
> "रतिर्हासश्च शोकश्च········" नाट्यशा० ६।१७
> 'निर्वेदग्लानिशङ्काख्या' इत्यादि, चार कारिकाएँ
> (नाट्यशास्त्र ६।१८-२१)

ये कारिकाएँ काव्यप्रकाश (उल्लास ४।२९,३०,३१,३२,३३,३४) में अविकल मिलती हैं। अतएव उपर्युक्त टीकाकारो ने काव्यप्रकाश की कारिकाओं को श्री भरत मुनि प्रणीत और वृत्ति को मम्मट प्रणीत समझ लिया है। किंतु यह भ्रममात्र है। क्योंकि प्रथम तो काव्यप्रकाश की १४२ कारिकाओं में नाट्य-शास्त्र की केवल ये ६ कारिकाएँ हैं—जिनमे आठ रस, आठ स्थायी भाव और ३३ सञ्चारी भावों का नामोल्लेख मात्र है, इन सभी का नाम और सख्या सूचित करना तो मम्मट को भी आवश्यक ही था, उनके लिये अन्य नवीन कारिकाएँ

निर्माण न करके नाट्यशास्त्र की उपर्युक्त कारिकाओं का मम्मट द्वारा लिया जाना कोई आश्चर्य नहीं, जब कि मम्मट के पूर्ववर्ती भामह, दण्डी और उद्भट जैसे अन्य सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों द्वारा भी अपने पूर्ववर्ती अन्य ग्रन्थकारों की कारिकाएँ ली गई हैं, जैसा कि पहिले स्पष्ट किया है। मम्मट ने भी उसी प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुए केवल नाट्यशास्त्र की ही नहीं, किन्तु अन्य ग्रन्थों की भी लक्षणात्मक कारिकाएँ ली हैं। देखिये काव्यप्रकाश की—

'उपकुर्वन्ति तं सन्तं येङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेनुप्रासोपमादयः ॥
ये रसस्याङ्गिनोधर्माः'। काव्यप्रकाश उ० ८।६७

ये कारिकाएँ, ध्वन्यालोक की—

'तमर्थमवलम्बन्ते येङ्गिनं ते गुणाःस्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्या कटकादिवत्'॥
—ध्वन्या० २।७।

इस कारिका से अधिकांश में मिलती हैं। और काव्यप्रकाश की—

'निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः तत्राक्षेपो द्विधा मतः'॥
—काव्यप्रकाश १०।१०६

यह कारिका भामह की—

'प्रतिषेधइवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया'। (काव्यालङ्कार २।६८)
'वक्ष्यमाणोक्तविषयः तत्राक्षेपो द्विधा मतः'। (काव्यालङ्कार २।६७)

इस कारिका से अक्षरशः मिलती है। केवल प्रथम पाद में नाममात्र का परिवर्तन है। और काव्यप्रकाश की—

(१) 'क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना'।
काव्यप्रकाश १०।१०७ पृष्ठ ७६८

(२) 'अभवन्वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः'।
काव्यप्रकाश १०।९७ पृष्ठ ७४४

(३) 'प्रत्यक्षाइव यद्भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः' ।

काव्यप्रकाश १०।११४ पृष्ठ ८२२

ये कारिकाएँ उद्भट की—

(१) 'क्रियायाः प्रतिषेधे या तत्फलस्य विभावना' ।

काव्यालङ्कारसारसंग्रह २।३२

(२) 'अभवन्वस्तुसम्बन्धो भवन्वा यत्र कल्पयेत् ।
उपमानोपमेयत्वं' । (काव्या० सार सं० ५।६१)'

(३) 'प्रत्यक्षाइव यत्रार्थो दृश्यन्ते भूतभाविनः' ।

काव्यालङ्कारसारसंग्रह ६।७३

इन कारिकाओं से ली गई हैं । इनमें जो नाममात्र परिवर्त्तन किया गया है, वह मम्मट की विद्वत्ता का परिचायक है । जैसे उद्भट की द्वितीय संख्या की कारिका में—'यत्र उपमानोपमेयत्वं कल्पयेत्' इतने बड़े वाक्य के अभिप्राय को मम्मट ने काव्यप्रकाश की कारिका के—'उपमापरिकल्पकः' इस छोटे वाक्य में अधिक स्पष्ट कर दिया है । इसीप्रकार उद्भट की अन्य कारिकाओं में भी मम्मट ने बहुत उपयुक्त परिवर्तन किया है ।

वामन के—

'कर्णावतंसश्रवणकुण्डलशिरः शेखरेषु कर्णादिनिर्देशः सन्निधेः'

काव्यालंकार सूत्र २।२।१४

इस सूत्र के आधार पर काव्यप्रकाश की—

'कर्णावतंसादिपदे कर्णादिध्वनिनिर्मितः । सन्निधानादिबोधार्थं' ।

काव्यप्रकाश ७।५८

यह कारिका है ।

इसके सिवा काव्यप्रकाश की कारिकाओ को भरतमुनि-प्रणीत मानने के विरुद्ध एक प्रबल प्रमाण और भी है । काव्यप्रकाश में—'कारणान्यथकार्याणि' (काव्यप्रकाश उ० ४।२७,२८) इत्यादि कारिकाओ की वृत्ति में—तदुक्तं भरतेन—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति' यह उल्लेख है । यदि कारिकाएँ भरतमुनि प्रणीत होती तो फिर भरत की कारिका के समर्थन में भरत के

नामोल्लेख के साथ भरत के इस सूत्र को किस प्रकार उद्धृत किया जा सकता था। अतएव स्पष्ट है कि काव्यप्रकाश में कुछ कारिकाएँ और कुछ कारिकाओं के अंश अन्य ग्रन्थों से भी लिये गये हैं, जिनमें भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की भी पूर्वोक्त छः कारिकाएँ ली गई हैं।

अच्छा, इस विषय में एक आपत्ति और भी है, काव्यप्रकाश के प्रारंभ में ग्रन्थारंभ की प्रथम कारिका के आदि में—

'ग्रन्थारम्भे विघ्नविघाताय समुचितेष्टदेवतां ग्रन्थकृत् परामृशति'

इस वृत्ति के 'ग्रन्थकृत्' और 'परामृशति' में अन्य पुरुष के प्रयोग पर यह कल्पना की जाती है कि यदि कारिकाकार मम्मट ही होता तो अपने लिये अन्य पुरुष का प्रयोग न करके उत्तम पुरुष का प्रयोग करता। किन्तु यह कपल्ना भी निर्मूल है। क्योंकि संस्कृत के प्राचीनतम ग्रन्थकर्ताओं द्वारा भी अपने लिये अन्य पुरुष का प्रयोग किया जाना दृष्टिगत होता है—

'मिथिलास्थः स योगीन्द्रः क्षणंध्यात्वा ब्रवीन्मुनीन्'।

—याग्यवल्क्य स्मृति १।२

इसमें स्वयं महर्षि याग्यवल्क्य जी ने अपने लिये अन्य पुरुष का प्रयोग किया है। बौधायन स्मृति में—'स हस्मादह बौधायनः'। ऐसा ही प्रयोग है। इन वाक्यों का अपरार्का टीका में यही तात्पर्य स्पष्ट किया गया है[1]। और मनुस्मृति के—'स तै पृष्टस्तथासम्यगमितौजा महात्मभिः' (मनु १।४) इसकी टीका में मेधातिथि ने—

'सदा च आद्यं प्रायेण ग्रन्थकाराः स्वमतं परोपदेशेन ब्रुवते'

यह लिखा है, और कल्लूक भट्ट ने—

'प्रायेणाचार्याणामियं शैली यत्स्वाभिप्रायमपि
परोपदेशमिव वर्णयन्ति'

यह स्पष्ट किया है। फिर एक और भी महत्वपूर्ण अन्तरङ्ग प्रमाण कारिका और वृत्ति के एक ही लेखक होने की पुष्टि में मिलता है। काव्यप्रकाश की 'सांगमेतत्

१ देखिये, याज्ञवल्क्य स्मृति अपरार्का टीका पृ० ४।

निरंगन्तु शुद्धं माला तु पूर्ववत्' (उ० १० पृ० ७२६) इस कारिका में माला-रूपक को पूर्ववत् अर्थात् पूर्वोक्त मालोपमा के समान कहा गया है। किन्तु मूल कारिकाओं में कहीं भी मालोपमा का उल्लेख नहीं है—किन्तु इसके पहले केवल वृत्ति में 'मालोपमा' का निर्देश है। अतः स्पष्ट है कि यदि वृत्ति और कारिकाओं का लेखक एक न होता तो वृत्ति में कहे हुए विषय का कारिकाओं में उल्लेख किस प्रकार किया जा सकता था ? अतएव निस्सन्देह वृत्ति और कारिका दोनों का लेखक एक ही है। किन्तु काव्यप्रकाश की समाप्ति तक संपूर्ण कृति केवल मम्मट कृत नहीं प्रतीत होती है। इस विषय में काव्यप्रकाश के अन्तिम—

'इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नोप्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत्।
नतद्विचित्रं यदमुत्र सम्यग् विनिर्मिता संघटनैव हेतुः' ॥

इस पद्य का टीकाकारों ने एक अर्थ तो इस ग्रन्थ का-महत्व-सूचक किया है। और दूसरा अर्थ—श्लेषार्थ किया है, जिसमें काव्यप्रकाश के प्रणेता दो—भिन्न-भिन्न बताये हैं। उपलब्ध टीकाओं में सबसे प्राचीन विक्रमीयाब्द १२१६ (११५९ ई०) का माणिक्यचन्द्र मम्मट के निकटवर्ती टीकाकार है, उसने लिखा है—

'अथ चायं ग्रन्थोऽन्येनारब्धोऽपरेण च समर्थितः
इति द्विखण्डोऽपि संघटनावशादखण्डायते'।

और सोमेश्वर ने अपनी संकेत टीका में लिखा भी है—

'ग्रन्थो ग्रन्थकृतानेन कथमप्यसमाप्तत्वादपरेण च पूरिताशेषत्वात्'।

इसी प्रकार अन्य टीकाओं मे भी उल्लेख है, जो संभवतः इन्हीं प्राचीन टीकाओं के आधार पर है। इसकी पुष्टि अमरुकशतक के टीकाकार अर्जुनदेव के—'काव्य-प्रकाशकारौ प्रायेण दोष दृष्टी' (अमरु० पृ० ५५) इस वाक्य में किये गये द्विवचन के प्रयोग द्वारा भी होती है। अर्जुनदेव, माणिक्यचन्द्र के लगभग ५० वर्ष उत्तरकालीन है[1]। इसके सिवा काव्यप्रकाश की एक हस्तलिखित प्रति का

---

१ अर्जुनदेव धारेश्वर भोज का १३वां अधिकारी था। देखो इसका शिला-लेख विक्रमीयाब्द १२७२ (१२१६ ई०) का ओरियन्टल सोसाइटी जर्नल भाग ७।

उल्लेख प्रो० भंडारकर ने किया है[1] जिस पर विक्रमाब्द १२१५ (११५८ ई०) है। उसके अन्त में—कृति राजानक मम्मटालकयोः' लिखा हुआ है। राजानक आनन्द ने काव्यप्रकाश की निदर्शन नामक एक टीका सन् ११६५ ई० में लिखी है जिसमें लिखा है—

'यदुक्तं—'कृता श्रीमम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः।
प्रबन्धः पूरितः शेषो विधायालक (अथवा-विधायाल्लट) सूरिणा'

इस प्रचलित पद्य में दशमोल्लास में परिकर-अलङ्कार तक मम्मट द्वारा और शेष अल्पांश अलक (या अल्लट) द्वारा प्रणीत बताया गया है। किन्तु इसके विरुद्ध पूर्वोक्त अर्जुनदेव प्रणीत अमरुकशतक की टीका में (पृ० २९) अमरुकशतक के—'प्रसादे वर्तस्व प्रकटयमुदं......' काव्यप्रकाश में उद्धृत (७।३२७-पृ० ५३१ इस पद्य पर—यथोदाहृतं दोषनिर्णये मम्टालकाभ्यां'। यह उल्लेख है, इसके द्वारा परिकर के आगे का अल्पांश ही नहीं किन्तु सप्तमोल्लास में भी अलक का सम्बन्ध स्थापित होता है। किन्तु यह भी संभव है किसी प्रति के अन्त में 'मम्मटालकाभ्यां' ऐसा उल्लेख देखकर उसी के आधार पर अर्जुनदेव ने संपूर्ण काव्यप्रकाश को मम्मट और अलक दोनों द्वारा प्रणीत समझ लिया हो। अस्तु, इस विषय में किसी निश्चय पर पहुँचने के लिये कोई साधन नहीं।

अलक या अल्लट राजानक जयानक का पुत्र बताया जाता है। यदि पीटरसन का मत ठीक हो तो रत्नाकर के हरविजय काव्य पर विषमपदद्योतिका टीका का लेखक यही अल्लट है। महाकवि रत्नाकर अवन्तिवर्मा के राज्यकाल (सन् ८५५-८८४) में था जैसा कि राजतरङ्गिणी (५।३६) से विदित होता है[2]।

अच्छा, इस विषय में एक प्रश्न और भी है। काव्यप्रकाश पर एक संकेत टीका रुय्यक (या रुचक) कृत है। उसकी हस्तलिखित प्रति के प्रथमोल्लास

१ देखो भंडारकर रिपोर्ट on Four for 1904 पृष्ठ १४।

२ देखो हरविजय महाकाव्य पृष्ठ १, २ की पाद-टिप्पणी।

और दशमोल्लास के अन्त में—'इति श्रीराजानक मम्मटालकरुचकानाम्' ऐसा उल्लेख है[1]। इस आधार पर पीटरसन और स्टीन काव्यप्रकाश के प्रणयन में मम्मट और अलक के सिवा रुय्यक या 'रुचक' का संबंध भी कल्पना करते हैं। किन्तु यह कल्पना नितान्त निराधार है। प्रथम तो मम्मट और रुय्यक एक-कालीन ही नहीं, फिर और भी बहुत से कारण इस कल्पना के विरुद्ध हैं, जो आगे रुय्यक के निबन्ध में प्रदर्शित किये जायँगे। यहाँ इस विषय में यही कहना पर्याप्त है कि इस उल्लेख द्वारा रुय्यक केवल संकेत टीका का लेखक ही निश्चित किया जा सकता है।

मम्मट का परिचय और समय

'राजानक उपाधि द्वारा ही स्पष्ट है कि मम्मट काश्मीरी था। काश्मीरी विद्वानों को उच्च सन्मान सूचक यह उपाधि काश्मीर की एक महारानी प्रदत्त है[2]। भीमसेनकृत सुधासागर टीका के उल्लेख के आधार पर पीटरसन मम्मट को महाभाष्य पर प्रदीप के लेखक कैयट का भाई और ऋक्प्रतिभाष्य के भाष्यकार ऊवट का बड़ा भाई और जैयट का पुत्र बताता है[3]। किन्तु उस भाष्य में ऊवट ने अपने पिता का नाम वज्रट बतलाया है। और हौल एवं वेबर मम्मट को नैषधकार श्रीहर्ष का मामा कल्पना करते हैं। किन्तु नैषधीयचरित्त के लेखक श्रीहर्ष कनौजाधिपति श्री जयचन्द के आश्रित थे, जिसका समय ईसा की १२ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है[4]। और मम्मट का समय लगभग ईसा की

---

१ देखो पीटरसन् की द्वितीय रिपोर्ट पृष्ठ १४

२ राजतरङ्गिणी मे उल्लेख है—

'राज्ञो कृतज्ञभावेन साऽपि मन्त्रिसभान्तरे,
तमाजुहाव निर्द्रोहं स्वयं राजानकाख्यया।' ६।२।१

३ देखो पीटरसन की काश्मीर प्रथम रिपोर्ट पृष्ठ ९४

४ देखो जयचन्द्र का दानपत्र इण्डियन एण्टिक्वेरी १५।११।१२ और नैषधीयचरित्र प्रस्तावना, निर्णयसागर प्रेस सन् १८९४ पृ० १०-१५

११ वीं शताब्दी का मध्य है। अतः मम्मट और श्रीहर्ष के समकालीन न होने के कारण यह कल्पना भी निराधार है।

आचार्य मम्मट की उत्तर सीमा हेमचन्द्राचार्य के काव्यानुशासन द्वारा बहुत सरलता से निश्चित हो जाती है। हेमचन्द्र मम्मट के उत्तरकालीन लेखकों में सबसे अधिक निकटवर्ती है। हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन में काव्यप्रकाश के अनेक लंबे लंबे अवतरण अनेक स्थलों पर लिये हैं। हेमचन्द्र का जन्मकाल सन् १०८८ ई० है[1] यद्यपि काव्यप्रकाश पर माणिक्यचन्द्र की संकेत टीका विक्रमाब्द १२१६ (सन् ११६० ई०) की है और रुय्यक की संकेत टीका माणिक्यचन्द्र से भी प्राचीन है[2]। किंतु जब हेमचन्द्र का समय निश्चित है तो निश्चित रूप में मम्मट की अंतिम सीमा ईसा की ११वीं शताब्दी के बाद कदापि नहीं हो सकती, उसके पहले ही मानी जा सकती है। और इसकी पूर्व सीमा ध्वन्यालोक पर लोचन के लेखक श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य के समय पर निर्भर है, जिनका समय लगभग १०५० ई० तक है। इसकी पुष्टि काव्यप्रकाश में उद्धृत नवसाहसाङ्कचरित काव्य के कई पद्यों से होती है। नवसाहसाङ्क का नायक धारेश्वर भोजराज का पिता सिन्धुराज (या सिन्धुल) है। और मम्मट ने भोज के प्रशंसात्मक वर्णन का—

'यद्विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत्त्यागलीलायितं'।

काव्यप्रकाश १०।५०५

यह पद्य भी काव्यप्रकाश में उद्धृत किया है। भोज का समय १०५५ ई० तक है। अतः आचार्य मम्मट का समय १०२५ और १०७५ ई० के मध्य में हो सकता है।

काव्यप्रकाश पर जितनी टीकाएँ हैं, उतनी अन्य किसी साहित्य-ग्रन्थ पर ही नहीं, संस्कृत के किसी भी ग्रन्थ पर शायद ही हों। इनमें, माणिक्यचन्द्र,

---

१ देखिए इस ग्रन्थ में आगे हेमचन्द्राचार्य विषयक निबन्ध।

२ देखिए इसी ग्रन्थ में आगे रुय्यक निबन्ध।

सोमेश्वर, सरस्वतीतीर्थ, और जयन्त की प्राचीन होने के कारण और गोविन्द ठक्कुर का प्रदीप विद्वत्तापूर्ण होने के कारण उल्लेखनीय हैं। श्री वामनाचार्य झलकीकर की बाल-बोधिनी[1] जिसमें प्रायः पूर्व-प्रणीत अनेक टीकाओं के अवतरणों का भी उल्लेख है, विशेषतया हमारे जैसे स्थूल मतिवालों के लिये अत्यन्त उपयोगी होने के कारण विशेष उल्लेखनीय है।

रुय्यक (या रुचक) और उसका अलङ्कारसर्वस्व
अथवा
अलङ्कारसूत्र

अलङ्कारसर्वस्व (या सूत्र) सूत्रबद्ध ग्रन्थ है। इसमें ८६ सूत्र है, जिसमें ६ शब्दालङ्कार और ७५ अर्थालङ्कार (७ रसवदादि तथा संकर संसृष्टी को मिलाकर) है। परिणाम, उल्लेख, विचित्र और विकल्प ये ४ अलङ्कार संभवतः इसी के द्वारा सबसे प्रथम आविष्कृत हैं। 'विकल्प' के विषय में तो स्वयं रुय्यक ने कहा है—'पूर्वैरकृतविवेकोऽत्रदर्शितइत्यवगन्तव्यम्'। और 'विचित्र' के विषय में विमर्शनीकार जयरथ ने कहा है—'एतद्धि ग्रन्थकृतैवाभिनवत्वेनोक्तम्'।

इसमें अलङ्कारों के लक्षण सूत्रों में है और वृत्ति में विस्तृत विवेचन और उदाहरण देकर स्पष्टता की गई है। यह ग्रन्थ केवल अलङ्कार-विषयक है। रुय्यक ने ग्रन्थारंभ मे पूर्ववर्ती साहित्याचार्यों के विभिन्न मतो पर किये गये विस्तृत विवेचन में ध्वनिकार के मतानुसार ध्वनि-सिद्धान्त को काव्य में सर्वोपरि स्वीकार किया है। किन्तु विस्तृत विवेचन इसने अलङ्कार विषय पर ही किया है। यह ग्रन्थ भी साहित्य के उल्लेखनीय ग्रन्थो मे है। इस ग्रन्थ का अधिक महत्व और उपयोगिता इसकी सार-गर्भित वृत्ति पर ही निर्भर है।

इस ग्रन्थ का एक संस्करण काव्यमाला में जयरथ की अलङ्कार विमर्शनी

---

[1] यह टीका गवर्नमेंट कालेज पूना के प्रोफेसर श्री वामनाचार्य ने सन् १९०० ईसवी के कुछ पहिले लिखी है और निर्णयसागर प्रेस बम्बई में मुद्रित हुई है।

टीका के साथ अलङ्कारसर्वस्व के नाम से मुद्रित हुआ है। इस ग्रन्थ के गौरव में जयरथ की महत्वपूर्ण विमर्शनी द्वारा और भी अभिवृद्धि हो गई है। और इसका दूसरा संस्करण त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज में समुद्रबंध की टीका के साथ अलङ्कारसूत्र के नाम से मुद्रित हुआ है।

अलङ्कारसर्वस्व का लेखक

साहित्य के अन्य कुछ ग्रन्थों की भाँति इस ग्रन्थ के सूत्र और वृत्ति के लेखक के विषय में भी बड़ी संदिग्धता है। काव्यमाला के संस्करण के अनुसार सूत्र और वृत्ति दोनों का लेखक एक रुय्यक ही है, जैसा कि उसके प्रारम्भ के—

'नमस्कृत्य परां वाचं देवीं त्रिविधविग्रहाम्।
निजालङ्कारसूत्राणां वृत्यातात्पर्यमुच्यते' ॥

इस पद्य के 'निजालङ्कारसूत्राणां' वाक्य से और टीकाकार जयरथ के उल्लेखों से स्पष्ट है। और अलङ्कारसर्वस्व की सञ्जीवनी टीका में श्रीविद्याचक्रवर्ती ने भी प्रारम्भ के—

'रुचकाचार्यपद्मे सेयमलङ्कारसर्वस्वे।
सञ्जीविनीतिटीका श्रीविद्याचक्रवर्तिना क्रियते ॥

और अन्त के—

'इत्थं भूम्ना रुचकवचसां विस्तरः कर्कशोयं
टीकास्माभिः समुपरचिता तेन सञ्जीविनीयम्'।

इन पद्यों में सूत्र और वृत्ति दोनों का लेखक रुचक को ही बताया है। 'रुचक' रुय्यक का अपभ्रंश है[1]। बाद के लेखकों में प्रतापरुद्रयशोभूषण पर रत्नापण टीका के लेखक कुमारस्वामी ने—'तदुक्तं रुचकेन' ऐसा कहकर[2] अलङ्कार-सर्वस्व की—'एकार्थाश्रयापि धर्मविषये' इत्यादि वृत्ति (काव्यमाला संस्करण पृ० ५८) उद्धृत की है। और भी अनेक स्थलों पर रत्नापण में इसी प्रकार वृत्ति का लेखक रुचक को ही माना गया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी (रसगं०

---

१ देखो पिशल की शृङ्गारतिलक की भूमिका पृ० २८,२९।

२ देखो रत्नापण पृ० ३९३

पृ० २२१,२५१,३४२,३४३,३५२,) अलङ्कारसर्वस्व के सूत्र और वृत्ति दोनों के उद्धरण रुय्यक के नाम से ही दिये हैं।

इसके विपरीत त्रिवेन्द्रम् संस्करण के प्रारम्भ के पद्य में "निजालङ्कार-सूत्राणां" के स्थान पर 'गुर्वलङ्कारसूत्राणा' वाक्य मुद्रित है और ग्रन्थान्त में भी–

'इति मङ्खको वितेने काश्मीरक्षितिपसान्धिविग्रहिकः।
सुकविमुखालङ्कारं तदिदमलङ्कारसर्वस्वम्' ॥

त्रिवेन्द्रम सं० पृ० २२८

यह आर्यावृत्त है। अप्पय दीक्षित ने चित्र मीमांसा में (पृ० १०)—
'किन्तु श्लेषस्यालङ्कारविविक्तविषयाभावेन निरवकाशतया वलवत्वेन ....'श्लेषएवनोपमेतिमंखकादिभिरभ्युपेयते'।

यह श्लेष-विषयक विवेचन को अलङ्कारसर्वस्व की वृत्ति का मत दिखाया है। अर्थात् अप्पय भी वृत्ति को मंखक प्रणीत मानता है। मंखक ने स्वयं अपने श्रीकण्ठचरित महाकाव्य में लिखा है—

'तं श्रीरुय्यकमालोक्य स प्रियं गुरुमग्रहीत्।
सौहार्दप्रश्रय रसश्रोतस्सम्भेदमज्जनम्'। (२५।३०)

इन्हीं आधारो पर त्रिवेन्द्रम संस्करण के संपादकों ने सूत्र ग्रन्थ का प्रणेता रुय्यक को और वृत्ति-लेखक मंखक को बताया है। और उसी के अनुसार सूत्र ग्रन्थ का नाम रुय्यक प्रणीत अलङ्कारसूत्र और वृत्ति ग्रन्थ का नाम अलङ्कार-सर्वस्व रक्खा है।

अलङ्कारसर्वस्व की वृत्ति में मंखक के श्रीकण्ठचरित के कुछ पद्य भी उदा-हरणो में है—

(१) 'आटोपेन पटीयसां' इत्यादि (श्रीकण्ठ० २।४९, अलंकारसर्व-स्व त्रिवेन्द्रम्० पृ० १७)

(२) 'मदनगणनास्थाने' इत्यादि (श्रीकण्ठ० ६।७०, अलं० त्रिवेन्द्रम० पृ० ८८)

(३) 'द्यामालिलिङ्ग' इत्यादि (श्रीकण्ठ० ५।२३, अलं० त्रिवेन्द्रम० पृष्ठ० ९१)

(४) 'स्वपत्त्लीलाललितै' इत्यादि (श्रीकण्ठ० ६।१६, अलं० त्रिवेन्द्रम पृ० ६२)

(५) 'मन्दमग्निमधुरर्य' इत्यादि (श्रीकण्ठ० १०।१०, अलं० त्रिवेंद्रम पृ० ९३)

इन अवतरणों में प्रथम अवतरण अलङ्कारसर्वस्व में वृत्ति अनुप्रास के उदाहरण में है, उसके आदि में त्रिवेन्द्रम संस्क० में—'मदीये श्रीकण्ठस्तवे' मुद्रित है। और काव्यमाला संस्करण में (पृ० २१) यह विना नामोल्लेख के मुद्रित है। किन्तु पुनरुक्तवदाभास के उदाहरण में—'अहीनभुजगाधीश···' पद्य है उसके आदि में त्रिवेन्द्रम संस्करण में 'यथा मंखीये श्रीकण्ठस्तवे' और काव्यमाला संस्करण में (पृ० २१) 'मदीये श्रीकण्ठस्तवे' मुद्रित हैं। ऐसी अवस्था में वृत्तिकार यदि मंखक को माना जाय तो उसके द्वारा अपने नामोल्लेख के साथ अपना पद्य उद्धृत किया जाना अवश्य ही शंकास्पद है। हाँ, यह एक बात तो निश्चित है कि जो अवतरण श्रीकण्ठस्तव के अलङ्कारसर्वस्व की वृत्ति में उदाहरण रूप में हैं वे काव्यमाला में मुद्रित मंखक-प्रणीत श्रीकण्ठचरित महाकाव्य के हैं—उसी का अलङ्कारसर्वस्व में श्रीकण्ठस्तव नाम से उल्लेख है। किन्तु अलङ्कारसर्वस्व में सूत्र और वृत्ति दोनों का लेखक रुय्यक है अथवा सूत्रों का लेखक रुय्यक और वृत्ति का लेखक मंखक, यह एक जटिल प्रश्न है, क्योंकि 'मदीये' और 'मंखीये' का प्रयोग जो ऊपर दिखाया गया है उसमें 'मदीये' का लेखभ्रम से जिस प्रकार 'मंखीये' हो जाना संभव है उसी प्रकार 'मंखीये' का लेख-प्रमाद से 'मदीये' हो जाना भी कोई आश्चर्य-कारक नहीं। इसके सिवा समुद्रबंध के उल्लेख द्वारा एक नवीन प्रश्न इससे भी बढ़कर, उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि वह सूत्र और वृत्ति दोनों मंक प्रणीत ही बताता है, जैसा कि उसकी टीका के प्रारंभ में—

'कदाचिन्मंखकोपज्ञं काव्यालङ्कारलक्षणम्।
प्रदर्श्य नस्तितीर्पूणां मंखुकग्रन्थसागरम्' ॥ (पृ० २)

इत्यादि पद्यों द्वारा और ग्रन्थान्त के—

'मंखुकनिबन्धवृत्तौ विहितायामिहसमुद्रबन्धेन। (पृ० २२८)

इन पद्यो द्वारा स्पष्ट है। यही नही, ग्रन्थान्त के—'एवमेते शब्दार्थोभयालङ्काराः संक्षेपतः सूत्रिता' (सूत्र ८६) इसकी व्याख्या में उसने लिखा है—

स्वकण्ठेनानुक्तिशङ्कानिराशाय सूत्रस्थस्य संक्षेपतः
इति पदस्यान्वयदर्शनामुखेन व्याचष्टे' (पृ० २२७)

इसके द्वारा भी स्पष्ट है कि वह सूत्र और वृत्ति दोनों का लेखक मंखक को ही बताता है।

इन उपर्युक्त आधारों द्वारा किसी एक निर्णय पर पहुँचना बड़ा कठिन है। क्योंकि इनमें विभिन्न तीन मत हैं, जो परस्पर में विरुद्ध हैं—

(१) एक मत में सूत्र और वृत्ति दोनों का लेखक रुय्यक माना गया है, जिसके प्रतिपादक टीकाकार जयरथ, श्रीविद्याचक्रवर्ती, कुमारस्वामी और पण्डितराज जगन्नाथ आदि हैं।

(२) दूसरे मत मे सूत्रकार रुय्यकको और वृत्तिकार मंखक को मांना है इसकी प्रतिपादक त्रिवेन्द्रम संस्करण की हस्तलिपि, और बर्नल कैटलौग में उल्लिखित एक हस्तलिखित प्रति है जिसके आदि अन्त में त्रिवेन्द्रम संस्करण के अनुसार पाठ है।

(३) तीसरा मत टीकाकार समुद्रबंध का है, जो सूत्र और वृत्ति दोनों का लेखक मंखक को ही बताता है।

अब हम इन मतों पर विचार करते हैं तो प्रथम मत में सूत्र और कारिका दोनों का लेखक रुय्यक को बतानेवाला सर्वप्रथम जयरथ है। अन्य लेखकों ने सम्भवतः उसी का गड्डुरिका न्याय से अनुसरण किया है। जयरथ यद्यपि रुय्यक का सबसे निकटवर्ती—लगभग ७५ वर्ष बाद का, १२२५ ई० का—सर्वप्रथम टीकाकार और तद्देशीय है, किन्तु जिस प्रति के आधार पर जयरथ ने टीका लिखी है, उस हस्तलिखित अलङ्कारसर्वस्व की प्रति के विषय में वह स्वयं लिखता है—

'अयं हि ग्रन्थो ग्रन्थकृतः पश्चान् कैरपि पत्रिकाभिर्लिखित इति प्रसिद्धिः। तैश्चानवधानादुदाहरणपत्रिका न लिखिता अतिदेशवाक्यं च पत्रिकान्तराल्लिखितमिति ग्रन्थस्यासङ्गतत्वम् .....इति उदाहरणान्यत्र मध्ये लिखितव्यानि येन ग्रन्थस्य सङ्गतिः स्यात्' (पृ० १०८) और—'लेखकैश्चास्य ग्रन्थस्य प्रतिपदमेव विपर्यासः कृतः' (पृ० १२६)।

इन वाक्यों द्वारा स्पष्ट है कि उस प्रति के लिखने में लेखकों द्वारा बड़ा प्रमाद किया गया था। संभव है त्रिवेन्द्रम संस्करण की हस्तलिखित प्रति के आदि और अंत का वह भाग जिसमें मंखक का नामोल्लेख था, जयरथ के हस्तगत जो प्रति हुई, उसमें लेखक-प्रमाद से छूट गया हो। अतएव जयरथ का ग्रन्थकर्ता के विषय में जो उल्लेख है, वह भी एक बार ही विश्वसनीय नहीं माना जा सकता।

तीसरा मत समुद्रबंध का भी अग्राह्य है। क्योंकि वह ग्रन्थारंभ की वृत्ति के आदि के 'गुर्वलङ्कारसूत्राणां' इसकी व्याख्या में 'गुरु' शब्द का अर्थ 'गुरु' या 'रुय्यक' न करके 'गुर्वित्यनेन विवक्षितस्य तात्पर्यस्यावश्यवक्तव्यतां दर्शयति' यह अर्थ करता है, जो कि अप्रसिद्ध होने के कारण स्वीकार करने योग्य नहीं। फिर समुद्रबंध लगभग सन् १३०० ई० का लेखक होने से जयरथ का परवर्ती भी है। अतएव केवल इसके आधार पर इस ग्रन्थ का रुय्यक के साथ सर्वथा सम्बन्ध विच्छिन्न किया जाना वस्तुतः रुय्यक के साथ अन्याय है।

अब रहा द्वितीय मत। यह भी संदिग्ध है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि रुय्यक और मंखक का गुरु-शिष्य सम्बन्ध था जैसा कि श्रीकण्ठचरित में मंखक ने स्पष्ट कहा है। अतः यद्यपि मंखक द्वारा रुय्यक के सूत्रों पर वृत्ति लिखा जाना संभव हो सकता है तथापि इसके साथ यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि यदि वृत्ति को मंखक-प्रणीत मान लिया जाय तो फिर केवल सूत्र ग्रन्थ का कुछ भी महत्व नहीं रह जाता। इस ग्रन्थ का जो कुछ गौरव है, वह इसकी वृत्ति पर ही निर्भर है। और-वृत्ति के प्रारम्भ भाग में किये गये विवेचन पर ध्यान देने पर भी यही प्रतीत होता है कि वह संभवतः सूत्रकार द्वारा ही लिखी गई।

ऐसी परिस्थिति में सूत्र ग्रन्थ का लेखक तो संभवतः रुय्यक ही हो सकता है। और वृत्ति का लेखक सम्भवतः न तो केवल रुय्यक ही है और न केवल मंखक, किंतु रुय्यक द्वारा लिखे गये वृत्ति-ग्रन्थ में मंखक द्वारा कुछ परिवर्द्धन किया गया है। अस्तु, निश्चयात्मक कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

रुय्यक और मम्मट

काव्यप्रकाश की बालबोधिनी टीका के लेखक श्री वामनाचार्य की भूमिका (पृ० २१) से विदित होता है कि काव्यप्रकाश की 'प्रदीप' आदि कुछ टीकाओं के लेखक रुय्यक को आचार्य मम्मट का पूर्ववर्ती बताते हैं। इसी आधार पर हमारी भी यही धारणा थी, किन्तु यह कल्पना निर्मूल है। उन्होंने यह कल्पना जिन आधारों पर की है, वे ये हैं—

काव्यप्रकाश में शब्दालङ्कार संकर का—

'एवं रूपश्च संकरःशब्दालङ्कारयोरपि परिदृश्यते—राजति तटीयमभिहत……' अत्र यमकमनुलोमप्रतिलोमश्च चित्रभेदः पादद्वयगते परस्परापेक्षे'। (काव्यप्रकाश पृ० ९२३)।

इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है। और अलङ्कारसर्वस्व में रुय्यक ने—

'शब्दालङ्कारसंकरस्तु कैश्चिदुदाहृतो यथा राजतितटीयमभिहत……' अत्र यमकमनुलोमप्रतिलोमयोः शब्दालङ्कारयोः परस्परापेक्षत्वेनाङ्गाङ्गिसंकर इति—एत्तातु न सम्यगावर्जनम्'

(अलङ्कारसर्वस्व पृ० १९९)।

वामनाचार्य कहते हैं कि मम्मट ने रुय्यक की यह आलोचना की है। किंतु इन अवतरणों पर ध्यान देने से स्पष्ट है कि मम्मट ने तो आलोचनात्मक कुछ भी न लिखकर केवल साधारणतया शब्दालङ्कारसंकर दिखाया है। प्रस्तुत रुय्यक ने मम्मट के उन्हीं शब्दों को उदाहरण सहित उद्धृत करके उसकी आलोचना की है। और रुय्यक के अत्यंत निकटवर्ती विमर्शनीटीकाकार ने स्पष्ट कहा है—'कैश्चिदिति काव्यप्रकाशकारादिभिः' (पृष्ठ १९९)।

अलङ्कारसर्वस्व में उपमानाधिक्य व्यतिरेक अलङ्कार के उदाहरण में—'क्षीणः

क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयो विवर्धते सत्यम्' यह पद्य लिखा है (पृष्ठ ८० काव्य-माला संस्करण) और मम्मट ने उपमानाधिक्य व्यतिरेक को स्वीकार न करते हुए इसी पद्य को उद्धृत करके खण्डन किया है (काव्यप्रकाश पृष्ठ ७८४) । इसी आधार पर वामनाचार्य ने इसे मम्मट द्वारा रुय्यक के मत का खण्डन बताया है। किंतु यह भी भ्रमात्मक कल्पना है । वास्तव में बात यह है कि मम्मट और रुय्यक दोनों के पूर्ववर्ती रुद्रट ने उपमानाधिक्य व्यतिरेक स्वीकार करके यही—क्षीणः क्षीणोऽपिशशी''' '' उदाहरण दिया है, अतएव मम्मट ने जो आलोचना की है, वह रुद्रट के विरुद्ध है, न कि रुय्यक के। रुय्यक ने तो मम्मट का अनुस-रण न करके रुद्रट का अनुसरण मात्र किया है।

यही नही, और भी अनेक स्थलों पर रुय्यक ने मम्मट की आलोचना की है। जैसे—'राजन्राजसुता न पाठयति मा''' ''' इस पद्य के आगे काव्यप्रकाश में अप्रस्तुतप्रशंसा के उदाहरण मे—

'अत्रप्रस्थानोद्यतं भवन्तं ज्ञात्वा सहसैव त्वदरयः पलाय्य गताः इति कारणे प्रस्तुते कार्यमुक्तम्' (काव्यप्रकाश पृ० ७५२)

यह वृत्ति है। रुय्यक ने इस पद्य को उद्धृत करके—

इत्यत्र पर्यायोक्तमेवबोध्यम् । अन्येतु दण्डयात्रोद्यतं त्वां बुध्वा त्वदरयः पलाय्य गताः इति कारणरूपस्यैवार्थस्य प्रस्तुत त्वं''''''वर्ण-यन्ति' (अलङ्कारसर्वस्व पृष्ठ १०७ काव्यमाला संस्करण)

मम्मट की प्रत्यक्ष आलोचना की है। यही क्यों, काव्यप्र० ४।३८ की—अलङ्कारोथ वस्त्वेव शब्दाद्यत्रावभासते, इस कारिका को रुय्यक ने (अलङ्कार-सर्वस्व श्लेष प्रकरण में) उद्धृत किया है जिसके विषय में विमर्शनीकार ने स्पष्ट लिखा है—"उक्तं इति काव्यप्रकाशकृता" (पृ० १०२) । इसीप्रकार समुद्रबंध ने भी लिखा है—"इत्यत्र काव्यप्रकाशवचनं सवादकत्वेनाह" (पृ० १०६) । अतएव निस्सन्देह रुय्यक ही मम्मट का परवर्ती है।

रुय्यक का परिचय और समय

राजानक उपाधि ही इसका काश्मीरी होना सिद्ध करती है। यह राजानक तिलक

का पुत्र था। तिलक ने उद्भट के काव्यालङ्कारसारसंग्रह पर उद्भटविवेक या उद्भटविचार लिखा है[1]। रुय्यक ने अलङ्कारसर्वस्व के अतिरिक्त महिम भट्ट के व्यक्तिविवेक पर व्यक्तिविवेकविचार[2], काव्यप्रकाश पर संकेतटीका[3], सहृदय-लीला, और अलङ्कारानुसारिणी[4] आदि और भी ग्रन्थ लिखे हैं।

रुय्यक ने विक्रमाङ्कदेवचरित का उल्लेख किया है, जो बूल्हर के अनुसार सन् १०८५ ई० में लिखा गया है। और—'आसमाप्तजिगीषस्य स्त्रीचिंता का मनस्विनः' इत्यादि राजतरङ्गिणी का (४।४४१) पद्य भी उद्धृत किया है (अलङ्कारसर्वस्व पृ० ६३ का० मा० संस्क०)। और काव्यप्रकाश की संकेत टीका में, जिसका समय ११५९-६० ई० है, माणिक्यचन्द्र ने रुय्यक का कई बार नामोल्लेख किया है[5]। अतएव अलङ्कारसर्वस्व के प्रणेता रुय्यक का समय ईसा की १२ वीं शताब्दी के प्रथम चरण के लगभग प्रतीत होता है।

मंखक का परिचय और समय

रुय्यक का शिष्य मंखक, विश्वावर्त का पुत्र तथा मन्मथ का पौत्र था। यह श्रीकण्ठचरित महाकाव्य का प्रणेता है। इसका समय ११४५ ई० है। यह ग्रन्थ मंखक की कवित्वशक्ति और विद्वत्ता का परिचायक है। यह काश्मीर के राजा जयसिंह का मंत्री था। जयसिंह का समय ११२८–११४९ ई० है। मंखक के श्रीकण्ठचरित के पद्य रुय्यक के अलङ्कारसर्वस्व में उद्धृत हैं, इसके द्वारा भी

---

१ देखो अलङ्कारसर्वस्व की विमर्शिनी टीका पृ० ११५,१२४,२०५।

२ देखो विमर्शिनी टीका पृ० १३ में—'इति व्यक्तिविवेकविचारे हि मयैवैतद्वितत्य निर्णीतम् इतिभावः'।

३ जयरथ ने लिखा है—'यत्तु काव्यप्रकाशसंकेते ग्रन्थकृता वस्तुध्वनि ......' अलङ्कारसर्वस्व पृ० १०२।

४ इसकी हस्तलिखित प्रति का उल्लेख पिशल ने शृङ्गारतिलक की भूमिका में किया है।

५ देखो काव्यप्रकाश की माणिक्यचन्द्र-प्रणीत संकेत टीका।

अलङ्कारसर्वस्व के प्रणेता रुय्यक का समय लगभग ११२५ ई० के प्रथम किसी प्रकार नहीं हो सकता है।

रुय्यक के टीकाकार जयरथ और समुद्रबन्ध का परिचय और समय

रुय्यक ने भोजराज का (पृ० १२१, १९५), काव्यप्रकाश का (पृ० ३-२६,५५,६३, १०२), राजतरङ्गिणी का (पृ० १९४), अभिनवगुप्तपादाचार्य का (पृ० ११३), कुन्तल का (पृ० १५०) तथैव कुछ अन्य ग्रन्थकारो का भी नामोल्लेख किया है। जयरथ ने तंत्रालोक की विवेक टीका में अपना परिचय देते हुए पिता का नाम शृङ्गाररथ और उसे राजराज या राजदेव का मंत्री बताया है। राजदेव का समय १२०३-१२२६ ई० है। जयरथ के प्रपितामह का भाई शिवरथ काश्मीर के राजा उच्छल का मंत्री था। शिवरथ का समय ११०१-११११ ई० है[1]। जयरथ ने पृथ्वीराजविजय काव्य का उल्लेख भी किया है (पृ०६४) पृथ्वीराज ११९३ ई० में बन्दी हुआ था अतएव जयरथ का समय १२२५ ई० के लगभग हो सकता है।

रुय्यक का दूसरा टीकाकार समुद्रबंध केरलदेशीय कोलंब के राजा रविवर्म के समकालीन है, जैसा कि उसने टीका के प्रारंभ के पद्यों में कहा है। रविवर्म का समय त्रिवेन्द्रम संस्करण के उपोत्घात में १२६५ ई० लिखा हुआ है।

भरतमुनि और अग्निपुराण के बाद शक्ति से वामन तक अलङ्कारों के क्रम-विकास का प्रारंभिक काल था—जब कि अलङ्कारों की संख्या लगभग ५० तक थी, जैसा कि इस ग्रन्थ के दूसरे भाग में अलङ्कार संप्रदाय के अन्तर्गत अलङ्कारविवरण-तालिका संख्या १ में दिखाया जायगा। उसके बाद रुद्रट, भोज, मम्मट और रुय्यक इन चारों तक उस क्रम-विकास का दूसरा काल है। रुय्यक के समय तक अलङ्कारो की संख्या बढ़कर द्विगुण अर्थात् लगभग एक सौ तीन तक पहुँच गई है। रुद्रट, भोज मम्मट और रुय्यक के समय तक

१—देखो राजतरङ्गिणी ८।१११।

निरूपित अलङ्कारों की विवरण-तालिका भी द्वितीय भाग में अलङ्कार संप्रदाय के अन्तर्गत दी जायगी।

वाग्भट (प्रथम) और उसका वाग्भटालङ्कार

वाग्भटालङ्कार काव्यमाला में सिंहगणि की टीका समेत मुद्रित हुआ है। उसमें ५ परिच्छेद हैं, जिनमें चार परिच्छेदों में काव्य-लक्षण, काव्य-हेतु, कवि-शिक्षा, कवि-समय, काव्योपयोगी संस्कृतादि चार भाषा, काव्य का गद्य-पद्य विभाग, पद, वाक्य, दोष, गुण, ४ शब्दालङ्कार, ३५ अर्थालङ्कार और वैदर्भी आदि रीतिया हैं और पाचवे मे नवरस नायक-नायिकादि भेद निरूपित हैं। उदाहरण ग्रन्थकर्त्ता के स्वयं प्रणीत हैं।

वाग्भट जैन विद्वान् था। इसका प्राकृत भाषा में 'वाहट' नाम था। यह सोम का पुत्र था[1]। टीकाकार सिंहगणि ने इसको कवीन्द्र और महाकवि एवं राजमंत्री बताया है[2],। इसका समय विक्रमीयाब्द ११७८ (११२१–२२ ई०) निश्चित है[3]। और उसने यह भी लिखा है–

'श्रीमद्वाग्भटदेवोऽपि जीर्णोद्धारमकारयत्।
शिखीन्दुरपि वर्षे च ध्वजारोपं व्यधापयत्' ॥

इसके द्वारा विक्रमाब्द १२१३ (११५६ ई०) तक इसका विद्यमान रहना भी ज्ञात होता है। वाग्भट ने इस ग्रन्थ के उदाहरणों में कर्णपुत्र जयसिंह राजा का वर्णन किया है, जिसका समय १०६३-११४३, ई० है[4]। काव्यमाला में मुद्रित ग्रन्थ

---

१ देखिये मुद्रित ग्रन्थ का सम्पादकीय लेख।

२ देखिये ४।१४८ के पद्य के आदि में टीकाकार की उत्थानिका।

३ प्रभाचन्द्र मुनीन्द्र ने प्रभाकर चरित्र में लिखा है—'शतैकादशके साष्टासप्ततौ विक्रमार्कतः। इत्यादि।

४ देखिये इंडियन एंटिक्वायरी जिल्द ४।

के संपादकीय लेख में इस ग्रन्थ पर पांच टीकाओं के उपलब्ध होने का उल्लेख है। काव्यानुशासन ग्रन्थ का प्रणेता वाग्भट दूसरा है, जिसका उल्लेख आगे किया जायगा। एक और वैद्यक ग्रन्थ है जो 'वाग्भट' के नाम से प्रसिद्ध है किंतु उसका प्रणेता वाग्भट अन्यतम है जिसके पिता का नाम सिंहगुप्त था।

—*—

हेमचन्द्र जैनाचार्य और उसका काव्यानुशासन

काव्यानुशासन सूत्रबद्ध ग्रन्थ है। उस पर हेमचन्द्र ने स्वयं अलङ्कारचूडामणि नामक वृत्ति और विवेक नामक टीका लिखी है। काव्यानुशासन में ८ अध्याय हैं जिनमें शब्द, अर्थ के लक्षक, लक्ष्य आदि भेद, रस-दोष, तीन गुण, छः शब्दालङ्कार और २६ अर्थालङ्कार एवं नायिकाभेद आदि विषय निरूपित किये गये हैं। यह ग्रन्थ प्रायः संग्रहात्मक है। इसमें ध्वन्यालोक[1] और उसकी लोचन टीका, अभिनव भारती,[2] काव्यमीमांसा[3], वक्रोक्तिजीवित तथा काव्यप्रकाश[4] से पर्याप्त सहायता ली गई है यहाँ तक कि इन ग्रन्थों के प्रायः बड़े लंबे-लंबे अवतरण मूल ग्रन्थ एवं विवेकटीका में अक्षरशः ले लिये गये हैं, किन्तु जिन ग्रन्थों के अवतरण लिये गये हैं उनमें किसी ग्रन्थ का भी नामोल्लेख नहीं किया गया है। हाँ, अभिनवगुप्ताचार्य के विषय में—

---

१ देखिये, ध्वन्यालोक निर्णयसागर सन् १८९१ संस्करण पृ० ८९-९४ और काव्यानुशासन निर्णयसागर प्रेस सन् १९०१ संस्करण पृ० १८-२२ आदि।

२ काव्यानुशासन पृष्ठ ५७ से ६६ तक तथा ८१-८२ में अभिनवभारती का अक्षरशः अनुवाद दृष्टिगत होता है।

३ देखिये काव्यमीमांसा पृ० ५६, ४२, ४४ और काव्यानुशासन पृ० ८, १० ११, १६ और १२२-१२३।

४ काव्यप्रकाश का तो बहुत ही अधिक अंश स्थल-स्थल पर लिया गया है यदि दो चार स्थलों पर ही होता तो पृष्ठ लिखे जाते।

'साधरणी भावना च विभावादिभिरिति श्रीमानभिनव-
गुप्ताचार्यः। एतन्मतमेवास्माभिरुपजीवितं वेदितव्यम्'

—काव्यानुशासन पृ० ६६

इन वाक्यो द्वारा विवेक में कृतज्ञता अवश्य प्रदर्शित की गई है। काव्यानुशासन द्वारा हेमचन्द्र की संग्रह योग्यता का अच्छा परिचय मिलता है, किन्तु मौलिकता का नहीं। इस ग्रन्थ में महाराजा भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण की भाँति उदाहरणो के संग्रह का बाहुल्य है—लगभग १४०० पद्यों के उदाहरणों द्वारा विषय की स्पष्टता की गई है। अतएव इसमें सन्देह नहीं कि काव्यानुशासन कवि और काव्य-प्रेमी जनों के लिए अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है।

हेमचन्द्र का परिचय और समय

हेमचन्द्र श्वेतांबर जैनाचार्य था। यह प्रतिभाशाली विद्वान् था। जैन लेखकों में इसका स्थान सर्वप्रधान है। हेमचन्द्राचार्य ने विभिन्न विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे है। मुद्रित काव्यानुशासन के प्राक्कथन में इसको अनेक लक्ष पद्यात्मक ग्रन्थो का निर्माता बताया गया है।

हेमचन्द्र की जीवनी जेकोवी और व्हूलर ने लिखी है[1]। उसके द्वारा ज्ञात होता है कि हेमचन्द्र का जन्म धुंधुक (अहमदाबाद) में सन् १०८८ मे हुआ था, इसका नाम चांगदेव था। जब यह १०६८ ई० में जैन साधु हुआ, तब इसका नाम सोमदेव रक्खा गया और उसके बाद विक्रमीयाब्द ११६६ (११११ ई०) में इसका नाम हेमचन्द्र हुआ। यह वज्रशाखा के देवचन्द्र का शिष्य था। हेमचन्द्र विरचित शलाकापुरुषचरित प्रशस्ति द्वारा ज्ञात होता है[2] कि हेमचन्द्राचार्य चौलुक्य कुमारपाल राजा के बड़े श्रद्धेय थे। इसी राजा के राज्य-काल में इनका परलोक गमन हुआ था। कुमारपाल का राज्य-काल विक्रमाब्द ११६६ से १२३० (११४२ से ११७३ ई०) तक है[3]।

---

१ देखो इनसाइक्लोपेडिया आव् रिलीजन ऐंड एथिक्स ६।५९१

२ देखो निर्णयसागर संस्करण काव्यानुशासन भूमिका पृ० २,३।

३ देखो निर्णयसागर काव्यानुशासन भूमिका पृ० ३ और पृ० ५।

पीयूषवर्ष जयदेव और उसका चन्द्रालोक

चन्द्रलोक में १० मयूख हैं। प्रथम मयूख में काव्य-हेतु, काव्य-लक्षण शब्द के रूढ़ि आदि भेद, दूसरे में दोष, तीसरे में कविशिक्षा विषय, चौथे में १० गुण पाँचवें में अलङ्कार, छठे मे रस, भाव, रीति और वृत्ति, सातवें में व्यंजना और ध्वनिभेद, आठवे में गुणीभूतव्यंग्य, नवें में लक्षणा और दशवें में अभिधा का निरूपण है।

जयदेव के चन्द्रालोक की रचना शैली इसके पूर्ववर्ती आचार्यां से विलक्षण है। प्रायः एक ही अनुष्टुप् पद्य के पूर्वार्द्ध में निरूपणीय विषय का लक्षण और उत्तरार्द्ध मे उसका उदाहरण दिखाया गया है। चन्द्रालोक में ८ शब्दालङ्कार और उपभेदों की गणना न की जाय तो लगभग ८१ अर्थालङ्कार निरूपित हैं जिनमें उभयन्यास, अभाव, अवसर, अहेतु, पूर्व, भाव, मत, वितर्क, साम्य और संभव ये १० अलङ्कार अपने पूर्ववर्ती रुद्रट तथा भोज द्वारा निरूपित नही दिखाये हैं और दो शब्दालङ्कार और १४ अर्थालङ्कार[1] अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से अधिक निरूपित किये गये हैं। इनमें कुछ अलङ्कार ऐसे हैं जिनके लक्षण या उदाहरण जयदेव के पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित अलङ्कारों के भेदों में गतार्थ हो जाते हैं। संभव है जयदेव ने कुछ अलङ्कार अपने किसी पूर्ववर्ती अज्ञात आचार्य के किसी अनुपलब्ध ग्रन्थ से लिये हों क्योकि इसने स्वयं ऐसा उल्लेख नही किया है कि ये अलङ्कार मेरे द्वारा नवाविष्कृत हैं।

चन्द्रालोक के अलङ्कार-विषयक पञ्चम मयूख को, अप्पय्य दीक्षित ने परिवर्धित करके 'कुवलयानन्द' नामक ग्रन्थ लिखा है। उसमें चन्द्रालोक की कारिकाओं की शैली पर कुछ कारिकाओं की नवीन रचना करके उनको भी चन्द्रा-

१ इन अलंकारों के नाम द्वितीय भाग के अन्तर्गत अलङ्कार सम्प्रदाय में लिखे जायँगे।

लोक के नाम से ही सम्मिलित कर दिया है। इस विषय में गुजराती प्रिंटिंग (बम्बई) से मुद्रित चन्द्रालोक संम्पादकीय निवेदन में भी—

"दक्षिणदिग्वास्तव्यद्रविडपुङ्गवश्रीमदप्पय्यदीक्षितानामिममालंव्य कुवलयानन्दप्रणयनप्रवृत्योन्नेतुंयुक्तम्। नहि संभवति तादृशोविपश्चित् ·········परग्रन्थमालम्व्याधिकसौष्ठवार्थं च प्रायः सर्वत्र कचित्पदं क्वचित्पादद्वयमपि विपरिणमय्य ग्रन्थमारचयेत्।"

इन वाक्यो द्वारा स्पष्ट कहा गया है।

जयदेव का परिचय और समय

'पीयूषवर्ष' जयदेव की उपाधि थी। चंद्रालोक में स्वयं जयदेव ने कहा है—"चन्द्रालोकममुं स्वयं वितुनते पीयूखवर्षः कृती" (१।१२) और जयदेव का भी नामोल्लेख किया है—"अनेनासावाद्यः सुकविजयदेवेन रचिते" (चन्द्रा० १।१६)। प्रसन्नराघव नाटक का प्रणेता भी यही जयदेव है, किन्तु गीतगोविन्द के प्रणेता जयदेव से यह भिन्न है। इसने अपने को महादेव और सुमित्रा का पुत्र बतलाया है (चंद्रा० १।१६) और गीतगोविन्द के निर्माता जयदेव भोजदेव और रामदेवी के पुत्र थे।

जयदेव का समय अनिश्चित है। इसने चंद्रालोक में अपने पूर्ववर्ती किसी ग्रन्थकार का नामोल्लेख नहीं किया है। किन्तु चंद्रालोक के—

'अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती'॥

—चंद्रालोक १।८

इस पद्य में काव्यप्रकाश के 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' इस काव्य-लक्षण के 'अनलंकृती' शब्द पर स्पष्ट आक्षेप है। जयदेव का समय मम्मट के बाद है और रुय्यक के भी, क्योकि रुय्यक के नवाविष्कृत विचित्र और विकल्प इन दोनों अलङ्कारो के लक्षण इसने रुय्यक के अनुसार दिये हैं। अतएव जयदेव की पूर्व सीमा सन् ११५० ई० के बाद निश्चित हो जाती है। जयदेव के प्रसन्नराघव नाटक का—

'कदलीकदली करभः करभः करिराजकरः करिराजकरः'।

प्रसन्नरा० १३७

यह पद्य केशव मिश्र ने[1] और विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में[2], उद्धृत किया है। शारङ्गधरपद्धति में भी प्रसन्नराघव के पद्य संगृहीत है। शारङ्गधरपद्धति का समय १३६३ ई० है। सिंहभूपाल प्रणीत रसार्णवसुधाकर (पृ० २५८,२७७) में भी प्रसन्नराघव का नामोल्लेख है। सिंहभूपाल का समय १३३० ई० निश्चित है। इन आधारों पर जयदेव का समय ईसा की १२ वीं और १३ वीं शताब्दी के मध्य में हो सकता है।

चंद्रालोक पर प्रद्योत भट्ट ने शरदागम टीका लिखी है, जो बुंदेल राजकुमार वीरभद्र के आश्रित था। इसी प्रद्योत ने वात्स्यायन कामसूत्र पर भी १५७७ ई० में टीका लिखी है। दूसरी टीका 'रमा' है, जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है। 'रमा' के लेखक ने 'शरदागम' टीका के सिवा चंद्रालोक की अन्य टीकाओं का भी नाम-रहित उल्लेख कई स्थलों पर किया है। तीसरी टीका 'राका' या सुधा नाम की गाङ्गभट्ट विश्वेश्वर कृत १७ वीं शताब्दी की है। कुवलयानन्द युक्त चंद्रालोक के पञ्चम मयूख पर अलङ्कार चंद्रिका नाम की टीका वैद्यनाथ सूरि कृत है।

—:o:—

भानुदत्त और उसकी रसतरङ्गिणी

तथा

रसमञ्जरी

भानुदत्त के रसतरङ्गिणी और रसमञ्जरी ग्रन्थ साहित्य में सुप्रसिद्ध हैं।

---

१ देखो केशव मिश्र का अलङ्कारशेखर मरीचि १२ पृ० ४७।

२ देखो साहित्यदर्पण चतुर्थ परिच्छेद अर्थान्तरसङ्क्रमित वाच्यध्वनि का उदाहरण।

इसने ये दोनों ग्रन्थ रस विषय पर लिखे हैं। रसतरङ्गिणी में भाव, विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव, व्यभिचारी एवं स्थायी भाव और शृङ्गारादि रसों का निरूपण है। रसमञ्जरी में प्रधानतया नायिकाभेद का ही वर्णन है। ये दोनों ग्रन्थ शृङ्गार रस प्रधान हैं। इन दोनो ही ग्रन्थो मे उदाहरण ग्रन्थकार ने स्वयं प्रणीत दिये हैं। भानुदत्त ने रसमञ्जरी के अन्तिम पद्य में स्वयं लिखा है कि वह गणेश्वर का पुत्र विदेह देशीय था। इसने और भी कुछ ग्रन्थ लिखे हैं। एक अलङ्कारतिलक ग्रन्थ पाँच परिच्छेदो मे भानुदत्त प्रणीत है। वह भी संभवतः इसी भानुदत्त का है। अलङ्कारतिलक में दो अलङ्कार अनध्यवसाय और भङ्गि नवीन हैं। इन दोनो अलङ्कारो का इसके पूर्ववर्ती ग्रन्थों में निरूपण नहीं किया गया है। वस्तुतः 'अनध्यवसायतो' संदेह अलङ्कार मे गतार्थ है और 'भङ्गि' के उदाहरण प्रायः समासोक्ति में गतार्थ है। इसके अतिरिक्त इसने एक ग्रन्थ गीतगौरीश भी गीतगोविन्द के आदर्श पर लिखा है।

इसने—अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्'। यह पद्य ध्वन्यालोक (पृ० १४५) से अथवा महिम के व्यक्तिविवेक (पृ० ३१) से लिया है। और धनञ्जय के दशरूप तथा रुद्र के शृङ्गारतिलक का भी (पृ० ६८) नामोल्लेख किया है। अतएव यह गीतगोविद प्रणेता जयदेव (ईसा की १२ वीं शताब्दी) के बाद का निश्चित होता है। रसमञ्जरी पर गोपदेव ने विकास नामक टीका १४२७ ई० में लिखी है और शारङ्गधरपद्धति (लगभग १३६३ ई०) में भी भानु पण्डित के नाम से कुछ पद्य लिखे गये हैं। अतएव भानुदत्त का समय सभवतः ईसा की १३ वीं और १४ वीं शताब्दी का मध्यकाल है।

विद्याधर और उसकी एकावली

एकावली मल्लिनाथ की तरल नामक टीका के साथ बांबे संस्कृत सीरीज मे मुद्रित हुई है। इसमें कारिका, वृत्ति और उदाहरण तीनो अंश ग्रन्थकार के स्वयं प्रणीत हैं। और उदाहरण, उत्कल—उड़ीसा—के राजा

नरसिंह की प्रशंसा के है। इसमें आठ उन्मेष हैं। प्रथम उन्मेष में काव्य-हेतु, काव्य-लक्षण, और भामह आदि के मत पर विवेचन है। दूसरे में शब्द, अर्थ एवं अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना, तीसरे में ध्वनि-भेद, चौथे में गुणीभूतव्यङ्ग्य, पांचवें में तीन गुण और रीति, छठे में दोष, सातवें में शब्दालङ्कार और आठवें मे अर्थालङ्कार निरूपित हैं। यह ग्रन्थ प्रायः ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश और अलङ्कारसर्वस्व पर अवलम्बित हैं। इसने नाट्य विषय पर केलिरहस्य ग्रन्थ भी लिखा है।

विद्याधर का समय

विद्याधर ने वामन, भोज, अभिनव, मम्मट रुय्यक आदि का और अन्तिम लेखक नैषधीयचरित के प्रणेता श्रीहर्ष का भी नामोल्लेख किया है। रुय्यक द्वारा नवाविष्कृत परिणाम, विकल्प और विचित्र अलङ्कार भी इसने लिखे हैं। रुय्यक का समय १२ वीं शताब्दी है, और नैषधकार का भी यही समय है। अतः विद्याधर की पूर्व सीमा १२ वीं शताब्दी के अंत में अथवा १३ वीं के प्रथम चरण के पूर्व नहीं हो सकती। सिंहभूपाल ने रसार्णव में—जिसका समय १३३० ई० है—एकावली का उल्लेख किया है। जिस कलिंग के राजा नृसिंहदेव या नरसिंह का विद्याधर ने वर्णन किया है, वह द्वितीय कलिंग कहा जाता है, जिसका समय १२८०–१३३४ ई० है। अतः विद्याधर का समय संभवतः लगभग १२७५–१३२५ ई० है।

एकावली का टीकाकार कोलाचल मल्लिनाथ वही है, जो कालिदास, भारवि, और माघ आदि के सुप्रसिद्ध काव्यो का टीकाकार है। इसने अपनी अन्य टीकाओं मे एकावली के उद्धरण भी दिये हैं। मल्लिनाथ का समय भण्डारकर और श्री त्रिवेदी ने १४ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में निश्चित किया है।

—:*:—

विद्यानाथ और उसका प्रतापरुद्रयशोभूषण

यह ग्रन्थ आन्ध्र प्रान्त के काकतीय राजा प्रतापरुद्रदेव के आश्रित विद्यानाथ

ने लिखा है। यह ग्रन्थ दक्षिण प्रांत में अधिक प्रसिद्ध है। प्रतापरुद्र को वीरभद्र अथवा रुद्र भी कहा गया है। इसकी राजधानी एकशिला थी, जिसे अब वारंगल अथवा औरंगल कहते हैं। यह ग्रन्थ बाबे संस्कृत सीरीज में कुमारस्वामी की रत्नापण टीका के साथ मुद्रित हुआ है। इसमें ९ प्रकरण हैं—नायक, काव्य, नाटक, रस, दोष, गुण, शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और मिश्रालङ्कार। इसमें भी प्राचीन परम्परानुसार कारिका, वृत्ति और उदाहरण हैं। उदाहरणों में प्रतापरुद्र का यशोगान है और उसी के अनुसार इसका नामकरण है। विद्यानाथ ने लिखा है—

'प्रतापरुद्रदेवस्य गुणानाश्रित्य निर्मितः।
अलङ्कारप्रबन्धोऽयं सन्तः कर्णोत्सवेस्तुनः' ॥

प्रताप० १।९

विद्यानाथ ने अलङ्कार प्रकरण में यद्यपि रुय्यक का अनुसरण किया है, उसके विकल्प और विचित्र अलङ्कार भी लिखे हैं, तथापि अधिकतया काव्यप्रकाश का ही अनुसरण है। नाटक प्रकरण में 'प्रतापरुद्रकल्याण' नामक एक छोटासा नाटक भी उदाहरण रूप में दिया गया है।

विद्यानाथ का समय

प्रतापरुद्र, राजा महादेव और रुद्राम्बा की पुत्री मुम्मरी का पुत्र था (पृष्ठ, १२,१३,१६ आदि)। यह एकशिला—वारंगल का सातवा काकतीय राजा था। इसका समय पिशल ने १२९५-१३२३ ई० बताया है और शेषगिरि शास्त्री ने १२६८-१३१९ ई०। यही प्रतापरुद्र विद्यानाथ का आश्रयदाता था। विद्यानाथ और एकावली का प्रणेता विद्याधर समकालीन थे। अतः विद्यानाथ का समय भी १२७५-१३२५ ई० माना जा सकता है।

इसके टीकाकार कुमारस्वामिन् ने स्वयं अपने पिता का नाम कोलाचल मल्लिनाथ लिखा है, वही मल्लिनाथ जो रघुवंशादि महाकाव्य और एकावली का टीकाकार है। कुमारस्वामिन् ने अन्य प्राचीन साहित्याचार्यों के अतिरिक्त, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, एकावली, रसार्णवसुधाकर, भट्ट गोपाल और नरहरि सूरि का नामो-

ल्लेख भी किया है। और इसने शारदातनय-प्रणीत भावप्रकाश नामक ग्रन्थ का भी नामोल्लेख किया है, जो भोज राजा के शृङ्गारप्रकाश का सार रूप है।

—:※:—

वाग्भट्ट (द्वितीय) का काव्यानुशासन

यह ग्रन्थ वाग्भट्ट की स्वयं-प्रणीत अलङ्कारतिलक टीका सहित काव्यमाला में मुद्रित है। यह सूत्रबद्ध ग्रन्थ है। टीका में उदाहरण भी दिये गये हैं। इसमें ५ अध्याय हैं, जिनमें काव्य-प्रयोजन, कवि-समय, काव्य-लक्षण, दोष, गुण, रीति, ६४ अर्थालङ्कार, ६ शब्दालङ्कार, नव रस और उनके विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव एवं नायक-नायिकादि-भेद निरूपित हैं। इसने एक 'आशी' अलङ्कार भट्टि, भामह और दण्डी द्वारा निरूपित और चार अलङ्कार-भाव, मत, उभयन्यास और पूर्व रुद्रट द्वारा निरूपित ये पाँच अलङ्कार ऐसे लिखे हैं जिनको इनके आविष्कारकों के सिवा इसके पूर्ववर्ती मम्मट आदि किसी ने निरूपित नहीं किये थे। और २ अलङ्कार 'अन्य' तथा 'अपर' नवीन भी लिखे हैं किन्तु ये दोनों ही महत्वसूचक नहीं। जिसे इसने 'अन्य' कहा है वह प्राचीनों की तुल्ययोगिता के अन्तर्गत है। इस ग्रन्थ में काव्यप्रकाश और काव्यमीमांसा से पर्याप्त सहायता ली गई है।

वाग्भट्ट ने काव्यानुशासन के प्रारम्भ में अपना परिचय स्वयं लिखा है। यह नेमिकुमार और महादेवी का पुत्र था। इसने वाग्भटालङ्कार के प्रणेता वाग्भट (प्रथम) का भी नामोल्लेख किया है—'इतिवामनवाग्भटादिप्रणीतादश-काव्यगुणाः' (पृ० ३१)। अतः यह वाग्भट द्वितीय है और प्रथम वाग्भट का परवर्ती है। इसके काव्यानुशासन की जिस हस्तलिखित प्रति का नामोल्लेख इण्डिया कैटलोग नंबर ११५७ पर है, उस प्रति पर विक्रमीयाब्द १५१५ (१४५८-५९ ई०) अतः इसका समय सम्भवतः १४ वीं शताब्दी है।

———

विश्वनाथ और उसका साहित्यदर्पण

मम्मटाचार्य और रुय्यक के पश्चात् अलङ्कार शास्त्र का उल्लेखनीय लेखक विश्वनाथ ही है। इसका साहित्यदर्पण अधिक प्रसिद्ध और प्रचलित है। इसके बहुत से संस्करण कलकत्ता, बम्बई और बनारस से निकल चुके हैं। इसमे भी कारिका, वृत्ति और उदाहरण तीन अंश हैं और १० परिच्छेद। प्रथम परिच्छेद में काव्य-प्रयोजन और काव्यप्रकाश एवं ध्वनिकारादि के काव्य-लक्षणों पर आलोचना के बाद विश्वनाथ ने—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' यह काव्य-लक्षण लिखा है। दूसरे मे वाक्य का लक्षण और अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना, तीसरे में रस, भाव और नायक नायिकादि भेद, चौथे में ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य के भेद; पाँचवे में व्यञ्जना की स्थापना, छठे में दृश्यकाव्य—नाटकादि का विस्तृत विवेचन सातवें में दोष-निरूपण, आठवें में तीन गुण, नवे में वैदर्भी आदि रीति और दशवें में १२ शब्दालङ्कार, ७० अर्थालङ्कार एवं ७ रसवदादि अलङ्कार, इस प्रकार ८९ अलङ्कारो का निरूपण है।

साहित्यदर्पण मे यह विशेषता है कि इस एक ही ग्रन्थ में काव्य के दृश्य और श्रव्य दोनो भेदो का विस्तृत निरूपण है। विश्वनाथ एक उल्लेखनीय महाकवि एव विद्वान् था। इसने और भी बहुत से ग्रन्थ निर्माण किये हैं, जिनका साहित्यदर्पण मे नामोल्लेख है। यद्यपि इसका विषय-विवेचन धाराप्रवाह एव सरल होने के कारण प्रशंसनीय अवश्य है, किन्तु साहित्य के सुप्रसिद्ध और सम्मान्य आचार्य ध्वनिकार एवं आचार्य मम्मट के समान इसे उच्च स्थान नही दिया जा सकता क्योकि ध्वनिकार और मम्मट के ग्रन्थों में मौलिकता का साम्राज्य है, जबकि साहित्य-दर्पण अधिकाश मे संग्रह ग्रन्थो की श्रेणी में कहा जा सकता है। इसमें दृश्य-काव्य का विषय नाट्यशास्त्र और धनञ्जय के दशरूपक पर अवलम्बित है। इसी प्रकार रस, ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य का विषय अधिकाश मे ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश से लिया गया है तथा अलङ्कार प्रकरण विशेषतया काव्यप्रकाश और रुय्यक के अलङ्कार सर्वस्व से। रुय्यक का तो इसने पद पद पर दासवत्

अनुसरण किया है—अलङ्कारों की संख्या एवं उनका पूर्वापर क्रम भी प्रायः रुय्यक के अनुसार है। उदाहरणों के संकलन में भी प्राचीन ग्रन्थों का पर्याप्त उपयोग है। शब्दालङ्कारों में विश्वनाथ ने श्रुत्यनुप्रास, अन्त्यानुप्रास और भाषासम ये ३ नवीन लिखे हैं, पर ये अलङ्कार महत्व-सूचक नहीं है। इसी-प्रकार अर्थालङ्कारों में निश्चय और अनुकूल ये दो नवीन लिखे हैं किन्तु ये भी वस्तुतः नवीन नहीं—नवीनता का आभास मात्र है, क्योंकि दण्डी ने जिसे तत्वाख्यानोपमा और जयदेव ने भ्रान्तापह्नुति कहा है, उसे इसने निश्चय के नाम से लिखा है, और अनुकूल में भी प्राचीनो के विषम के दूसरे भेद से अधिकांश में विशेषता नहीं है।

विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के प्रारम्भ में ही काव्यप्रकाश की 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' इस काव्य-लक्षण के प्रत्येक शब्द में दोषारोपण करके और ध्वनिकार की—

'अर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ'॥

—ध्वन्या० १।२

इस कारिका में इसके प्रथम की—'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति' इत्यादि कारिका के साथ विरोध बतलाकर मम्मट और ध्वनिकार जैसे सुप्रसिद्ध और सम्मान्य आचार्यों को सर्वथा अज्ञ बनाने की पूर्ण चेष्टा की है। किन्तु काव्य-मर्मज्ञों की दृष्टि मे इस आलोचना का कुछ भी मूल्य नहीं है। उपर्युक्त ध्वनि-कारिकाओं का रहस्य अभिनव-गुप्तपादाचार्य ने लोचन टीका में स्पष्ट समझा दिया है। उससे अभिज्ञ होकर भी विश्वनाथ का सभी आलङ्कारिक आचार्यों के शिरोधार्य ध्वनि-कार पर आलोचना करना केवल अपनी विद्वत्ता का ढोंग मात्र है[1]। यदि इन कारिकाओं में पूर्वापर विरोध का आभास मात्र भी होता तो ध्वनिकार

---

१ इस विषय पर द्वितीय भाग में 'काव्यपरिभाषा' शीर्षक मे प्रसङ्गानुसार विस्तृत विवेचन किया जायगा।

का प्रबल प्रतिपक्षी व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट इस दोष का उद्घाटन करने में क्यो चूक सकता था ! किन्तु विपक्षी होने पर भी उसने ध्वनिकारो के विषय में सन्मान प्रदर्शित किया है—'महता संस्तवएव गौरवाय' इत्यादि । फिर मम्मटाचार्य और ध्वनिकार क्या ऐसे मूर्ख थे, जो ग्रन्थारम्भ में ही ऐसी दूषित कारिकाएँ लिख डालते । आश्चर्य तो यह है कि विश्वनाथ स्वयं इन दोनो का अत्यन्त ऋणी होना—'इत्यलमुपजीव्याना मान्याना व्याख्यातेषु कटाक्ष-निक्षेपणेन' इन वाक्यो से स्वीकार करता है । अस्तु ।

विश्वनाथ का परिचय और समय

विश्वनाथ महाकवि चन्द्रशेखर का पुत्र था । इसने स्वयं लिखा है—'श्री चंद्रशेखरमहाकविचन्द्रसूनु श्रीविश्वनाथकविराजकृतं प्रबन्धम्' । (साहित्यदर्पण १०।१००), और यह श्रीनारायण का प्रपौत्र था—तत्प्राणत्वं चास्मद्वृद्धप्रपितामह······'श्रीनारायणपादैरुक्तम्' (साहित्यदर्पण ३।२,३), किन्तु काव्यप्रकाश की भूमिका में श्री वामनाचार्य ने इसकी काव्यप्रकाशदर्पण टीका के दिए हुए—

'यदाहुः श्रीकलिङ्गभूमण्डलाखण्डलमहाराजाधिराज श्रीनरसिंहदेवसभायां धर्मदत्तं स्थगतयन्तः सकलसहृदयगोष्ठीगरिष्ठकविपण्डितास्मद्पितामहश्रीनारायणदासपादाः' ।

इस उद्धरण मे श्री नारायणदास को विश्वनाथ अपना पितामह बताता है । और इसके द्वारा यह भी ज्ञात होता है कि राजा नरसिंह की सभा में श्री नारायण का बड़ा सन्मान था। विश्वनाथ ने अपने को और अपने पिता को सन्धिविग्रहक (राजमंत्री) बताया है अतएव ये पिता पुत्र दोनों कलिंग राजाओं के मंत्री रहे हैं । विश्वनाथ संभवतः उत्कल (उड़ीसा) का निवासी था—काव्यप्रकाशदर्पण में इसने 'चिंकु' शब्द का पर्याय उत्कल भाषा में बताया है ।

विश्वनाथ ने अपने किसी ग्रन्थ में समय का उल्लेख नहीं किया है । अतः इसके ग्रन्थो में अन्य ग्रन्थो के उद्धृत वाक्य ही इसकी पूर्व सीमा के लिये आधार हैं । विश्वनाथ ने—

(१) रुय्यक द्वारा नवाविष्कृत विचित्र और विकल्प के लक्षण लिखे हैं

जो रुय्यक के सूत्रों के रूपान्तर हैं। और—'नमयन्तु शिरांसि धनूंषि' इत्यादि विकल्प का उदाहरण भी रुय्यक का ही लिया है। रुय्यक के अन्य अवतरण भी साहित्यदर्पण में अक्षरशः हैं[1]। और—'रंजितानु विविधास्तरुशैला......' पद्य को अलङ्कारसर्वस्व (पृ० ४४) में सन्देहालङ्कार के उदाहरण में दिया है। किन्तु विश्वनाथ इसको उत्प्रेक्षा का उदाहरण बतलाकर रुय्यक की आलोचना भी करता है। इसी प्रकार—'दासेकृतागसि भवत्युचितः प्रभूणां...' पद्य अलङ्कारसर्वस्व में परिणाम के उदाहरण में दिया गया है, इसपर भी विश्वनाथ ने—'दासेकृतागसि इत्यादौ रूपकमेव नतु परिणामः' इस प्रकार आलोचना की है।

(२) श्रीहर्ष के नैषधचरित के—'धन्यासि वैदर्भिगुणैरुदारैः......' (नैष० ३।११६) पद्य को अप्रस्तुत प्रशंसा के उदाहरण में और—'हनूमदाद्यैर्यशसा मयापुनर......' (नैष० ६।१२३) पद्य को व्यतिरेक के उदाहरण में साहित्य-दर्पण में लिखा गया है।

(३) चन्द्रालोक प्रणेता जयदेव के प्रसन्नराघव का—कदली कदली करभः करभः' इत्यादि पद्य साहित्यदर्पण में अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि के उदाहरण में उद्धृत है।

साहित्यदर्पण (४।१४) के—'अल्लावदीन नृपतौ न सन्धिर्नच विग्रहः।, इस पद्य में अल्लाउदीन का भी उल्लेख है। अल्लाउदीन खिलजी की मृत्यु १३१६ ई० में हुई थी। इसके द्वारा स्पष्ट है कि रुय्यक (११५० ई०), नैषधकार श्रीहर्ष (१२ वीं शताब्दी), जयदेव (लगभग १२ वीं या १३ वीं शताब्दी) और अल्लाउदीन (१३१६ ई०) का विश्वनाथ परवर्ती है।

और विश्वनाथ की उत्तर सीमा के लिये यह आधार है—

(१) गोविन्द ठक्कुर ने 'प्रदीप' में विश्वनाथ द्वारा की गई काव्यप्रकाश की काव्य-परिभाषा की प्रत्यालोचना की है। प्रदीप का समय सन् १६०० ई० है।

---

१. देखो साहित्यदर्पण और अलङ्कारसर्वस्व में पुनरुक्तवदाभास और उल्लेख प्रकरण और उपमेयोपमा तथा भ्रान्तिमान् की परिभाषा।

(२) कुमारस्वामिन् ने रत्नापंण (पृ० २४५,२४८) में साहित्यदर्पण का नामोल्लेख किया है। कुमारस्वामिन् का समय १५वीं शताब्दी है। अतः विश्वनाथ १५वीं शताब्दी से प्राचीन सिद्ध होता है। इसके सिवा स्टीन के जम्बू की हस्तलिखित पुस्तकों के कैटलौग में साहित्यदर्पण की एक हस्तलिखित प्रति का उल्लेख है, जिसपर विक्रमाब्द १४४० (१३८४ ई०) है। उत्कल के ग्रन्थकार के ग्रन्थ की जम्बू में प्रसिद्धि होने में तथा प्रतिलिपि की जाने मे अवश्य ही कम से कम अर्द्ध शताब्दी का समय अपेक्षित है। अतएव विश्वनाथ का समय संभवतः १४ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। क्योंकि इसने १३ वीं शताब्दी के लेखक जयदेव का पद्य लिया है और १३८४ ई० की साहित्यदर्पण की हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है।

साहित्यदर्पण पर श्रीरामचरण तर्कवागीश की टीका सन् १७०० ई० में लिखी हुई मुद्रित है। और भी तीन टीकाएँ हस्तलिखित प्रतियो मे मिलती हैं—(१) अनन्तदास की (१६२५ ई०), (२) मथुरानाथ शुक्ल की और (३) गोपी नाथ की प्रभा। इनके सिवा एक टीका प० शिवदत्त कविरत्न की श्रीवेंकटेश्वर प्रेस मे अभी मुद्रित हुई है। विद्यावाचस्पति श्री शालिग्राम शास्त्री जी की नवलकिशोर प्रेस लखनऊ में मुद्रित हिंदी टीका भी उल्लेखनीय है।



श्री रूपगोस्वामी जी का उज्ज्वलनीलमणि

उज्ज्वलनीलमणि रस विषयक ग्रन्थ है। इसमें शृङ्गाररस का अत्यन्त विशद वर्णन है। इसमें एक उल्लेखनीय विशेषता है कि उदाहरणों में भगवान् श्री राधाकृष्ण की लीलाओं का ही समावेश किया गया है। श्री रूपगोस्वामीजी ने एक नाटक चन्द्रिका नाट्य-विषयक ग्रन्थ भी नाट्यशास्त्र और रसार्णवसुधाकर के मतानुसार लिखा है, जिसमें ८ प्रकरण हैं। इन्होंने साहित्यदर्पण में निरूपित विषय भरत-नाट्यशास्त्र के मतानुकूल न होने के कारण

हेय बतलाया है। श्री रूपगोस्वामी जी, श्रीकुमार के पुत्र और श्रीमुकुन्द जी के पौत्र थे। यह महाप्रभु श्री चैतन्यदेव के समकालीन प्रसिद्ध हैं। इनका समय १५ वीं शताब्दी का अन्तिम भाग अथवा १६ वीं शताब्दी का प्रथमार्द्ध है।

गोस्वामी कर्णपूर और उसका अलङ्कारकौस्तुभ

अलङ्कारकौस्तुभ में १० किरण हैं जिनमें क्रमशः काव्यलक्षण, शब्दार्थ, ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य, रस, भाव, गुण, शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार, रीति और दोषों का निरूपण है। अलङ्कारकौस्तुभ में प्रायः काव्यप्रकाश का अनुसरण किया गया है। उदाहरणों में भगवान् श्रीकृष्ण के स्तुत्यात्मक पद्य हैं। इस ग्रन्थ पर एक टीका ग्रन्थकर्त्ता ने स्वयं किरण नाम की लिखी है, दूसरी श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती की सारबोधिनी और तीसरी श्री वृन्दावनचन्द्र सेन तर्कालङ्कार की दीधिति-प्रकाशिका है।

गोस्वामी कर्णपूर ने अलङ्कारकौस्तुभ के अतिरिक्त अन्य भी कई ग्रन्थों की रचना की है जिनमें आनन्दवृन्दावनचम्पू ग्रन्थ बड़ा विद्वत्तापूर्ण लिखा है। इस चम्पू में महाकवि बाण की कादम्बरी के अनुकरण पर श्लेषात्मक विरोधाभास की रचना का प्राचुर्य है। कर्णपूर ने अपने चैतन्यचन्द्रोदय नाटक का रचनाकाल सन् १५७२ ई० का और श्री गौराङ्गगणोद्देशदीपिका का रचना-काल सन् १५७६ ई० का लिखा है। चैतन्यचन्द्रोदय की भूमिका में कवि कर्णपूर का जन्मकाल १५२४ ई० लिखा है अतएव कर्णपूर का समय १५२४ से सोलहवीं शताब्दी के चतुर्थ चरण तक का माना जा सकता है।

केशव मिश्र और उसका अलङ्कारशेखर

श्री शौद्धोदनि की कारिकाओं पर, जिनको सूत्र कहा गया है, केशव मिश्र ने वृत्ति लिखकर ग्रन्थ का नाम अलङ्कारशेखर रक्खा है। केशव ने प्रथम कारिका की उत्थानिका में कहा है—

'अलङ्कारविद्यासूत्रकारो भगवान् शौद्धोदनिः परमकारुणिकः स्वशास्त्रे प्रवर्तयिष्यन् प्रथमकाव्यस्वरूपमाह' (पृ० २)।

शौद्धोदनि सुप्रसिद्ध श्री बुद्धदेव का नाम है। पर ये कारिकाएँ १२ वीं शताब्दी के बाद की हैं जैसा कि स्पष्ट किया जायगा। संभव है किसी बौद्धाचार्य ने शौद्धोदनि के नाम से कोई ग्रन्थ प्रणयन किया हो, और उसी की ये कारिकाएँ हों।

यह ग्रन्थ काव्यमाला संख्या ५० में मुद्रित है। इसमें आठ रत्न और २२ मरीचि हैं। इसमें काव्य की परिभाषा, काव्य-रीति, अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना, पद-वाक्य-अर्थ दोष, शब्दार्थ गुण, ८ शब्दालङ्कार, १४ अर्थालङ्कार और नवरस, नायिका भेद आदि काव्य के प्रायः सभी विषय संक्षिप्ततया निरूपित हैं। इसमें काव्यादर्श, ध्वन्यालोक, काव्यमीमांसा, सरस्वतीकण्ठाभरण और काव्यप्रकाश आदि से पर्याप्त सामग्री ली गई है अतएव यह संग्रह ग्रन्थ है। इसमें यद्यपि प्रचलित साहित्यिक ग्रन्थों से कुछ विशेषता दृष्टिगत होती है, किंतु वह मौलिक नहीं; जैसे—उक्ति के लोकोक्ति, छेकोक्ति, अर्भकोक्ति और मत्तोक्ति भेद एवं पदमुद्रा, वाक्यमुद्रा, वचनमुद्रा आदि विषय सरस्वतीकण्ठाभरण से अक्षरशः लिया गया है। इसी प्रकार कवि-समय, राजा, देवी, देश, ग्राम, नदी वर्णन के प्रकार, श्वेत, नील, पीत वर्णों की वर्णनीय वस्तु, इत्यादि बहुत से प्रकरण राजशेखर की काव्यमीमांसा से लिए गए हैं। अन्य भी प्रायः सभी विषय दूसरे ग्रन्थों से उद्धृत हैं।

जिन कारिकाओं को केशव मिश्र ने शौद्धोदनि की बतलाया है, उन्हीं में—

'दोषं व्यक्तिविवेकेषु कविलोकविलोचने।
काव्यमीमांसिषु प्राप्तं महिमा महिमादृतः' ॥ (पृ० ८०)

इस कारिका में महिम भट्ट के व्यक्तिविवेक और राजशेखर की काव्यमीमांसा का स्पष्ट नामोल्लेख है। अतः ये कारिकाएँ श्री शौद्धोदनि (श्री बुद्धदेव) की किसी प्रकार नहीं मानी जा सकती हैं।

केशव मिश्र ने जयदेव (अ० शे० पृ० १७) श्री गोवर्धनाचार्य (पृ० १७, २६), भोज (पृ० ७), राजशेखर (पृ० ६७) का नामोल्लेख किया है। अलङ्कारसर्वस्व का भी (पृ० ६, ३८) उल्लेख है किन्तु वह रुय्यक के ग्रन्थ का है, या केशव के स्वयं-प्रणीत किसी इसी नाम के ग्रन्थ का, यह संदिग्ध

है। केशव मिश्र ने अपने लिखे अन्य ७ ग्रन्थ बताए हैं। अलङ्कारशेखर को उसने काबिल (संभवतः अफ़गानिस्तान) के विध्वंसक दिल्ली के माणिक्य-चन्द्र राजा के लिये प्रणीत किया है। कनिंगहम माणिक्यचन्द्र को कांगरे का राजा बतलाता है[1] जिसका समय १५६३ ई० है। अतः केशवमिश्र का समय संभवतः १६ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है।

शोभाकर और उसका अलङ्काररत्नाकर

शोभाकर ने अलङ्काररत्नाकर ग्रन्थ लिखा है। यह ग्रन्थ मुद्रित नहीं हुआ है। और न इसकी हस्तलिखित लिपि ही हमारे सम्मुख है। अन्य ग्रन्थों में अलङ्काररत्नाकर के उद्धरणों द्वारा ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ में ३६ अलङ्कार[2] ऐसे हैं जो लगभग ईसा की चौदहवीं शताब्दी तक के ग्रन्थों में निरूपण नहीं किए गए हैं। किन्तु इन अलङ्कारो के जो लक्षण और उदाहरण शोभाकर ने लिखे हैं उनपर ध्यान देकर विचार करने पर, इन अलङ्कारों में बहुत से अलङ्कार ऐसे हैं जो पूर्वाचार्यों द्वारा निरूपित अलङ्कारों के उदाहरणों में गतार्थ हो जाते हैं। और कुछ ऐसे भी हैं जिनमें चमत्कार का अभाव होने के कारण अलङ्कारों की गणना में नहीं गिने जा सकते। यही कारण है कि इसके नवाविष्कृत अलङ्कारों में केवल 'असम' और 'उदाहरण' ये दो अलङ्कार ही ऐसे हैं, जिनको पण्डितराज ने रसगङ्गाधर में लिखा हैं। शेष ३४ को इसके परवर्ती किसी भी आचार्य ने स्वीकार नहीं किया है।

शोभाकर का समय अनिश्चित है। अप्पय्य दीक्षित ने वृत्ति वार्तिक में (पृ० २०) और पण्डितराज ने रसगङ्गाधर में (पृ० २११, २८१ आदि) अलङ्काररत्नाकर

---

१ देखिये, Arch. Survey of India, Vol. 5, p. 160.

२ इन अलङ्कारों के नाम द्वितीय भाग में अलङ्कार सम्प्रदाय के अन्तर्गत अलङ्कार विवरण तालिका में लिखे जायँगे।

का उल्लेख किया है। अतएव शोभाकर का समय अप्पय्य दीक्षित (लगभग ईसा की १६ वीं शताब्दी) के पूर्व प्रतीत होता है।

यशस्क का अलङ्कारोदाहरण

अलङ्कारोदाहरण नाम का एक ग्रन्थ यशस्क द्वारा भी प्रणीत किया गया है। यह ग्रन्थ भी मुद्रित नहीं हुआ है। इसका उल्लेख कविराजा मुरारिदान के यशवन्तयशोभूषण एवं जसवंतजसोभूषण में मिलता है। जसवंतजशोभूषण की छठी अन्तर्भावाकृति में दिए हुए अलङ्कारों में यशस्क के ८ अलङ्कार नवीन प्रतीत होते हैं, जिनके नाम द्वितीय भाग में अलङ्कार सम्प्रदाय के अन्तर्गत लिखे जायँगे। किन्तु इन ८ में एक 'प्रतिषेध' ही कुवलयानन्द में लिखा गया है। शेष अलङ्कार महत्त्वपूर्ण न होने के कारण अन्य किसी ग्रन्थ में स्वीकृत नहीं किए गए हैं। स्वतंत्र अलङ्कार वही माना जा सकता है जिसमें पूर्व निरूपित अलङ्कारों से विलक्षण चमत्कार हो। यदि पूर्व निरूपित किसी अलङ्कार के लक्षण से कुछ ही विलक्षणता हो तो ऐसी अवस्था में वह उसी पूर्व निरूपित अलङ्कार का उपभेद माना जा सकता है और यदि पूर्व निरूपित किसी अलङ्कार के लक्षण में समन्वय हो, केवल उक्ति मात्र की विलक्षणता ही हो तो वह उसी पूर्व निरूपित अलङ्कार का उदाहरणान्तर मात्र माना जा सकता है, न कि स्वतंत्र।

यशस्क का समय अज्ञात है। यशस्क और उसके इस ग्रन्थ का नामोल्लेख या उद्धरण केवल 'जसवंतजशोभूषण' के अतिरिक्त किसी ग्रन्थ में दृष्टिगत नहीं होता है।

अप्पय्य दीक्षित और उसके कुवलयानन्द आदिक ग्रन्थ

श्री अप्पय्य दीक्षित के अलङ्कार शास्त्र पर तीन ग्रन्थ—कुवलयानन्द, चित्रमीमांसा और वृत्तिवार्तिक प्रसिद्ध और मुद्रित हैं।

कुवलयानन्द में पूर्वोल्लिखित जयदेव के चन्द्रालोक के पञ्चम मयूख के अर्थालङ्कारों की कारिकाओं पर अप्पय्य ने उदाहरण सहित वृत्ति लिखी है। और बहुत सी कारिकाएँ दीक्षित जी ने नवीन रचना करके कुवलयानन्द में बढ़ाई भी हैं। जो अलङ्कार चंद्रालोक से अधिक कुवलयानन्द में लिखे गए है उन अलङ्कारों की कारिकाओं की रचना-शैलो उसी प्रकार की है जिस प्रकार चन्द्रालोक में अनुष्टुप छन्द-की प्रत्येक कारिका के पूर्वार्द्ध में अलङ्कार का लक्षण और उत्तरार्द्ध में उदाहरण है। स्वयं दीक्षित जी ने कुवलयानन्द के प्रारम्भ में यह स्पष्ट कर दिया है—

'येषां चन्द्रालोके दृश्यन्ते लक्ष्यलक्षणश्लोकाः,
प्रायस्त एव तेषामितरेषां त्वभिनवा विरच्यन्ते'।

—कुवलयानन्द ५

कुवलयानन्द मे १०२ अर्थालङ्कार, ७ रसवदादि एवं ६ प्रत्यक्षादि प्रमाणालङ्कार इस प्रकार सब ११८ अलङ्कार निरूपण किए गए है।

अर्थालङ्कारो में लगभग १७ अलङ्कार[१] ऐसे हैं, जो चन्द्रालोक में निरूपण नहीं किए गए हैं।

इन १७ अलङ्कारों में १ कारकदीपक ऐसा है जिसे काव्यप्रकाश में दीपक अलङ्कार के अंतर्गत लिखा गया है और १ प्रतिषेध अलङ्कार यशस्क कृत अलङ्कारोदाहरण में भी है। शेष १५ अलङ्कारों के आविष्कर्ता अप्पय्य दीक्षित हैं या उनके पूर्ववर्ती कोई अज्ञात आचार्य हैं इसके निर्णय के लिये कोई साधन उपलब्ध नहीं है।

अलङ्कार विषय के प्रारम्भिक अभ्यास के लिये कुवलयानन्द उपयोगी होने के कारण अधिक प्रचलित है और हिन्दी भाषा के भाषाभूषण, पद्माभरण आदि

१. इनके नाम द्वितीय भाग में अलङ्कार सम्प्रदाय के अन्तर्गत अलङ्कार विवरण तालिका में लिखे जायेंगे।

बहुत से ग्रन्थ कुवलयानन्द के आधार पर ही लिखे गए हैं। कुवलयानन्द पर बहुत सी टीकाएँ और इसके अनेक संस्करण कलकत्ता, बम्बई एवं बनारस से निकल चुके हैं।

चित्रमीमासा अपूर्ण ग्रन्थ—अतिशयोक्ति अलङ्कार तक काव्यमाला संख्या ३८ में मुद्रित है। यह भी केवल अलङ्कार विषयक ग्रन्थ है। इसमे की गई आलोचनात्मक विवेचना द्वारा ग्रन्थकार का अधिकृत विषय में प्रशंसनीय अधिकार स्पष्ट विदित होता है। इसके अंत के—'अप्यर्धचित्रमीमांसा' इत्यादि पद्य से विदित होता है कि ग्रन्थकार इसे संपूर्ण नही लिख सका। यद्यपि उसकी इच्छा अधिक लिखने को अवश्य थी, जैसा कि उसके—'अधिकं तु निदर्शनालङ्कार प्रकरणे चिन्तयिष्यति' (पृ० १०१) इस वाक्य द्वारा प्रतीत होता है।

तीसरा ग्रन्थ वृत्तिवार्तिक भा अपूर्ण ही काव्यमाला संख्या १६ में मुद्रित है। यह छोटा सा ग्रन्थ है। इसमे अभिधा, लक्षणा तक ही निरूपण है।

अप्पय्य दीक्षित का परिचय और समय

अप्पय्य दीक्षित एक उल्लेखनीय दाक्षिणात्य विद्वान् थे। यह शैव मत के स्तंभ माने जाते थे। इनका नाम अप्प, अप्पा, दीक्षित भी प्रसिद्ध था। यह न्यायचिन्तामणि ग्रन्थ के प्रणेता आचार्य दीक्षित के (जो वक्षःस्थलाचार्य के नाम से प्रसिद्ध थे) पुत्र श्री रंगराजाध्वरी के ज्येष्ठ पुत्र थे। रङ्गराजाध्वरी के विषय में नलचरित नाटक में बहुत कुछ लिखा गया है। दीक्षित जी ने लगभग १०० ग्रन्थ लिखे हैं। पण्डितराज जगन्नाथ इनके प्रबल प्रतिपक्षी थे। पंडितराज ने दीक्षित को रुय्यक और उसके टीकाकार जयरथ का अन्धानुसरण करनेवाला बताया है और रसगङ्गाधर में इनकी बड़ी क्रूर आलोचना की है। पंडितराज ने चित्रमीमासा-खण्डन नामक ग्रन्थ भी लिखा है जो चित्रमीमासा के साथ ही काव्यमाला में मुद्रित है। पंडितराज की आलोचना का अप्पय्य के भाई अच्चा दीक्षित के पौत्र और नारायण दीक्षित के पुत्र नीलकण्ठ दीक्षित ने अपने पूर्वज की कीर्ति-रक्षार्थ उसी प्रकार तीव्र खण्डन भी किया है।

अप्पय्य ने १४ वीं शताब्दी के एकावली के लेखक विद्याधर का (चित्रमीमांसा पृ० ५८) और प्रतापरुद्रीय के लेखक विद्यानाथ का (चित्रमीमांसा पृ० ५८) नामोल्लेख किया है। और कुवलयानन्द के—

'अमुं कुवलयानन्दमकरोदप्पदीक्षितः।
नियोगाद्वेङ्कटपतेर्निरुपाधिकृपानिधेः' ॥

इस अन्तिम पद्य में जिस वेंकटपति का नामोल्लेख किया है, वह विजयानगरम् का प्रथम राजा वेंकट है, जिसके शासन-पत्रों में एक की तिथि शाके १५२३ (१६०१,२ ई०) है[1]। और अप्पय्य ने शिवादित्य मणिदीपक ग्रन्थ के अन्तिम पद्य में चिनवीर के पुत्र तथा लिंगमनायक के पिता चिनवौवा को अपना आश्रयदाता बताया है। दक्षिण आरकेट जिले के वैलों के अधिपति के शिलालेख शाके १४७१-१४८८ (१५४६-१५६६ ई०) के मिलते हैं। अतः इसके द्वारा अप्पय्य दीक्षित का ईसा की १६वीं शताब्दी के तृतीय चरण तक विद्यमान रहना सिद्ध होता है। अद्वैतसिद्धि, श्रीमद्भागवत की टीका और भक्ति रसायन आदि ग्रन्थों के प्रणेता श्री मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि में अप्पय्य की वेदान्तकल्पतरु पर परिमल नामक टीका का उल्लेख किया है[2]। श्री मधुसूदन सरस्वती प्रणीत सिद्धान्तविन्दु ग्रन्थ का लिपिकाल शकाब्द १५३९ (१६१७ ई०) है, जो इण्डिया ऑफिस की लायब्रेरी में वर्तमान है। उसकी रचना का काल इससे भी पूर्व होना संभव है। श्री मधुसूदन सरस्वती अप्पय्य दीक्षित के समकालीन माने जाते हैं[3]। इसके सिवा कमलाकर भट्ट ने—जिसका समय १७ वीं शताब्दी का प्रथम चरण है, अप्पय्य का नामोल्लेख किया है। अप्पय्य के भ्राता के पौत्र नीलकण्ठ ने अपने नीलकण्ठ चंपू का समय गतकलि ४७३८ लिखा है—

---

१ देखिए, व्हूलर एपिग्राफिया इण्डिका जिल्द ४ पृ० २६९।

२ 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्रैर्भामतीकार कल्पतरुकार परिमलकारैरिति'-अद्वैतसिद्धि।

३ देखिए, विद्यापीठ पत्रिका, सं० १९८६, पृ० ६०।

'अष्टत्रिंशतउपस्कृतसप्तशताधिकचतुःसहस्रेषु
गतकलिवर्षेषु ग्रथितः किल नीलकण्ठ विजयोऽयम्'।

इसके अनुसार नीलकण्ठ चपू का समय १६३७ ई० होता है। और नीलकण्ठ के—'श्रीमानप्पयदीक्षित: स जयति श्रीकण्ठविद्यागुरु:' इस वाक्य द्वारा नीलकण्ठ के समय में (१६३७ ई० में) अप्पय्य का विद्यमान होना स्पष्ट है। इसके सिवा एक विश्वस्त प्रमाण और भी उपलब्ध है, जिसके द्वारा अप्पय्य दीक्षित का सन् १६५७ ई० तक विद्यमान रहना सिद्ध होता है। सन् १६५७ ई० में काशी के मुक्तिमण्डप में एक सभा हुई थी जिसमें यह निर्णय किया गया था कि महाराष्ट्रीय देवर्षि (देवरुखे) ब्राह्मण पंक्तिपावन हैं, इस निर्णयपत्र पर अप्पय्य दीक्षित के भी हस्ताक्षर हैं। यह निर्णयपत्र श्रीपिंपुटकर ने 'चितलेभट्टप्रकरण' पुस्तक में मुद्रित कराया है। अतएव अप्पय्य का समय लगभग १६५२ तक माना जा सकता है।

पण्डितराज जगन्नाथ त्रिशूली
और
उसका रसगङ्गाधर

'कवयति पण्डितराजे कवयन्त्यन्येऽपि विद्वांसः।
नृत्यति पिनाकपाणौ नृत्यन्त्यन्येऽपि भूतवेताला:'॥

रसगङ्गाधर महत्वपूर्ण अपूर्व ग्रन्थ है। मौलिकता और विषय- विवेचन में ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश के बाद इसी का स्थान है। यह काव्यमाला सख्या १२ में नागेशभट्ट की टिप्पणी सहित अपूर्ण मुद्रित है। गङ्गाधर श्री शंकर का एक नाम है, इस ग्रन्थ के रसगङ्गाधर नाम द्वारा प्रतीत होता है कि श्री शंकर के पञ्चानन के अनुसार संभवतः ग्रन्थकार की इच्छा इसे पांच आननों में पूर्ण करने की थी, किन्तु प्रकाशित ग्रन्थ में द्वितीय आनन भी अपूर्ण है।

रसगङ्गाधर के प्रथम आनन में काव्य का लक्षण—'रमणीयार्थप्रतिपादक:

शब्दः काव्यम्" यह बताकर प्राचीनों में ध्वनिकार कुन्तक एवं काव्यप्रकाश और नवीनों में विश्वनाथ द्वारा कथित काव्य-लक्षण की आलोचना की गई है। फिर काव्य को उत्तमोत्तम (ध्वनि), उत्तम (गुणीभूत व्यंग्य), मध्यम (अर्थालंकार) और अधम (शब्दालङ्कार) इन चार भेदों में विभक्त किया गया है—जब कि मम्मट आदि आचार्यों ने तीन भेदों में विभक्त किया है। उसके बाद रस प्रकरण, शब्द और अर्थ के गुण, वैदर्भी रीति, भावध्वनि और रसाभास आदि निरूपित हैं। और द्वितीय आनन में प्रथम संक्षिप्त ध्वनि-भेद फिर अभिधा, लक्षणा का विषय, तत्पश्चात् उपमा से उत्तर तक ७० अर्थालङ्कार निरूपित हैं। ग्रन्थकार ने इन अलङ्कारों के अतिरिक्त अन्य कितने अर्थालङ्कारों एवं शब्दालङ्कारों का तथा अन्य किन किन काव्य-विषयों का इसमें समावेश किया था अथवा समावेश करने की उसकी इच्छा थी यह किस प्रकार ज्ञात हो सकता है, जबकि ग्रन्थ अपूर्ण है और ग्रन्थ के आदि में विषय सूची के रूप में ग्रन्थकार ने कुछ संकेत भी नहीं किया है।

रसगङ्गाधर में अलङ्कारों का पूर्वापर क्रम प्रायः रुय्यक के अलङ्कारसर्वस्व के अनुसार है; कुछ अलङ्कार ऐसे भी हैं, जो काव्यप्रकाश एवं सर्वस्व में नहीं हैं, किन्तु चन्द्रालोक में हैं। 'असम' और 'उदाहरण' ये दो अलङ्कार अलङ्कार-रत्नाकर के भी लिखे गये हैं। और तिरस्कार अलङ्कार संभवतः नवीन है।

इसमें लक्षण सूत्रों की शैली के अनुसार गद्य में है। पर इसे सूत्र ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता क्योंकि सूत्रों में अत्यन्त संक्षेप में कहा जाता है, और इसमें विस्तार के साथ लक्षणात्मक गद्य है। और उसपर मृदु एवं ओजपूर्ण गद्य में विस्तृत वृत्ति है। उदाहरण सभी पण्डितराज ने स्वयं-प्रणीत दिए हैं। उदाहरणों के विषय में पण्डितराज ने ग्रन्थारम्भ में कहा है—

> 'निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं
> काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किंचित्।
> किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः
> कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण' ॥
>
> —रसगं० पृ० ३

यह गर्वोक्ति अवश्य है। पर पण्डितराज ने प्रसाद-गुण-सम्पन्न धारा-प्रवाह शैली में प्रणीत अपने उदाहरणों द्वारा इस उक्ति को चरितार्थ करके दिखा दिया है। इन्होंने अलङ्कारों का प्रतिपादन अपने पूर्ववर्ती सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों की आलोचनात्मक विवेचनापूर्वक जिस मार्मिकता से किया है, वह वस्तुतः उल्लेखनीय है। अप्पय्य दीक्षित के तो यह कट्टर प्रतिपक्षी थे, उसके कुवलयानन्द और चित्रमीमांसा का प्रायः प्रत्येक अलङ्कार प्रकरण में खण्डन किया है। किन्तु आचार्य मम्मट (पृ० ५, २२६, आदि), रुय्यक (पृ० २०८,२५१,३०१ आदि), विमर्शनीकार जयरथ (पृ०२०१,२५६,३८० आदि), विद्यानाथ (पृ० १६२), रत्नाकर (पृ०२११) और विश्वनाथ (पृ० ७) आदि सभी प्रसिद्धाचार्यों की आलोचना की है। यहाँ तक कि ध्वनिकार, जो इनके अत्यन्त श्रद्धेय थे, और जिनके मत इन्होंने अत्यन्त सन्मान के साथ अनेक स्थलों पर उद्धृत किये हैं, उनकी भी आलोचना करने में कुछ संकोच नहीं किया है। रूपक-ध्वनि के प्रकरण में—

आनन्दवर्धनाचार्यास्तु..........प्राप्तश्रीरेष......इत्याहुः तच्चिन्त्यम्, (रसगं०पृ० २४७)

इन वाक्यों द्वारा आलोचना की है। इसके द्वारा यह स्पष्ट है कि पण्डितराज एक स्वतंत्र विचार के निःशङ्क आलोचक और उत्कट विद्वान् थे।

हमारे पण्डितराज को उन प्राचीन सुप्रसिद्ध महाकवियों की, जिन्होंने अपने विषय में गर्वोक्तियां की हैं, परम्परा का अनुयायी अथवा पोषक कहना अवश्य ही पण्डितराज का अपमान-जनक है क्योंकि यह इस विषय में सबसे आगे बढ़े हुए हैं। यों तो इनकी सभी गर्वोक्तियां विचित्र है, किंतु भामिनीविलास के प्रारम्भ के—

'दिगन्ते श्रूयन्ते मदमलिनगण्डाः करटिनः
करिण्यः कारुण्यास्पदमसमशीलाः खलु मृगाः।
इदानीं लोकेऽस्मिन्ननुपमशिखानां पुनरयं
नखानां पाण्डित्यं प्रकटयतु कस्मिन्मृगपतिः' ॥

इस पद्य में पराकाष्ठा कर दी है। इसमें पंडितराज अपने समकालीन सभी विद्वानों को अपने समकक्ष न मानकर, उनको करुणास्पद कहकर और अपने को दिग्विजयी सूचित करके ही सन्तुष्ट नहीं हुए, किंतु अपने समकक्ष प्रतिद्वन्द्वी न मिलने का खेद भी सूचित करते हैं कि हम ऐसी परिस्थिति में किस पर अपना प्रचण्ड पाण्डित्य प्रकट करके अपनी अभिलाषा पूर्ण करें। अस्तु, यह तो निर्विवाद है कि पण्डितराज पश्चात् के लेखक होने पर भी उल्लेखनीय आलङ्कारिक और महाकवि थे।

पण्डितराज का परिचय और समय

यह तैलङ्ग ब्राह्मण थे—'तैलङ्गकुलावतंशेनपण्डितराजजगन्नाथेन' (आसफविलास)। इनका द्वितीय नाम वेल्लनाडू था और इनको त्रिशूली भी कहते थे। यह पेरुभट्ट (अथवा पेरम भट्ट) और लक्ष्मी के पुत्र थे। इनके पिता भी प्रशंसनीय विद्वान् थे, जैसा कि—'श्रीमज्ज्ञानेन्द्रभिक्षु......' (रसगं० पृ० २) पद्य में उल्लेख है। इनके विषय में बहुत सी किम्वदन्तियां प्रचलित हैं, जिनमें एक यह भी है, कि इनका एक यवन-रमणी के साथ संपर्क था। इस सम्बन्ध के कुछ पद्य भी प्रचलित हैं, जो इन्हीं के प्रणीत कहे जाते हैं। यह भगवान् श्रीकृष्ण और भगवती भागीरथी के अनन्य भक्त थे, जैसा कि इनके वर्णनों द्वारा ज्ञात होता है।

पण्डितराज दिल्ली के यवन सम्राट् शाहजहाँ और उसके पुत्र दारा शिकोह के परम प्रेमपात्र थे। पण्डितराज ने स्वयं भामिनीविलास के अन्तिम पद्य में कहा है—'दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः......। इन्होंने दाराशिकोह की प्रशंसा में जगदाभरण ग्रन्थ लिखा है और शाहजहां के कृपापात्र खानखाना आसफ के विषय में आसफविलास भी। इनको पण्डितराज की उपाधि भी शाहजहाँ द्वारा ही दी गई थी—

'सार्वभौमश्रीशाहजहांप्रसादाधिगतपण्डितराजपदवीविराजिनेन'।

—आसफवि०, काव्यमाला द्वितीय गुच्छक, पृष्ठ ५५

इन्होंने रसगङ्गाधर और चित्रमीमांसाखण्डन एवं उपर्युक्त ग्रन्थों के सिवा प्रसिद्ध पीयूषलहरी (गङ्गालहरी), अमृतलहरी, सुधालहरी, लक्ष्मीलहरी, मनोरमाकुचमर्दन आदि अनेक ग्रन्थ निर्माण किये हैं। इनमें बहुत से ग्रन्थ काव्यमाला में मुद्रित हैं।

पण्डितराज शाहजहा के समकालीन हैं। शाजजहा के राज्याभिषेक का समय १६२८ ई० है। औरंगजेब द्वारा सन् १६६६ ई० में शाहजहां वंदी किया गया था। इसी आधार पर इनको कुछ विद्वानों ने अप्पय्य दीक्षित का परवर्ती माना है। किन्तु अप्पय्य के सिद्धान्तलेशसंग्रह ग्रन्थ के कुम्भकोण सस्करण की भूमिका मे नागेश भट्ट का काव्यप्रकाश की व्याख्या में लिखा हुआ यह पद्य उद्धृत है—

'दृप्यद् द्राविड़दुर्ग्रहग्रहवशान् म्लिष्टं गुरुद्रोहिणा,
यन्म्लेच्छेतिवचोऽविचिन्त्य सदसि प्रौढेऽपि भट्टोजिना।
तत्सत्याभितमेव धैर्यनिधिना यत्स व्यमृद्‌नात्कुचं,
निर्बध्याऽस्य मनोरमामवशयन्नप्पय्याद्यान्स्थितान्' ॥

इसमें भट्टोजि दीक्षित द्वारा पण्डितराज को म्लेच्छ कह कर अपमानित करने का और भट्टोजि एव अप्पय्य दोनों का समकालीन होने का उल्लेख है। उसी भूमिका में दूसरा बाल कवि का पद्य—जिस बाल कवि को अप्पय्य के भ्राता के पौत्र नीलकण्ठ ने नलचरित में अप्पय्य का समकालीन बताया है—उद्धृत किया है—

'यष्टुं विश्वजिता यता परिधरं सर्वे बुधा निर्जिता,
भट्टोजिप्रमुखाः सपण्डितजगन्नाथापि निस्तारितः।
पूर्वार्द्धे चरमे द्विसप्ततितमस्याऽब्दस्य सद्विश्वजि—
द्याजी यश्च चिदम्बरे स्वसभजन्ज्योतिः सतां पश्यताम्' ॥

इसमे अप्पय्य दीक्षित द्वारा ७२ वें वर्ष के पूर्वार्द्ध में भट्टोजि दीक्षित आदि विद्वानों का विजित होना और संभवतः यवनी के सम्पर्क से जाति पतित हुए पण्डितराज का उद्धार किया जाना और ७२ वर्ष में अप्पय्य का देहावसान होना कहा गया है। अतएव इन पद्यों द्वारा अप्पय्य के समय में पण्डितराज का

होना सिद्ध होता है। संभव है पण्डितराज की युवावस्था में वृद्ध अप्पय्य दीक्षित कुछ काल विद्यमान रहे हों। इसकी पुष्टि प्रथम उल्लिखित अप्पय्य के समय द्वारा और इस बात से भी होती है कि पण्डितराज ने अप्पय्य के ग्रन्थों का जो खण्डन किया है, वह सभ्योचित भाषा में नहीं, किन्तु अत्यन्त कठोर और द्वेष-पूर्ण है। ऐसी आलोचना मृत-व्यक्ति के विषय में नहीं, किंतु संभवतः समकालीन व्यक्ति के—जिसके साथ परस्पर विशेष मार्मिक द्वेष हो—विषय में ही संभव है। इन घटनाओं पर लक्ष्य करने से पण्डितराज का समय संभवतः लगभग १७ वीं शताब्दी के आरम्भ से तृतीय चरण तक है।

रसगङ्गाधर की मर्मप्रकाश टिप्पणी के लेखक नागोजी या नागेश भट्ट ने काव्यप्रकाश, प्रदीप, रसमंजरी और अप्पय्य पर भी टीकाएं लिखी हैं। नागोजी महाराष्ट्र ब्राह्मण और शिवभट्ट तथा सती के पुत्र थे। ये काशी निवासी एवं शृङ्गवेरपुर (अलाहाबादके समीप) के रामसिंह राजा के आश्रित थे। वह प्रसिद्ध वैय्याकरण विद्वान् थे और सिद्धान्तकौमुदी के लेखक भट्टोजि दीक्षित के प्रपौत्र हरिदत्त के शिष्य थे। और भट्टोजि शेषकृष्ण के शिष्य थे, जिनका पुत्र वीरेश्वर पण्डितराज का गुरु था। अतः नागोजी पण्डितराज के दो पीढ़ी बाद के हैं। नागोजी का समय संभवतः १७ वीं शताब्दी का अन्तिम चरण अथवा १८ वीं का प्रथम पाद है। भानुदत्तकी रसमञ्जरी पर जो नागेश की टीका है, उसकी हस्त-लिखित प्रति पर (जो इण्डिया ओफिस में है) सन् १७१२ ई० की तिथि है।

संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत अलङ्कार शास्त्र के इतिहास में पण्डितराज जगन्नाथ ही इस विषय का अन्तिम लेखक है अतः उसकी अंतिम सीमा १७ वीं शताब्दी में पण्डितराज के साथ ही समाप्त हो जाती है। पण्डितराज के बाद संस्कृत साहित्योद्यान की मनोरञ्जकता को परिवर्धन करनेवाला कोई भी विद्वान् मालाकार दृष्टिगत नहीं होता। जो साहित्योद्यान विद्या-रसिक स्वातंत्र्य सौख्य प्राप्त भारतीय नृपतियों के मनोरञ्जक वासन्तिक काल में परिवर्धित और विकसित हुआ था, उसका ह्रास तो क्रमशः उन नृपतियों के स्वातंत्र्य-सौख्य के साथ-साथ यवन साम्राज्य-काल में ही होने लगा था, फिर भारतवर्षीय नृपतिगणों के परम्परागत

स्वातंत्र्य गौरव का प्रभाकर ही जब पश्चमीय अरुणिमा में निमग्न होता विलासिता के आवरण में विलुप्तप्राय हो गया, तो ऐसी परिस्थिति में हमारे प्राच्य साहित्योद्यान पर दृक्पात होना संभव ही कहाँ था। खेद है कि साम्प्रतिक काल में हमारा संस्कृत साहित्य पाश्चात्य लेखकों द्वारा केवल मृतक भाषा के साहित्य की उपाधि को प्राप्त हो रहा है। इस अवस्था में भी कुछ सन्तोष का विषय यही है कि इसे ऐतिहासिक सामग्री का महत्त्व प्राप्त है, अस्तु—

'स च कालप्रभावोऽयं न च कस्यापि दूषणः'।

—:o:—

कविराजा मुरारिदान और सुब्रह्मण्य शास्त्री का यशवन्तयशोभूषण

मरुधराधीश स्वर्गीय जसवन्तसिंह—जो विक्रमाब्द १६५० में विद्यमान थे—के राज्यकवि कविराजा मुरारिदान को और उनके साहित्य-शिक्षक* सुब्रह्मण्य शास्त्री को भी संस्कृत साहित्य के इतिहास में यहां स्थान देना उचित और आवश्यक है। कविराजा ने आधुनिक काल में भी अलङ्कारशास्त्र पर श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री की सहायता से हिन्दी भाषा में जशवन्तजसोभूषण ग्रन्थ लिखा और उसका संस्कृत में उक्त शास्त्रीजी द्वारा अनुवाद करा कर यशवन्तयशोभूषण ग्रन्थ मारवाड़ स्टेट प्रेस (जोधपुर) में राजसंस्करण के रूप में प्रकाशित कराया है। इस ग्रन्थ का नामकरण विद्यानाथ के प्रतापरुद्रयशोभूषण के आदर्श पर किया गया है।

---

* देखिये यशवन्तयशोभूषण पृ० ३७४ 'साहित्याम्बुधिलंघने······' इत्यादि पद्य, और जसवन्तजशोभूषण पृ० ४८० साहित्त समुद्र कौ उलंघवो'······ इत्यादि कवित्त।

यशवन्तयशोभूषण श्रीसुब्रह्मण्य शास्त्री की विद्वत्ता का सूचक है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस ग्रन्थ के द्वारा शास्त्री जी का साहित्य विषय पर उल्लेखनीय अधिकार लक्षित होता है। ग्रन्थ का आकार भी बृहत् है और विषय-विवेचन भी विस्तार के साथ किया गया है। उदाहरणों में प्रायः जोधपुर-नरेश महाराज जसवन्तसिंह का यशोगान किया गया है। इस ग्रन्थ में कविराजा मुरारिदान ने अपनी प्रसिद्धि और राज्य-संमान प्राप्त करने की लालसा से यह नवीन सिद्धान्त प्रतिपादन करने की चेष्टा की है कि प्रत्येक अलङ्कार के नाम में ही लक्षण है। कविराजा का कहना है कि इस रहस्य का ज्ञान श्री भरत मुनि से लेकर अबतक किसी भी प्राचीन साहित्याचार्य को नहीं था, इसीलिये श्रीभरत आदि ने अलङ्कारों के लक्षणों के लिये कारिकाएँ या सूत्र लिखे हैं। कविराजा ने अत्यन्त अभिमान के साथ यह भी कहा है कि इस नवीन रहस्य के आविष्कर्ता केवल हम ही हैं। किन्तु यह कविराजा की सर्वथा मिथ्या गर्वोक्ति है। अथवा यों कहना उचित होगा कि राज्य-संमान प्राप्त करने के लिये कविराजा की यह एक आपात रमणीय रहस्यपूर्ण राजनैतिक युक्ति थी। हाँ, बहुत से अलङ्कारों के नाम यौगिक अवश्य हैं और यह बात सभी सुप्रसिद्ध प्राचीन आचार्यों को भली भाँति विदित भी थी। काव्यप्रकाश आदि में प्रायः अलङ्कारों के नामों का व्युत्पत्त्यर्थ दिखाया गया है, किन्तु अलङ्कारों का यथार्थ स्वरूप केवल नामार्थ द्वारा कदापि स्पष्ट नहीं हो सकता। अलङ्कारों के नामार्थ द्वारा अलङ्कारों के प्रधान चमत्कार का केवल आंशिक संकेत मात्र सूचित होता है। इसीलिये अलङ्कारों के लक्षण कारिका या सूत्र में प्रचीनाचार्यों ने लिखे हैं। स्वयं कविराजा भी केवल अलङ्कारों के नामार्थ द्वारा अलङ्कारों के लक्षण स्पष्ट करने में कृतकार्य नहीं हो सके हैं। अगत्या उनको भी नामार्थ के अतिरिक्त बहुत सी बातें ऊपर से कहनी ही पड़ी हैं। अतएव लक्षण-निर्माण के विषय में जो कविराजा ने सुप्रसिद्ध प्राचीनाचार्यों की क्रूर आलोचनाएँ की हैं वे महत्त्वपूर्ण न होने के कारण साहित्य-मार्मिकों की दृष्टि में सर्वथा अनादरणीय हैं। कविराजा की इन आलोचनाओं के ढोल मे कितनी पोल है यह विषय विस्तार के साथ

स्वतन्त्र रूप से आलोच्य है। इसका कुछ दिग्दर्शन इस लेखक ने अपने काव्य-कल्पद्रुम[1] ग्रन्थ में और द्विवेदीअभिनन्दन ग्रन्थ[2] में कराया है। फिर भी हम यह अवश्य कहेंगे कि इस ग्रन्थ में प्राचीनाचार्यों की आलोचनाएँ करते हुए जो आपात रमणीय युक्तियाँ दी गई हैं, वे विद्वानों के मनोविनोद की यथेष्ट सामग्री हैं। अस्तु।

ये दोनों ग्रन्थ विक्रमाब्द १६५० में लिखे गये थे और महाराज जसवन्तसिंह ने इन ग्रन्थों की रचना के उपलक्ष में कविराजा को एक लक्ष का पारितोषिक दिया था जिसको मारवाड़ में 'लाखपसाव' कहते हैं। इसके अतिरिक्त कविराजा की उपाधि, पैरों में सुवर्ण पहनने का अधिकार और गमनागमन के समय अभ्युत्थान (ताजीम) एवं सुलंकृत हाथी, घोड़े, पालकी आदि से कविराजा को संमानित भी किया गया था।



१ देखिये काव्यकल्पद्रुम विक्रमाब्द १९८३ का द्वितीय संस्करण पृ० २२४-२३२ और विक्रमाब्द १९९३ के तृतीय संस्करण का द्वितीय भाग अलङ्कारमञ्जरी भूमिका पृ० 'ह'।

२ देखिये पृ० २६७।

निष्कर्ष ।

यहाँ तक किये गये साहित्यिक ग्रन्थों के विषय विवेचन और उनके प्रणेताओं के काल-विषयक ऐतिहासिक विवेचन द्वारा जब हम साहित्य के क्रम-विकास पर विचार करते हैं, तो ज्ञात होता है कि प्रारम्भिक काल में यद्यपि श्री भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में अन्य आचार्यों के मतों का उल्लेख अवश्य है, जैसा कि पहिले नाट्यशास्त्र-विषयक निर्णय में दिखाया गया है, तथापि उन आचार्यों के न तो नाट्यशास्त्र में नामोल्लेख ही हैं और न उनके ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं। ऐसी स्थिति में नाट्यशास्त्र का अज्ञात समय ही साहित्य का प्रारम्भिक काल माना जा सकता है। नाट्यशास्त्र के विषय-विवरण के अनुसार, उसमें शृंगारादि नवरसों के अतिरिक्त, केवल ४ अलङ्कार, १० दोष, १० गुण और वैदर्भी आदि रीतियों का निरूपण है। तदनन्तर अग्निपुराण के समय अलङ्कारों की संख्या ४ के स्थान पर लगभग १५ तक वर्द्धित है। इसी प्रकार गुण, दोष, आदि के विवेचन में भी कुछ क्रम-विकास दृष्टिगत होता है। अतएव अग्निपुराण के समस तक क्रम-विकास की प्रथमावस्था सूचित होती है।

अग्निपुराण के बाद और भट्टि, भामह के पहले मध्यवर्ती दीर्घ काल में इसका क्रम-विकास अवश्य ही स्वीकार किया जायगा। क्योंकि भामह के काव्यालङ्कार द्वारा स्पष्ट है कि भामह के पूर्व बहुत से साहित्याचार्यों के ग्रन्थ थे, जिनमें कुछ लेखकों का भामह ने नामोल्लेख भी किया है। किन्तु वह क्रम-विकास किस-किस समय में किस-किस आचार्य द्वारा हुआ, यह जानने के लिये उस समय के ग्रन्थ अनुपलब्ध होने के कारण हमारे सन्मुख कोई भी साधन नहीं है। अस्तु, अग्निपुराण के बाद उपलब्ध ग्रन्थों द्वारा छठीं शताब्दी के लगभग भामह ही साहित्याचार्य के रूप में हमारे सन्मुख आते हैं। भामह के ग्रन्थ में अलङ्कार साहित्य का क्रम-विकास दृष्टिगत होता है और भामह के बाद वामन के समय तक—आठवीं शताब्दी तक—दण्डी, उद्भट और वामन द्वारा यद्यपि अलङ्कारों की

संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि नहीं हुई है, तथापि विषय-विवेचन की स्पष्टता द्वारा क्रम-विकास पर बहुत कुछ प्रकाश उपलब्ध होता है।

भामह के पश्चात् और चंद्रालोक के प्रणेता जयदेव के पूर्व लगभग ६, ७ शताब्दियों का समय साहित्य के क्रम विकास का महत्त्वपूर्ण काल है। साहित्य के विभिन्न सम्प्रदाय-प्रवर्तकों का और साहित्य के महत्त्वपूर्ण विकास का यही काल है। इस काल को हम साहित्य का पूर्ण उन्नत काल कह सकते हैं, जैसा कि इस ग्रंथ में दिये गये साहित्य-ग्रन्थों के विवरण द्वारा स्पष्ट ज्ञात हो सकता है। साहित्य के विकास का स्थान वही सुप्रसिद्ध काश्मीर प्रदेश है, जो उस समय विद्वानों के उद्गम का स्थान था और जिसने भामह, उद्भट, वामन, रुद्रट, ध्वनिकार श्री आनन्दवर्धनाचार्य, कुन्तक, महिम, अभिनवगुप्त, मम्मट और रुय्यक आदि सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों की जन्मभूमि होने का सौभाग्य प्राप्त किया है। प्राचीन साहित्याचार्यों में एक दण्डी ही ऐसा है, जो संभवतः काश्मीर देशीय न होकर दाक्षिणात्य था। यद्यपि धाराधीश भोज और जयदेव जैसे प्रसिद्ध साहित्याचार्य भी उसी काल में हुए जो काश्मीर देशीय नहीं थे, किन्तु जिस काश्मीर प्रदेश के रत्नों द्वारा साहित्य का उल्लेखनीय विकास हुआ भोज आदिक उसके पोषक मात्र थे—किसी विशेष सिद्धान्त या सम्प्रदाय के प्रवर्तक नहीं।

इस काल के प्रारम्भ में हमको भामह, उद्भट और रुद्रट मिलते हैं, जो प्रधानतया अलङ्कार सिद्धान्त के ही प्रतिपादक थे। इनके सिवा दण्डी और वामन ये दो ऐसे आचार्य मिलते हैं, जो अलङ्कारों को काव्यशोभाकारक स्वीकार करते हुए भी, गुण और रीति को काव्य में प्रधानता देते हैं। उसके बाद ध्वनिकार और श्री आनन्दवर्धनाचार्य जैसे महान् प्रतिभाशाली आचार्य भी इसी काल में हमको उपलब्ध होते हैं, जो नवीन और महत्त्वपूर्ण ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं। फिर कुन्तल और महिमभट्ट जैसे ध्वनिसिद्धान्त के विरोधी भी इसी काल में दृष्टिगत होते हैं, यद्यपि इस कार्य में वे सफल न हो सके। महाराज भोज भी इसी काल में हुए, जिन्होंने अग्निपुराण में जिस काव्यशैली का सूत्रपात

है, उसका सरस्वतीकण्ठाभरण और शृङ्गारप्रकाश जैसे महत्वपूर्ण एवं बृहत्काय ग्रन्थों में विशदतया निरूपण किया है। धनञ्जय और अभिनवगुप्तपादाचार्य भी इसी काल में हुए जिनमें पहिले ने नाट्यशास्त्र के प्राचीनतम नाट्य-विषय का विस्तृत विवेचन किया और दूसरे ने नाट्यशास्त्र पर अभिनवभारती व्याख्या लिखकर उसके जटिल विषय को बोध-गम्य बना दिया तथा ध्वन्यालोक में प्रतिपादित ध्वनि-सिद्धान्त पर, जो जटिलता के अन्धकार में परिवेष्ठित था, लोचन का प्रकाश डाल कर स्पष्ट कर दिया। इसी समय में आचार्य मम्मट ने काव्य की बिखरी हुई विभिन्न धाराओं को समन्वित करके यथोचित स्थान पर स्थापित किया। इसके बाद रुय्यक और उसके टीकाकार जयरथ जैसे विद्वानों ने भामहादि के स्थापित अलङ्कार सम्प्रदाय में जो शिथिलता सी आ गई थी उसे पुन प्रभावान्वित किया। जयदेव ने भी उसे परिवर्द्धित किया है। अलङ्कारों की संख्या में भी क्रमश इसी काल में पर्याप्त वृद्धि हुई है। भामह के समय में अलङ्कारों की संख्या लगभग ४० तक थी जो वामन के समय तक लगभग ५० के और रुय्यक के समय तक लगभग १०० तक हो गई थी। जयदेव ने इसमें और वृद्धि की। इस काल में केवल अलङ्कारों की संख्या वृद्धि और उनका रूप ही परिष्कृत एवं विकसित नहीं किया गया किन्तु अन्य सभी काव्य-विषय विभिन्न साहित्याचार्यों द्वारा शाणोत्तीर्ण किये जाकर परिष्कृत और चमत्कृत कर दिये गये। अतएव ईसा की छठी शताब्दी से लगभग १२ वीं शताब्दी तक का समय साहित्य के विकास-क्रम का यथार्थ ही महत्त्वपूर्ण काल है।

तदनन्तर १२ वीं शताब्दी से १८ वीं शताब्दी तक साहित्य के क्रम-विकास का उत्तर अथवा अन्तिम काल है। इस काल में रस, ध्वनि और अलङ्कारों का विवेचन प्रायः काव्यप्रकाश और अलङ्कार-सर्वस्व के अनुसार होता रहा। तथापि अलङ्कारों की संख्या में वृद्धि अवश्य देखी जाती है—१८ वीं शताब्दी तक के विभिन्न लेखकों द्वारा निरूपित अलङ्कारों की संख्या लगभग १६० तक पहुँच गई है। किन्तु इस परिवर्द्धित संख्या में बहुत से अलङ्कार ऐसे भी हैं, जो प्राचीनाचार्यों

द्वारा पूर्व निरूपित अलङ्कारों में गतार्थ हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त इस काल में साहित्य का कोई नवीन सिद्धान्त भी आविष्कृत नहीं हुआ है। और न इस समय के लेखकों में विश्वनाथ और पण्डितराज के सिवा कोई उल्लेखनीय लेखक ही हुआ। पण्डितराज ही ऐसे अन्तिम लेखक हैं, जिनके रसगङ्गाधर में मौलिकता का परिचय मिलता है, और जो ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश के पश्चात् उच्च श्रेणी में स्थान प्राप्त कर सकता है। शेष अधिकांश ग्रन्थ या तो उनके पूर्ववर्ती ग्रन्थों पर ही अवलम्बित हैं अथवा प्रचीन ग्रन्थों के व्याख्यारूप हैं।

द्वितीय भाग

संस्कृत साहित्य का इतिहास

[द्वितीय भाग]

विषय प्रवेश

प्रथम भाग में किये गये साहित्याचार्यों और उनके ग्रन्थों के ऐतिहासिक विवेचन द्वारा ज्ञात होता है कि साहित्य के उपलब्ध लक्षण ग्रन्थों में सर्वप्रथम महामुनि भरत के नाट्यशास्त्र में काव्य के रस, अलङ्कार, गुण (या रीति) और दोषों का निरूपण किया गया है। अग्निपुराण में भी इन्हीं विषयों का निरूपण है। तत्पश्चात् इसा की आठवीं शताब्दी तक (भामह से वामन के समय तक) यद्यपि नाट्यशास्त्र में प्रदर्शित इन्हीं विषयों का लक्षण-ग्रन्थों में विकास-क्रम से विवेचन मिलता है, तथापि भामह आदि आचार्य विशेष-विशेष सिद्धान्तों के प्रतिपादन में विभक्त दृष्टिगत होते हैं।

भट्ट लोल्लट, श्रीशंकुक और भट्ट नायक आदि के स्वतंत्र ग्रन्थ उपलब्ध न होने पर भी अन्य ग्रन्थों में उद्धृत किये गये उनके मत द्वारा विदित होता है कि ये महामुनि भरत के रस-सिद्धान्त के विवेचक होने के कारण संभवतः रस-वादी थे। फिर हमारे संमुख आचार्य भामह, दण्डी, उद्भट और वामन आते हैं। इन आचार्यों ने रस विषय पर कुछ भी महत्त्वपूर्ण प्रकाश नहीं डाला है। प्रधानतया अलङ्कार और गुण एवं दोषों पर ही विवेचन किया है। इन्होंने अलङ्कारादिकों को ही काव्य को अलंकृत करनेवाली सामग्री बतलाया है। अर्थात् ये काव्य के बाह्य सौंदर्य पर ही ध्यान देते रहे हैं। अतएव इन आचार्यों ने अपने प्रतिपाद्य विषय को ही प्रधानता दी है जैसा कि आगे रस आदि सम्प्रदायों के विवेचन में स्पष्ट किया जायगा।

नाट्यशास्त्र में रस का सम्बन्ध अधिकांश में दृश्य-काव्य नाटकादि के साथ सम्बद्ध प्रतीत होने के कारण सम्भवतः उस समय श्रव्यकाव्य पर रस सिद्धान्त का पूर्ण रूप से प्रभाव न हो सका। अतएव भरत मुनि के बाद—भामह से वामन तक के उपलब्ध साहित्य ग्रन्थों में रस विषय का यद्यपि गंभीर विवेचन दृष्टिगत नहीं होता है—बहुत ही संक्षिप्त उल्लेख मिलता है, तथापि भरतसूत्र के व्याख्याकार भट्ट लोल्लट आदि द्वारा रस पर भी आलोचनात्मक विवेचन किया गया है। इसके द्वारा आठवीं शताब्दी तक काव्य में रस, अलङ्कार और गुण (या रीति) तीनों सिद्धान्तों के सम्प्रदाय का प्रचलित होना अवश्य सिद्ध होता है। तदनन्तर ध्वनिकार एवं श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने अपनी नवाविष्कृत शैली द्वारा ध्वनिसिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए दृश्य-काव्य के समान ही श्रव्य-काव्य में भी रस के सौंदर्य-कला-जन्य महत्त्व को समझकर रस-सिद्धान्त के साथ रस-विषयक विभावादि पदार्थों की प्रधानता का श्रव्य-काव्य में भी स्पष्ट प्रतिपादन कर दिया। साथ ही ध्वनिकारों ने काव्य में रस, अलङ्कार आदि, जो उस समय तक स्वतंत्र रूप में निरूपित किये जा रहे थे, उन सभी का सम्बन्ध अपने ध्वनिसिद्धान्त के साथ स्थापित करके ध्वनि का काव्य में सर्वत्र व्यापक रूप में साम्राज्य भी प्रतिपादित कर दिया। इसके बाद आचार्य मम्मट ने गम्भीर विवेचना द्वारा ध्वनिकारों के आदर्श पर इन सभी प्रचलित सिद्धान्तों का परस्पर सम्बन्ध और सुघटित स्थान निर्दिष्ट करके ध्वनि-सिद्धान्त का प्राधान्य और भी स्पष्ट करके दिखा दिया। नवीन सिद्धान्त कैसा ही दृढ़-मूल हो उसका विरोध किया जाना स्वाभाविक ही है। ध्वनि-सिद्धान्त को भी विच्छिन्न करने की कुछ विद्वानों द्वारा पर्याप्त चेष्टा की गई। प्रथम तो भरत सूत्र के तृतीय व्याख्याकार भट्ट नायक ने रस विषयक भरतसूत्र की व्याख्या में ध्वनि-सिद्धान्त पर आक्षेप किया, उसके बाद महिम भट्ट ने भरतसूत्र के द्वितीय व्याख्याकार श्री शंकुक के अनुमिति सिद्धान्त के और कुंतक ने भामह के वक्रोक्ति के व्यापक सिद्धान्त के आधार पर ध्वनि सिद्धान्त पर तीव्र किन्तु क्षण-स्थायी आक्षेप किये। पर वे आक्षेप निर्मूल होने के कारण स्वतः शान्त हो गये। तथापि आपाततः

महिम को ध्वनि-सिद्धान्त-विरोधी और कुन्तक क वक्रोक्ति सिद्धांत के स्थापक के रूप में प्रसिद्धि तो प्राप्त हो ही गई। अस्तु इस प्रकार रस, अलङ्कार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति यही पांच सिद्धान्त काव्य में सम्प्रदाय के रूप में कहे जाते हैं। इन सम्प्रदायों का निदर्शन ही इस द्वितीय भाग का प्रधान विषय है। पहले साहित्य ग्रन्थों का विषय प्रदर्शन कराया जाता है, उसी के अन्तर्गत क्रमशः इन सम्प्रदायों का विस्तृत विवेचन किया जायगा।

साहित्य ग्रन्थों के विषय

साहित्य ग्रन्थों के प्रधानतया ये विषय हैं—

(१) काव्य का प्रयोजन।

(२) काव्य का हेतु।

(३) काव्य का सामान्य लक्षण।

(४) काव्य के भेद रस, ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य और अलङ्कारों का निरूपण।

(५) काव्य का गद्य और पद्य एवं दृश्य और श्रव्य में विभाग।

(६) काव्य के गुण और दोष।

किन्तु यह नियम नहीं कि एक ही ग्रन्थ में इन सभी विषयों का विवेचन हो। साहित्य के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ विषय-विवेचन में कई भागों में विभक्त हैं—

(अ) कुछ ग्रन्थों में प्रायः उपर्युक्त सभी विषयों का न्यूनाधिक विवेचन है, जैसे विश्वनाथ का साहित्यदर्पण, हेमचन्द्र का काव्यानुशासन और विद्यानाथ का प्रतापरुद्रयशोभूषण आदि।

(आ) भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य को छोड़कर प्राय. अन्य सभी विषय हैं।

(इ) भामह के काव्यालंकार, दण्डी के काव्यादर्श, वामन के काव्यालंकार सूत्र, और रुद्रट के काव्यालंकार में दृश्य-काव्य और ध्वनि एवं गुणभूत व्यङ्ग्य

का विषय नहीं है, अन्य सभी विषय हैं। रस का कुछ विशेष विवेचन रुद्रट ने ही किया है। भामह और दण्डी ने अलङ्कारों के अन्तर्गत रसों का दिग्दर्शन मात्र कराया है और वामन ने सर्वथा नहीं।

(ई) आचार्य मम्मट के काव्यप्रकाश, पण्डितराज के रसगङ्गाधर और जयदेव के चन्द्रालोक आदि में दृश्य-काव्य को छोड़कर सभी विषय हैं। रसगङ्गाधर में गुणीभूत व्यङ्ग्य का लक्षण मात्र है।

(उ) धनञ्जय के दशरूपक में केवल दृश्य-काव्य का, रुद्रभट्ट के शृङ्गारतिलक में और भानुदत्त की रसमञ्जरी आदि में केवल रस का, उद्भट के काव्यालङ्कार-सारसंग्रह में, रुय्यक के अलङ्कार सर्वस्व में, अप्पय्य के कुवलयानन्द और चित्रमीमांसा में केवल अलङ्कार का विषय है।

(ऊ) ध्वनिकार और श्री आनन्दवर्धनाचार्य के ध्वन्यालोक में दृश्य-काव्य को छोड़कर प्रायः सभी विषय हैं किन्तु प्रधानतया ध्वनि सिद्धान्त का प्रतिपादन है।

(ऋ) कुन्तक के वक्रोक्तिजीवित में प्रधानतया वक्रोक्ति सिद्धान्त का स्थापन, महिमभट्ट के व्यक्तिविवेक में ध्वनि सिद्धान्त का खण्डन और मुकुल की अभिधावृत्तिमात्रिका में तथा अप्पय्य के वृत्तिवार्तिक में केवल अभिधा आदि शब्द-वृत्तियों का विवेचन है।

साहित्य के इन विषयों का अब क्रमशः स्पष्टीकरण किया जाता है।

काव्य का प्रयोजन

किसी भी कार्य में निष्प्रयोजन किसी की प्रवृत्ति नहीं हो सकती इसलिए साहित्य ग्रन्थों में काव्य का लक्षण और उसके भेद दिखाने के पूर्व प्रायः काव्य का प्रयोजन अर्थात् काव्य किसलिये है या काव्य द्वारा क्या फल प्राप्त हो सकता है यह बताया गया है।

कुछ लोगों की धारणा है कि काव्य प्रायः शृङ्गाररसात्मक होने के कारण केवल विषयी जनों के मनोरञ्जन का साधन मात्र है—इसके द्वारा अन्य कुछ लाभ

नहीं हो सकता। किन्तु ऐसे विचारवाले व्यक्ति अवश्य ही काव्य के रहस्य से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। काव्य के अध्ययन से केवल मनोरञ्जन की ही प्राप्ति नहीं, अपितु धार्मिक, नैतिक और दार्शनिक ज्ञान की शिक्षा एवं कायरों को साहस, वीरजनों को उत्साह, श्राकात-जनों को सान्त्वना, उद्विग्न चित्तवालों को विश्रान्ति, काव्य प्रणेता कवि को सन्मान, यश और द्रव्य की प्राप्ति होती है। महामुनि भरत कहते हैं—

"धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कामः कामोपसेविनाम्।
निग्रहो दुर्विनीतानां विनीतानां दमक्रिया॥
क्लीबानां धार्ष्ट्यजननमुत्साहः शूरमानिनाम्।
अबुधानां विबोधश्च वैदुष्यं विदुषामपि॥

....

दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद्भविष्यति॥
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम्।
वेदविद्येतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम्॥"

नाट्यशा० १।१०९-१२४

तात्पर्य यह है कि सत्काव्य से क्या नहीं हो सकता। काव्य के द्वारा सभी मनोभिलाष पूर्ण हो सकते हैं, जैसा कि रुद्रट ने कहा है—

"अर्थमनर्थोपशमं शमसममथवा मतं यदेवास्य।
विरचितरुचिरसुरस्तुतिरखिलं लभते तदेव कविः॥"

—काव्यालं० १।८

भामह ने अर्थ, धर्म और काम के अतिरिक्त काव्य को मोक्ष का साधन भी कहा है—

"धर्मार्थकाममोक्षाणां वैचक्षण्यं कलासु च।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्"॥

काव्यालं० १।२

केवल यही क्यों भगवान् के गुणानुवाद एवं स्तुति रूप काव्यात्मक वर्णन द्वारा भगवत् प्राप्ति के प्रमाण पुराण और इतिहासों में भी पर्याप्त हैं।

मम्मटाचार्य ने कहा है—

"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे" ॥

प्रश्न हो सकता है कि यश, व्यवहार-ज्ञान, दुःखनाश, सुख और उपदेश के लिए क्या काव्य के सिवा अन्य कोई साधन नहीं है यदि है तो फिर काव्य का ऐसा महत्व क्यों? हाँ, अन्य साधन अवश्य हैं, पर उन सभी की अपेक्षा काव्यात्मक साधन महत्वपूर्ण हैं। देखिये, कुएँ, बाग और तालाब आदि के निर्माण और स्थापन द्वारा यद्यपि यश अवश्य प्राप्त होता है किन्तु वह यश चिरस्थायी नहीं; कुछ काल अतिवाहित होने पर इन वस्तुओं के साथ ही वह नष्ट हो जाता है, रुद्र ने कहा है—

'तत्कारितसुरसदनप्रभृतिनि नष्टे तथाहि कालेन।
न भवेन्नामापि ततो यदि न स्युःसुकवयो राज्ञाम्'

काव्याल० १।५

अनादि काल से इस भूमण्डल पर असंख्य राजा महाराजा और सम्राट् यशस्वी हो गए हैं। उन्होंने न मालूम कितने धार्मिक और वीरोचित कार्यों एवं स्थानादि निर्माण द्वारा अपना यश स्थायी रखने का प्रयत्न किया होगा, किन्तु उनमें से जिनके विषय में इतिहास में कुछ नहीं लिखा गया है, उनका कुछ भी स्मृति-चिह्न अवशेष नहीं है। किन्तु जिनका चरित्र महाभारतादि काव्यों[1] में अङ्कित हो गया है उन्हीं का यश चिरस्थायी हो रहा है। विह्लण ने कहा है—

१ महाभारत की काव्यसंज्ञा श्री ब्रह्माजी द्वारा प्रदत्त है। देखो प्रथमभाग में महाभारत निबन्ध।

'महीपतेः सन्ति न यस्य पार्श्वे
कवीश्वरास्तस्य कुतो यशांसि।
भूपाः कियन्तो न बभूवरुर्व्यां
नामापि जानाति न कोऽपि तेषाम्'।
—विक्रमाङ्कदेवचरित १।२६

विद्वान् भी असंख्य होते आये हैं किन्तु उनमें भी जिन महाकवि कालिदासादि ने ग्रन्थ निर्माण किये हैं उनका शरीरपात होने पर भी वे अद्यापि काव्य शरीर से अमर हो रहे हैं।

द्रव्य-लाभ के साधन भी अनेक हैं किन्तु काव्य द्वारा जैसा सम्मानपूर्वक द्रव्य-लाभ होता है वह महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन काल में जिस प्रकार कवि और विद्वानों को सम्मान के साथ द्रव्य-लाभ हुआ है उसका साक्षी इतिहास है। राजतरङ्गिणी द्वारा ज्ञात होता है कि उद्भटादिकों का प्रतिदिन एक लक्ष स्वर्णमुद्रा का वेतन था। यही नहीं, जितने प्रसिद्ध सम्राट् और राजा हुए हैं उनके सन्धि-विग्रहक मन्त्री प्रायः कवि ही होते थे। साम्प्रत काल में भी पाश्चात्य देशों में जहाँ विद्वत्ता का मूल्य है, ग्रन्थ निर्माण द्वारा द्रव्य-लाभ के उदाहरण समक्ष में देखे जाते हैं।

लोक-व्यवहार के ज्ञान के लिये भी काव्य ही एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा सहज ही सभी लोक-व्यवहारों का ज्ञान उपलब्ध हो सकता है।

दुःख-नाश के लिए सूर्यस्तुति से कुष्ठ आदि रोग-निवृत्ति के उदाहरण मयूरादि कवियों के प्रसिद्ध हैं।

आनन्द की प्राप्ति भी स्वर्गादि लोक के साधक यज्ञादि धार्मिक क्रियाओं द्वारा अवश्य होती है। पर कब ? कालान्तर में और देहान्तर में—तत्काल नहीं। किन्तु काव्य-जनित आनन्द काव्य के श्रवण अथवा मनन के अनन्तर तत्काल ही उपलब्ध हो जाता है, आनन्द भी साधारण नहीं किन्तु ब्रह्मानन्द के समान परम आनन्द—'ब्रह्मानन्दसहोदरः' (सा० दर्पण)। वस्तुतः काव्य-जन्य आनन्द अनुपम है, कहा है—

'सकलकरणपरविश्रामश्रीवितरणं न सरसकाव्यस्य।
दृश्यतेऽथवा निशम्यते सदृशमशांशमात्रेण'॥

—काव्यप्र० उ० ७ पृ० ६८६

राजानक कुन्तक ने तो चतुर्वर्ग—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—के आनन्द से भी बढ़कर काव्यामृतरसास्वाद को बताया है—

'चतुर्वर्गफलस्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते'॥

—वक्रोक्तिजीवित पृ० ५

आत्मज्ञान के लिए वेदों में, धर्म के लिये धर्मशास्त्रों में, और नीति के लिये नीति ग्रन्थों में पर्याप्त उपदेश हैं और वाञ्छनीय होने पर भी उनका मार्ग अत्यन्त गूढ़ और दुर्भेद्य होने के कारण उसमें प्रवेश करना दुःसाध्य है। अतएव उनके द्वारा आत्मोन्नति का अथवा धर्माधर्म का या लोक-व्यवहार का उपदेश जिज्ञासु जन ही ग्रहण कर सकते हैं। वेदों की श्रुतियाँ प्रभु-सम्मित शब्द हैं, वे आत्मज्ञान का राजाज्ञा के समान उपदेश करते हैं। और धर्मशास्त्र सुहृद-सम्मित-शब्द हैं, वे मित्र के समान हिताहित को समझाते हैं। किन्तु राज्यानुशासन द्वारा धर्म का पालन और मित्रों के समझाने से सदाचार का ग्रहण विरले ही कर सकते हैं—अधिकारी होने पर ही इनसे इच्छित उपदेश मिल सकता है। प्रायः जो लोग उनके उपदेशों में रुचि ही नहीं रखते ऐसे लोगों को उनके द्वारा शिक्षा किस प्रकार प्राप्त हो सकती है। अतएव उनके लिये काव्य द्वारा ही उपदेश उपयुक्त हो सकता है क्योंकि काव्य कान्ता सम्मित शब्द हैं। अर्थात् जिस प्रकार कामिनी गुरुजनों के शासन में रहनेवाले अपने प्रियतम को विलक्षण कटाक्षादि हावभावों की मधुरता से अनुरक्त कर के अपने अनुकूल कर लेती है, उसी प्रकार सत्काव्य भी सुकुमारमति वेद-शास्त्रादि से विमुखजनों को मधुर, कोमल और कांतपदावली द्वारा शृङ्गारादि रसों की सरसता से अपने में अनुरक्त करके सदुपदेश देता है। कहने का अभिप्राय यह है, कि वेद और शास्त्र जन्य

उपदेश अवश्य ही अविद्यारूप व्याधि को सर्वथा नष्ट कर देते हैं, किन्तु वे कटु औषधि के समान हैं, जो अत्यन्त गुण-कारक होने पर भी सहसा सेवन नहीं की जा सकती किन्तु काव्य द्वारा उपदेश आह्लादक एवं मधुर अमृत के समान औषध रूप है जो सहज ही रुचिपूर्वक सेवन की जा सकती है। कहा है—

'कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम्।
आह्लाद्यमृतवत्काव्यमविवेकगदापहम्" ॥

—वक्रोक्तिजीवित पृ० ६

काव्य द्वारा किस प्रकार उपदेश प्राप्त होता है इसके उदाहरण में काव्यों के मूल-स्रोत श्रीरामचरित्रात्मक श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण आदि काव्यों पर दृष्टिपात कीजिये। इनमें भगवान् श्रीरामचन्द्र, भगवती जनकनन्दिनी, मातु श्री कौशल्या, एवं सुमित्रा और भरत, लक्ष्मण आदि के आदर्श चरित्रों एवं कैकयी आदि के अनिष्ट चरित्रों तथा रावणादि के पापाचरणों द्वारा तथा महाभारतादि सत्काव्यों में अनेकानेक इतिहासों के हृदयहारी वर्णनों में दिखाये गये उत्तम और निकृष्ट परिणामों द्वारा जो उपदेश प्राप्त हो सकता है वह वस्तुतः सहज और सुख-साध्य होने के कारण अन्य मार्गों से विलक्षण है। इसीलिये आचार्य भामह ने भी कहा है—

"स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटुभेषजम्" ॥

—काव्यालं० ५।३

अर्थात् काव्यरस के मधुर आस्वाद से मिश्रित शास्त्र विहित शिक्षा का ग्रहण सुख साध्य है जिस प्रकार मधुर वस्तु के लोभ से बालक कटु औषधि भी पी लेता है।

ऊपर किये विवेचन द्वारा निर्विवाद सिद्ध है कि काव्य का अध्ययन केवल मनोरंजन मात्र नहीं किंतु अत्यन्त प्रयोजनीय भी है।

———

काव्य-हेतु

जिसके द्वारा काव्य-रचना में कवि को सफलता प्राप्त होती है, अर्थात् जिसका होना कवि में परमावश्यक है, उसे काव्य का हेतु कहते हैं।

काव्य का हेतु क्या है, इस विषय में साहित्याचार्यों के विभिन्न मत हैं। अधिकांश आचार्यों का मत है कि कवि के लिये शक्ति, निपुणता और अभ्यास इन तीनों की ही परमावश्यकता है। इसके पूर्व कि इस विषय के विभिन्न मतों का उल्लेख किया जाय, इन तीनों की स्पष्टता करना आवश्यक है—

(१) 'शक्ति' का लक्षण रुद्रट ने यह लिखा है—

"मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधा विधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः"॥

—काव्यालं० १।१५

जिसके द्वारा सुस्थिर चित्त में अनेक प्रकार के वाक्यार्थ का स्फुरण और कठिनता रहित पदों का भान होता है, काव्य-रचना के समय तत्काल अनेक शब्द और अर्थ हृदयस्थ हो जाते हैं; उसे शक्ति कहते हैं। शक्ति ही काव्य-रचना का बीजभूत संस्कार है, इसके बिना काव्य रचना हो ही नहीं सकती, यदि हठात् की भी जाती है तो उपहास के योग्य होती है। शक्ति का ही पर्याय 'प्रतिभा' है। प्रतिभा कवि को जन्म के साथ ही साथ प्राप्त होती है अथवा पूर्व पुण्य के प्रभाव से किसी देवता के प्रसाद द्वारा जन्म के बाद भी किसी किसी को उपलब्ध हो जाती है। आचार्य रुद्रट ने इसको सहजा और उत्पाद्या दो भेदों में विभक्त किया है, जिनमें वह सहजा को ही मुख्य मानता है।

(२) 'निपुणता'। श्रुति, स्मृति, पुराण, नाट्य शास्त्र, काम-शास्त्र, योग-शास्त्र, आयुर्वेद, छन्द, व्याकरण, अभिधानकोश, कला, चतुर्वर्ग-साधन, रत्न-परीक्षा, गज, अश्वशास्त्र आदि विद्याओं के ग्रन्थों का एवं काव्य, एवं काव्य-शिक्षा विषयक और इतिहास ग्रन्थों का अध्ययन तथा स्थावर, जङ्गम आदि के लोक-व्यवहार का ज्ञान प्राप्त करना, संक्षेप में काव्य के लिये उपयोगी

निपुणता के यही साधन हैं। यों तो कवि के लिये सभी विषयों के ज्ञान की परमावश्यकता है, भामह ने कहा है—

"न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः" ॥

—काव्यालं० ५।४

निपुणता का पर्याय व्युत्पत्ति भी है।

(३) 'अभ्यास' तो प्रसिद्ध ही है। काव्य के निर्माण और उसके सदसद् के विचार में योग्य विद्वानों द्वारा शिक्षा प्राप्त करना और काव्य के निर्माण एवं अध्ययन में निरन्तर प्रवृत्त रहने को अभ्यास कहते हैं। अभ्यास द्वारा सुसंस्कृत प्रतिभा ही काव्यामृत उत्पन्न करने के लिये कामधेनु है। कहा है—

'अभ्यासो हि कर्मसु कौशलमावहति।'

अच्छा, अब इसपर साहित्याचार्यों के मत देखिये। भामह का मत है—

"काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः।

—काव्यालं० १।५

शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम्" ॥
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः"।

—काव्यालं० १।१०

अर्थात् भामह शक्ति, निपुणता और अभ्यास तीनों को काव्य का हेतु बतलाते हैं। और भामह के बाद दण्डी भी—

"नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः" ॥

—काव्याद० १।१०३

इस पद्य में तीनों को काव्य का कारण मानता है। किन्तु इसके अनन्तर दण्डी यह भी कहता है—

"न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना,
गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता,
ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्" ॥
तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती,
श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा,
विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते" ॥

—काव्याद० १।१०४,१०५

अर्थात् दण्डी प्रतिभा के अभाव में भी केवल निपुणता और अभ्यास को ही काव्य रचना का कारण बताता है।

इसके अनन्तर रुद्रट ने दण्डी का यह मत स्वीकार न करके भामह का अनुसरण किया है। उसने कहा है—

"तस्यासारनिरासात्सारग्रहणाच्च चारुण करणे।
त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः" ॥

—काव्यालं० १।१४

अर्थात् रुद्रट भी तीनों की आवश्यकता बताता है। मम्मटाचार्य ने भी दण्डी के मत को स्वीकार नहीं किया किन्तु भामह और रुद्रट के मत के साथ अपनी अनुमति दी और यह भी स्पष्ट कहा—

"शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥"

—काव्यप्र० १।३

और इसकी वृत्ति में यह भी कह दिया है—

'त्रयः सम्मिलिता .... हेतुर्नतु हेतवः।'

अर्थात् आचार्य मम्मट इन तीनों को पृथक् पृथक् स्वतंत्र कारण नहीं मानते किन्तु तीनों ही को सम्मिलित रूप में एक ही कारण स्वीकार करते हैं।

प्रथम वाग्भट जैन आचार्य भी—

"प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्।
भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्याद्यकविसंकथा॥"

—वाग्भटालं० १।३

इस कारिका में तीनों ही को आवश्यक बताते हैं। सारांश यह कि उपर्युक्त आचार्य शक्ति, निपुणता और अभ्यास तीनों को ही काव्य का हेतु मानते हैं। किन्तु कुछ आचार्य केवल प्रतिभा या शक्ति को ही काव्य का एक मात्र स्वतन्त्र कारण मानते हैं। इस मत के प्रतिपादक उपलब्ध ग्रन्थों में सर्वप्रथम वामन हैं। वामन ने कहा है—'कवित्वबीजं प्रतिभानम्' (काव्यालं० सूत्र १।३।१६) राजशेखर का भी यही मत है। राजशेखर ने इस मत की पुष्टि में मेधावी रुद्र और कुमारदासादि का उदाहरण दिया है जिन्होंने जन्मान्ध कवि होने के कारण न तो शास्त्रों के अध्ययन से व्युत्पत्ति ही प्राप्त की थी और न अभ्यास ही बल्कि केवल प्रतिभा द्वारा काव्य निर्माण किया था। राजशेखर ने कहा है—

'सा केवलं काव्ये हेतुः इति यायावरीयः'।

—काव्यमी० पृ० ११

द्वितीय वाग्भट राजशेखर का अनुयायी है, उसने भी यही कहा है—

'प्रतिभैव च कवीनां काव्यकरणकारणम्।
व्युत्पत्त्यभ्यासौ तस्या एव संस्कारकारकौ न तु काव्यहेतू॥'

—काव्यानु० पृ० २ टीका

पण्डितराज जगन्नाथ ने अपनी आलोचना से इस विषय को भी अस्पृश्य नहीं रखा, वे प्रतिभा को काव्य का एक मात्र स्वतन्त्र कारण मानते हुए भी उसको दो भेदों में विभक्त करते हैं, एक प्रारब्धवश किसी देवता या महापुरुष के प्रसाद द्वारा प्राप्त अदृष्ट शक्ति और द्वितीय, व्युत्पत्ति और काव्य निर्माण के अभ्यास द्वारा प्राप्त शक्ति। अर्थात् जिस प्रकार अदृष्ट शक्ति को वे काव्योत्पत्ति का स्वतंत्र कारण मानते हैं उसी प्रकार व्युत्पत्ति और अभ्यास-जन्य शक्ति को भी स्वतंत्र कारण ही मानते हैं, न कि तीनों के समूह को सम्मिलित रूप में एक ही कारण।

यद्यपि इनका यह मत अधिकांश में दण्डी के मत के समान है फिर भी इनका यह विवेचन आलोचनात्मक होने कारण विलक्षण प्रतीत होता है।

ऊपर के विवरण द्वारा स्पष्ट है कि अधिकांश आचार्यों का मत यही है कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास ये तीनों सम्मिलित रूप में ही काव्य के कारण हैं। इनमें प्रतिभा की प्रधानता अवश्य है, क्योंकि काव्य-रचना के लिये कवि के हृदयस्तल में शब्दों और अर्थों का परिस्फुरण एवं पद-योजना का बीजभूत कारण प्रतिभा ही है। यदि काव्य-रचना करने की शक्ति ही न हो तो शास्त्र-जन्य व्युत्पत्ति एवं अभ्यास निष्फल है। फिर भी सारासार के औचित्य का विचार व्युत्पत्ति पर ही अवलम्बित है। अतएव भगवान् वेदव्यास ने आज्ञा की है—

"कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र च दुर्लभा।
व्युत्पत्तिर्दुर्लभा तत्र विवेकस्तत्र दुर्लभः॥"

—अग्निपुराण ३३७।४

और अभ्यास तो सर्वत्र ही वाञ्छनीय है। प्रथमावस्था और अभ्यस्तावस्था के कार्य में प्रत्यक्ष ही अन्तर दृष्टिगत होता है। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—'व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्यां संस्कार्या।' अर्थात् जिस प्रकार रत्न को चमत्कृत करने के लिये संस्कार—शाणोत्तीर्ण—करना आवश्यक है, उसी प्रकार काव्य को चमत्कृत एवं मनोरञ्जक करने के लिये व्युत्पत्ति और अभ्यास परमावश्यक है, क्योंकि व्युत्पत्ति और अभ्यास प्रतिभा के उपकारक हैं। इसीलिये हमारे विचार में मम्मट आदि के मतानुसार प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों को सम्मिलित रूप में ही 'काव्य-हेतु' मानना उचित है। मेधाविरुद्र आदि के उदाहरण सर्वत्र लागू नहीं हो सकते।

———

काव्य का लक्षण

काव्य और कवि शब्द का अर्थ

'काव्य' शब्द का अर्थ कवि की कृति है—'कवि द्वारा जो कार्य किया जाय उसे काव्य कहते हैं—'कवेरिदं कार्यं भावो वा (ष्यज्)— (मेदिनीकोष) 'कवनीयं काव्यम्' (अभिनवगुप्ताचार्य का ध्वन्यालोकलोचन,) 'कवयतीति कविः तस्य कर्म काव्यम् ।' (विद्याधर की एकावली) । अच्छा, अब यह ज्ञातव्य है कि 'कवि' शब्द का क्या अर्थ है—

'कवते सर्वं जानाति सर्वं वर्णयतीति कविः । यद्वा कु शब्दे + अच् =इः (शब्द कल्पद्रुम) तथैव 'कवते श्लोकान् ग्रथते वर्णयति वा (अमरकोष)

अर्थात् सर्वज्ञ और सब विषयों का वर्णन करने वाले को कवि कहते हैं। अतएव इसी व्यापक अर्थ के अनुसार सर्वप्रथम श्री परमेश्वर के लिये वेदों में कवि शब्द का प्रयोग दृष्टिगत होता है—'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः ।' (शुक्ल यजु० ४०।८.) फिर 'आदि कवि' का प्रयोग वेदों के प्रकाशक श्री ब्रह्माजी के लिये किया गया है—'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये ।' (श्रीमद्भागवत १।१।१) इसके बाद अन्य महर्षियों एवं विभिन्न शास्त्र-प्रणेताओं के लिये भी 'कवि' शब्द का प्रयोग देखा जाता है। तात्पर्य यह कि प्रारम्भ में 'कवि' का प्रयोग अधिकाधिक व्यापक अर्थ में किया गया है। किन्तु काव्य-प्रणेता के लिये विशेष रूप मे संभवतः सबसे प्रथम महर्षि वाल्मीकि जी के लिये आदिकवि, तथैव भगवान् श्री वेदव्यास के लिये 'कवि' शब्द का प्रयोग दृष्टि-गत होता है। और इसीके अनुसार आदिकाव्य का प्रयोग श्रीवाल्मीकीय रामायण के एवं 'काव्य' का प्रयोग महाभारत के लिये किया गया है। श्रीवाल्मीकीय रामायण के तो प्रत्येक सर्ग के अन्त में 'इत्यार्षे आदिकाव्ये' का उल्लेख है। और महाभारत के विषय में—'कृतं मयेदं भगवन् काव्यं परमपूजितम् ।'—(महाभा० १।६१) यह वाक्य स्वयं श्रीवेदव्यास जी का है। इसके द्वारा विदित होता है कि 'कवि'

शब्द का प्रयोग महर्षि वाल्मीकि के समय से ही एक विशिष्ट प्रकार की चित्ताकर्षक रमणीय शैली के रचनात्मक ग्रन्थ के रचयिता के लिये प्रचलित है। वेदव्यास भगवान् के—

'अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते[1]।'

—अग्निपुराण ३३९।१०

इस पद्य में जो कवि को एतादृश महत्त्व दिया गया है, उसके द्वारा भी स्पष्ट है कि 'कवि' शब्द प्रतिभा-सम्पन्न एक विशेष प्रकार की असाधारण शैली की रचना करनेवाले विद्वान् के अर्थ में योगरूढ़ कर दिया गया है। तदनन्तर तो सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों द्वारा कवि और काव्य शब्द इसी विशेष अर्थ में रूढ़ हो गया है, जैसा कि भामह के—

'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता,
तदनुप्राणनाज्जीवेद् वर्णनानिपुणः कविः।'
तस्य कर्म स्मृतं काव्यम्।'[2]

और मम्मट के

काव्यम् 'लोकोत्तारवर्णनानिपुणकविकर्म...।'

—काव्यप्रकाश प्रथमोल्लास पृ० १२

इत्यादि वाक्यों द्वारा स्पष्ट है।

---

१ काव्य रूपी अपार-संसार में कवि ही प्रजापति है—काव्य-संसार का सृष्टिकर्त्ता कवि ही है; कवि को यह संसार जिस प्रकार ईप्सित होता है उसी प्रकार यह परिवर्तित हो जाता है।

२ यह पद्य वामन के अलङ्कार सूत्र (१।३।१) की कामधेनु टीका में गोपेन्द्रत्रिपुरहर ने भामह के नाम से उद्धृत किया गया है पर भामह के काव्यालङ्कार में दृष्टिगत नहीं होता है। हेमचन्द्र ने यह पद्य नामोल्लेख के बिना काव्यानुशासन के विवेक में उद्धृत किया है।

काव्य का लक्षण

श्री भरतमुनि का काव्य-लक्षण

अच्छा, यह तो हुआ काव्य और कवि शब्द का शब्दार्थ। अब यह विवेचनीय है कि जिस कवि-कृति को काव्य कहा गया है उसका स्वरूप क्या है—काव्य का लक्षण क्या है। इस विषय में प्रायः सभी सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों ने अपने-अपने मतानुसार काव्य लक्षण का निर्माण किया है। सबसे प्रथम हमको काव्य के लक्षण के रूप में नाट्यशास्त्र में महामुनि भरत का यह पद्य मिलता है—

> 'मृदुललितपदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनं
> जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।
> बहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं,
> स भवति शुभकाव्यं नाटकप्रेक्षकाणाम्।
>
> —नाट्यशास्त्र १६।११८

अर्थात् (१) कोमल और मनोहर पदों से युक्त, (२) गूढ शब्द और अर्थ रहित, (३) सब लोगों के समझने में सुगम, (४) युक्ति-युक्त, (५) नृत्य में उपयोग करने योग्य, (६) रस के बहुत से स्रोत बहानेवाला, और (७) सन्धियों के सन्धान सहित हो वह काव्य उत्तम होता है।

इसमें काव्य के सात विशेषण हैं। प्रथम और दूसरे विशेषण में काव्य के उपयोगी शब्दार्थ का ग्रहण है। प्रथम द्वितीय और तृतीय विशेषणों में माधुर्य एवं प्रसादादि गुणों का ग्रहण है और द्वितीय विशेषण में दोषों से रहित होना कहा गया है। चतुर्थ विशेषण में संभवतः अलङ्कारादि का ग्रहण है एवं छठे विशेषण में काव्य का रसयुक्त होना कहा गया है। और पञ्चम और सप्तम विशेषण में दृश्य-काव्य (नाटिकादि) के उपयोगी विषयों का ग्रहण किया गया है।

अग्निपुराण का काव्य-लक्षण

नाट्यशास्त्र के बाद अग्निपुराण में—

'शास्त्रे शब्दप्रधानत्वमितिहासेषु निष्ठता ।
अभिधायाः प्रधानत्वात्काव्यं ताभ्यां विभिद्यते ।'

—अग्निपुराण ३३७।२-३

इस वाक्य द्वारा भगवान् वेदव्यास जी ने शास्त्र इतिहास से काव्य की पृथक्ता दिखाकर काव्य का लक्षण यह किया है—

'संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ।
काव्यं स्फुरदलङ्कारं गुणवद्दोषवर्जितम् ।'

—अग्निपुराण ३३७।६-७

अर्थात् दोष-रहित, अलङ्कारसहित और गुणयुक्त पदावली—ऐसी पदावली जिसमें अभीष्ट अर्थ सक्षेप में भली प्रकार कहा जाय, काव्य है।

भामह का काव्य-लक्षण

अग्निपुराण के पश्चात् भामह ने काव्य का लक्षण यह दिया है—

'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् ।' काव्यालङ्कार १।१६

दण्डी का काव्य-लक्षण

भामह के बाद दण्डी ने—

'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ।'

—काव्यादर्श १।१०

यह लक्षण लिखा है। दण्डी ने अग्निपुराण के 'संक्षेपाद्वाक्य' के स्थान पर 'शरीर' रख दिया है। किन्तु काव्यमर्मज्ञ विद्वान् इस लक्षण को अपूर्ण मानते हैं। क्योंकि दण्डी ने 'पदावली' को काव्य का शरीर माना है तो काव्य की आत्मा क्या है ? यह प्रश्न शेष रह जाता है। अस्तु, भामह और दण्डी ने यद्यपि लक्षण में दोषाभाव और सालङ्कार का समावेश नहीं किया है किन्तु भामह के—

'सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत् ।'

—काव्यालं० १।११

'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ।'

—काव्यालं० १।१३—

और दण्डी के—

"तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥"

—काव्यादर्श-१।७

"तै: शरीरं च काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिताः।"

—काव्यादर्श १।१०

इन वाक्यों द्वारा स्पष्ट है कि भामह और दण्डी ने दोष-रहित और अलङ्कार-सहित शब्दार्थ को ही काव्य माना है। अतएव भामह और दण्डी स्थूल रूप से अग्निपुराण के ही अनुयायी हैं। किन्तु अग्निपुराण में रस ही काव्य का प्राणभूत माना गया है—

'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।

—अग्निपुराण ३३७।३३

यद्यपि भामह ने—

'युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्।'

—काव्यालं० १।२१

इस वाक्य मे महाकाव्य मे रस की स्थिति होना आवश्यक बताया है। और दण्डी ने भी—

'कामं सर्वोऽप्यलङ्कारो रसमर्थे निषिञ्चति। (काव्याद० १।६२)

इस वाक्य में अलङ्कारों को रस के उत्कर्षक कहकरे काव्य मे रस की मुख्यता स्वीकार की है फिर भी भामह और दण्डी ने अलङ्कारों को ही प्रधानता दी है सा कि इन दोनों के विवेचन द्वारा प्रतीत होता।

वामन का काव्य-लक्षण

भामह और दण्डी के बाद वामन ने 'काव्य' शब्द की स्पष्टता में—

'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात् ।' 'सौन्दर्यमलङ्कारः ।' 'स दोषगुणालङ्कार-हानादानाभ्याम् ।' (काव्यालङ्कार सूत्र १।१।१,२,३)

यह तीन सूत्र लिखकर प्रथम सूत्र की वृत्ति में लिखा है—

'काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते । भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते ।'

अर्थात् प्रथम सूत्र में वामन कहता है कि काव्य अलङ्कार सहित होने से ग्राह्य है । दूसरे सूत्र में कहता है 'सौन्दर्य ही अलङ्कार है' । और तीसरे सूत्र में वह कहता है । काव्य का दोष-रहित और गुण एवं अलङ्कार सहित होना ही सौन्दर्य है । फिर प्रथम सूत्र की वृत्ति में वामन यह कहता है कि 'काव्य' शब्द ऐसे शब्दार्थ का वाचक है जिसमें गुण और अलङ्कार दोनों हों । 'काव्य' के लक्षण में केवल 'शब्दार्थ' मात्र कहना लाक्षणिक[1] प्रयोग है ।

यहां तक तो काव्य के लक्षण के विषय में वामन और उसके पूर्ववर्ती भामह आदि का अधिकांश में मतैक्य ही प्रतीत होता है किन्तु इसके आगे—रीतिरात्मा काव्यस्य ।' (काव्यालं० सूत्र १।२।६) इस सूत्र और इसकी—'रीतिर्नामेयमात्मा काव्यस्य । शरीरस्येवेति वाक्यशेषः ।' इस वृत्ति द्वारा वामन 'रीति'[2] को काव्य की आत्मा और शब्दार्थ को काव्य का शरीर मानता है । वामन का यह मत इसके पूर्ववर्ती भामह आदि सभी आचार्यों से बिलकुल भिन्न है ।

---

१ जैसे 'कौओं से दही की रक्षा करो' इस वाक्य द्वारा केवल कौओं का ही नहीं किन्तु लक्षणा (उपादान लक्षणा) द्वारा जिस प्रकार दधि-भक्षक मात्र का अर्थ ग्रहण किया जाता है उसी प्रकार 'काव्य' शब्द से शब्दार्थ के साथ गुण और अलङ्कार दोनों का ग्रहण किया गया है ।

२ वामन ने वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली—तीन रीतियाँ मानी हैं । ये रीतियाँ माधुर्य आदि गुणों पर निर्भर हैं । इस विषय में अधिक स्पष्टता आगे रीति सम्प्रदाय के अन्तर्गत की जायगी ।

वामन के अनन्तर आचार्य रुद्रट ने भामह का अनुसरण करते हुए काव्य का लक्षण तो 'ननु[1] शब्दार्थौ काव्यम् ।' (२।१ पृ० ८) यही लिखा है पर रुद्रट के विवेचन द्वारा स्पष्ट है कि वह भी दोष-रहित और अलङ्कार-सहित शब्दार्थ को ही काव्य मानता है। इसके सिवा रुद्रट काव्य रस की स्थिति का होना भी परमावश्यक बतलाता है—

रुद्रट का काव्य-लक्षण

'तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम् ।'

—काव्यालङ्कार १२।२ पृ० १५०

रुद्रट के बाद ध्वन्यालोक-प्रणेता ध्वनिकार एवं श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने पूर्ववर्ती भामह आदि के लिखे हुए काव्य के सभी लक्षणों को अनुपयुक्त समझ कर अपने नवीन किन्तु दृढ़मूल ध्वनि-सिद्धांत[2] द्वारा काव्य की आत्मा ध्वन्यर्थ (व्यंग्यार्थ) को ही ध्वन्यालोक में सिद्ध किया है।

ध्वनिकार का मत

कुन्तक का काव्य-लक्षण

ध्वन्यालोक के बाद 'वक्रोक्तिजीवित' प्रणेता राजानक कुन्तक ने—

'न शब्दस्यैव रमणीयताविशिष्टस्य केवलस्य काव्यत्वं नाप्यर्थस्येति ।' (वक्रोक्तिजी० पृष्ठ १०)

इस वाक्य में भामहादि के अनुसार शब्द और अर्थ दोनो को काव्य बतलाया है। पर कुन्तक ने वक्रोक्ति-गर्भित[3] (उक्ति-वैचित्र्य वाले) शब्दार्थ को ही काव्य माना है—

---

१ 'ननु' शब्द का प्रयोग रुद्रट ने प्रश्न के उत्तर के लिये किया है। इसकी व्याख्या में नमिसाधु ने लिखा है—'ननु शब्दः पृष्ठप्रतिवचने।'

२ ध्वनि और ध्वन्यार्थ की अधिक स्पष्टता आगे ध्वनि-सम्प्रदाय के अन्तर्गत की गई है।

३ वक्रोक्ति के विषय में आगे वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के अन्तर्गत विवेचन किया गया है।

'शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाल्हादकारिणि ।'

वक्रोक्तिजी० १।७ पृ० ७

इसके बाद धाराधीश महाराज भोज ने यद्यपि काव्य का लक्षण स्पष्टतया नहीं लिखा है। परन्तु भोज के—

भोजराजा का काव्य-लक्षण

'निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलंकृतम्,
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्ति प्रीतिं च विंदति ।'

—सरस्वतीकण्ठाभरण १।२ पृ० २

इन वाक्यों द्वारा काव्य के लक्षण के विषय में उसका यही मत समझा जा सकता है। इसमें भोज ने दोषाभाव और गुण अलङ्कार के सिवा रस का भी समावेश स्पष्ट कर दिया है।

भोजराज के अनन्तर सुप्रसिद्ध साहित्याचार्य मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में काव्य का लक्षण लिखा है—

मम्मट का काव्य-लक्षण

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि ।'

अर्थात आचार्य मम्मट ने दोष रहित, गुण एवं अलङ्कार युक्त और कहीं स्फुट अलङ्कार न भी हो ऐसे शब्द और अर्थ को काव्य बताया है।

हेमचद्र और विद्यानाथ का काव्य-लक्षण

आचार्य मम्मट के बाद हेमचन्द्राचार्य ने—

'अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम् ।'

—काव्यानुशासन प्रथम अध्याय पृ० १६

और प्रतापरुद्रयशोभूषण के प्रणेता विद्यानाथ ने—

'गुणालङ्कारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ काव्यम् ।'

यह लक्षण लिखा है। हेमचन्द्र और विद्यानाथ ने मम्मटाचार्य का अनुसरण करते

हुए भी काव्यप्रकाश के 'अलङ्कृती' पद के स्थान पर 'सालङ्कारौ' का प्रयोग किया है। वाग्भट प्रथम ने—

वाग्भट का काव्य-लक्षण

'साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालङ्कारभूषितम्,
स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यंकुर्वीत कीर्तये।'

—वाग्भटालङ्कार १।२ पृ० ४

वाग्भट ने ऐसे शब्दार्थ को, जो गुण अलङ्कार से भूषित और 'रीति' एवं रस से युक्त हो काव्य बताया है। द्वितीय वाग्भट ने—

शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालङ्कारौ काव्यम्।

—काव्यानुशासन पृ० १४

इसमें प्रायः काव्यप्रकाश का अनुसरण है।

इनके बाद चन्द्रालोक प्रणेता पीयूषवर्ष जयदेव के—

जयदेव का काव्य लक्षण

'निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता,
सालंकाररसानेकवृत्तिर्वाकाव्यनामभाक्।'

चन्द्रालोक १।७

इस लक्षण में 'वृत्ति' का समावेश करके काव्य के सभी विषय रख दिये गये हैं।

जयदेव के बाद साहित्य-दर्पण में महाकवि विश्वनाथ ने अपने

विश्वनाथ का काव्य लक्षण

पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य का अनुसरण न करके—

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।' (साहित्यदर्पण १।३)

यह स्वतंत्र लक्षण लिखा है। विश्वनाथ का कहना है कि रसात्मक वाक्य ही काव्य है। रस शब्द का विश्वनाथ ने रूढ़-अर्थ केवल शृङ्गारादि रस ही नहीं ग्रहण किया है किन्तु 'रस्यतेइति रसः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार रस शब्द के 'जो आस्वादित हो', इस यौगिक अर्थ के अनुसार भाव और भावाभास आदि का भी ग्रहण किया है। विश्वनाथ का यह लक्षण अधिकांश में शुद्धोदनि की*—

* शुद्धोदनि की कारिकाएँ हो केशव मिश्र ने अपने अलङ्कार-शेखर में लिखी हैं।

'काव्यं रसादिमद्वाक्यम् ।' (अलङ्कारशेखर १।१) इस कारिका पर निर्भर है । किन्तु इस कारिका में 'रसादि' में आदि पद द्वारा अलङ्कार आदि अन्य पदार्थों का भी ग्रहण किया गया है, पर विश्वनाथ केवल रसात्मक वाक्य को ही काव्य बतलाते हैं ।

विश्वनाथ के बाद पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य का—

पण्डितराज का काव्य-लक्षण

'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।'

—रसगङ्गाधर

यह लक्षण लिखा है । इसमें रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को ही काव्य बताया गया है । पण्डितराज को शब्द और अर्थ दोनों का काव्य कहा जाना स्वीकृत नहीं और न काव्य के लक्षण में दोष-रहित एवं गुण, अलंकार आदि का प्रयोग किया जाना ही । आप सारी रमणीयता का मूल-कारण केवल रस को ही नहीं मानते किन्तु आपके मत में किसी भी अर्थ के ज्ञान से अलौकिक आनन्द—वह कम हो या पर्याप्त—उपलब्ध हो जाय वही रमणीयता का आधायक होने से काव्य-शब्द-वाचक हो सकता है । पण्डितराज ने अपने इस मत का प्रतिपादन करते हुए शब्द और अर्थ दोनों को काव्य बताने वाले भामह आदि एवं काव्य के लक्षण में 'अदोषौ' और 'सगुण' आदि का प्रयोग करने वाले मम्मट जैसे सुप्रसिद्ध आचार्यों की विस्तृत आलोचना की है । इसके विषय में आगे विवेचन किया जायगा । बस पण्डितराज के समय तक ही काव्य के विवेचक सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों की अन्तिम सीमा है ।

काव्य के लक्षण पर विभिन्न आलोचनाएँ

ऊपर के विवेचन से विदित हो सकता है कि काव्य की परिभाषा समय-समय पर विभिन्न आचार्यों द्वारा परिवर्तित होती रही है । इस विषय में कुछ आचार्यों द्वारा अपने मत को स्थापित करके लिये अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मत की आलोचनाएँ भी की गई हैं । पर विचारणीय यहाँ यह है कि उन आलोचनाओं में कितना तथ्यातथ्य है । और इस परीक्षा में किस आचार्य की

दी हुई काव्य-परिभाषा यथार्थ उत्तीर्ण हो सकती है। अतएव इस विषय का भी यहाँ कुछ दिग्दर्शन कराया जाना उपयुक्त होने के कारण आवश्यक है। यों तो विषय-विशेष के सम्बन्ध में मतभेद होने के कारण संक्षिप्त रूप में आलोचनात्मक विवेचन भामह के समय से ही मिलता है, जैसा कि इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में भामह, भट्टि और दण्डी विषयक निबन्धों में उल्लेख किया गया है। किन्तु काव्य-लक्षण के विषय में सर्वप्रथम आलोचनात्मक विवेचन का सूत्रपात हमको वामन के काव्यलङ्कार सूत्र में संक्षिप्त रूप में दृष्टिगत होता है। वामन के पूर्ववर्ती भामह आदि द्वारा काव्य के लक्षण में 'शब्दार्थौ' का प्रयोग किया गया है, उसे वामन ने लाक्षणिक प्रयोग बताया है। और शब्द अर्थ को काव्य का शरीर बतला कर 'रीति' को काव्य का आत्मा माना है। अर्थात् वामन के पूर्ववर्ती भामहादिक काव्य में अलङ्कार को प्रधानता दे रहे थे किन्तु वामन ने रीति को प्रधानता दी है। पर इसके इस मत को आचार्य मम्मट ने बड़ी युक्ति-युक्त और सारगर्भित आलोचना द्वारा निर्मूल सिद्ध कर दिया है, जैसा कि आगे रीति सम्प्रदाय के अन्तर्गत स्पष्ट किया जायगा।

वामन के समकालीन उद्‌भटाचार्य ने अपने पूर्ववर्ती उन साहित्याचार्यों के मत की—जिन्होंने गुणों को समवाय वृत्ति से और अलङ्कारों को संयोगवृत्ति से काव्य का शोभाकारक मानकर गुणों और अलङ्कारों में भेद बतलाया है—आलोचना करते हुए इस मत को गड्डुलिका प्रवाह (भेड़ियाधसान) कह कर गुण और अलङ्कार दोनों को ही समवाय वृत्ति से काव्य का शोभा कारक माना है। भामह से वामन और उद्‌भट के समय तक काव्य के लक्षण में अलङ्कार और गुण का ही प्रधानतया समावेश होता रहा है अतएव काव्य में गुण प्रधान है या अलङ्कार, इसी विषय में उद्‌भट द्वारा यह आलोचना की गई है। किन्तु आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के अष्टमोल्लास (कारिका ६७ की वृत्ति) में उद्‌भट के इस मत की आलोचना में बहुत से उदाहरण दिखा कर गुणों और अलङ्कारों में स्पष्टतया भेद सिद्ध कर दिया है और काव्य के प्राणभूत अङ्गी रस के साथ गुण का और अलङ्कार का क्या सम्बन्ध है वह भी स्पष्ट

कर दिया है। इस विषय का अधिक स्पष्टीकरण आगे अलङ्कार सम्प्रदाय और रीति सम्प्रदाय के अन्तर्गत किया जायगा।

वामन और उद्भट के बाद ध्वनिकार ने ध्वन्यालोक के प्रारम्भ में ही काव्य के लक्षण के विषय में अपने पूर्वाचार्यों के विभिन्न मत उद्धृत करके और उस पर बहुत विस्तार के साथ आलोचनात्मक विवेचन करके 'काव्य की आत्मा ध्वन्यार्थ—व्यंग्यार्थ ही है' इस मत को दृढ़ प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया है। ध्वनिकारों के ध्वनि-प्रतिपादक इस मत की राजानक कुन्तल ने अपने वक्रोक्ति-जीवित ग्रन्थ में और महिम भट्ट ने अपने व्यक्तिविवेक ग्रन्थ में बहुत विस्तार के साथ आलोचना करके कुन्तल ने 'वक्रोक्ति' के और महिम ने अनुमान के अन्तर्गत ध्वनि को समावेश करने की यथेष्ट चेष्टा की है। यहां तक कि इन दोनों द्वारा लिखे गये उक्त दोनों ग्रन्थों का एक मात्र उद्देश्य ही ध्वनि सिद्धान्त को उच्छिन्न करने का था। किन्तु कुन्तक और महिम दोनों के ही ध्वनि-विरोधात्मक मत, दृढ़-मूल न होने के कारण परवर्ती सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों ने उन मतों को स्वीकार न करके उनका खण्डन और 'ध्वनि' का समर्थन किया है। इसके सिवा महिमभट्ट के इस मत की तो काव्य प्रकाश के पञ्चमोल्लास में विस्तृत आलोचना करके आचार्य मम्मट ने उसको सर्वथा भ्रान्त सिद्ध कर दिया है। इस विषय की विस्तृत विवेचना आगे ध्वनि-सम्प्रदाय और वक्रोक्ति सम्प्रदाय के अन्तर्गत की जायगी। अतएव यहां इस विषय पर अधिक विवेचन अनावश्यक है।

ध्वन्यालोक के बाद आलोचना का विषय आचार्य मम्मट द्वारा काव्यप्रकाश में लिखा गया काव्य का लक्षण है जिसको विभिन्न साहित्याचार्यों द्वारा की गई आलोचना का केन्द्र कहना उचित होगा। इसके प्रथम कि उन आलोचनाओं पर विवेचन किया जाय काव्य प्रकाशोक्त लक्षण का स्पष्टीकरण किया जाना उपयुक्त होगा। काव्यप्रकाश में काव्य का लक्षण—

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृतीपुनःक्वापि।'

यह दिया गया है।

इस लक्षण में ऐसे शब्द और अर्थ को काव्य बताया गया है, जो दोष-रहित और गुण अलङ्कार सहित हों तथा कहीं अलङ्कार स्पष्ट न भी हो। इस लक्षण में 'शब्द' के प्रयोग द्वारा तीनों प्रकार के—वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक शब्दों का और 'अर्थ' के प्रयोग द्वारा तीनों प्रकार के—वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य अर्थों का ग्रहण किया गया है। 'वाच्यार्थ' द्वारा वन, नदी आदि वस्तु वर्णनात्मक और अलङ्कार रचनात्मक काव्य के चमत्कार का तथा लक्ष्यार्थ द्वारा लक्षणा शक्ति के चमत्कार का समावेश हो जाता है। और व्यंग्यार्थ द्वारा अभिधा मूलाध्वनि के अन्तर्गत रस, रसाभास एवं भाव आदि असंलक्ष्य-क्रम-ध्वनि के और वस्तु-ध्वनि, अलङ्कार-ध्वनि आदि संलक्ष्यक्रम-ध्वनि के एवं लक्षणा-मूला—अविवक्षित वाच्य-ध्वनि के अन्तर्गत अर्थान्तर संक्रमितध्वनि तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य-ध्वनि के चमत्कार का समावेश हो जाता है। इस प्रकार काव्य के लक्षण में काव्यत्व की प्रतिष्ठा प्राप्त होने योग्य सभी रचनाओं का समावेश करके फिर आचार्य मम्मट ने—

'इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः।'
'अतादृशि गुणीभूतव्यंग्यं व्यंग्ये तु मध्यमम्।'
'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्।'

— काव्यप्रकाश १।५, ६

इन कारिकाओं द्वारा काव्य को तीन भेदों में—उत्तम, मध्यम और अधम—संज्ञा से विभक्त कर दिया है। इसके बाद फिर अष्टमोल्लास में रस एवं गुण, अलङ्कार का काव्य में क्या स्थान है, यह बताते हुए काव्य में रस का सर्वोपरि प्राधान्य भी स्पष्ट कर दिया है जैसा कि सत्तेप में पहले दिखाया गया है।

काव्यप्रकाशोक्त लक्षण पर आलोचनाएं और उनका खण्डन

प्रथम तो चन्द्रालोक में काव्यप्रकाशोक्त लक्षण के 'अनलंकृती' शब्द पर पीयूषवर्ष जयदेव ने आक्षेप किया है, मम्मटाचार्य को मूर्ख ठहराने के लिये उनकी दिल्लगी उड़ाई है कि—

'अङ्गी करोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती,' [1]
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती।'

—चन्द्रालोक १।८

किन्तु इस आक्षेप द्वारा स्वयं जयदेव उपहासास्पद हो गया है। क्योंकि 'अनलंकृती' का अर्थ स्वयं मम्मटाचार्य ने वृत्ति में 'अस्फुट अलङ्कार' स्पष्ट लिख दिया है। यह तो जयदेव भी सिद्ध नहीं कर सकता कि काव्य में सर्वत्र अलङ्कार की स्थिति स्फुट (स्पष्ट) रूप से ही रहती है—अस्पष्ट कहीं भी नहीं। अस्फुट अलङ्कार का उदाहरण स्वयं मम्मटाचार्य ने दिखाया ही है। काव्य में प्रायः ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें किसी अलङ्कार की स्पष्ट स्थिति नहीं होती। अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं, महर्षि वाल्मीकि का श्री रामायण के प्रारम्भ में ही—

'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमःशाश्वतीः समाः,
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।'

यह पद्य ऐसा है जिसमें स्पष्टतया किसी अलङ्कार की स्थिति नहीं है[२]।

और इस श्लोक में काव्यत्व का अभाव कहने का दुःसाहस तो जयदेव भी

---

१ जो विद्वान् अलङ्कार रहित शब्द और अर्थ को काव्य स्वीकार करता है, वह अग्नि को भी उष्णता-रहित क्यों नहीं मानता है ?

२ यदि यह कहा जाय कि इस पद्य के पूर्वार्द्ध में कहे हुए वाक्य को सिद्ध करने के लिये उत्तरार्द्ध में उसका कारण कहा जाने से 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार है। तो इसका उत्तर यह है कि काव्यलिङ्ग में जो 'कारण' (हेतु) कहा जाता है उसका 'कारण' शब्द द्वारा प्रयोग नहीं किया जाता—वह अर्थ द्वारा बोध हुआ करता है। कहा है—'गम्यमानहेतुत्वकस्यैव हेतोः सुन्दरत्वेन प्राचीनैः काव्यलिङ्गताभ्युपगमात्।' (काव्यप्रकाश की उद्योत व्याख्या) किन्तु यहाँ 'यत्' के प्रयोग द्वारा 'कारण' का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन किया गया है अतएव यहाँ किसी अलङ्कार की स्फुट स्थिति नहीं है।

नहीं कर सकता था। इसमें करुण रस की ध्वनि होने के कारण श्री वाल्मीकीय रामायण की रचना का मूलाधार यही श्लोक है। अतएव महान् साहित्याचार्य ध्वनिकार ने ध्वनि काव्य के उदाहरण में सर्वप्रथम इसका ही निर्वाचन किया है।

जयदेव के बाद अष्टादश भाषावारविलासिनी भुजङ्ग साहित्य को द[र्पण] में स्पष्ट दिखाने के अभिमानी विश्वनाथ ने काव्यप्रकाश के—

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।'

इस काव्य-लक्षण के प्रत्येक पद में दोष दिखाया है—

१ प्रथम तो इस लक्षण में प्रयुक्त 'अदोषौ' के विषय में विश्वनाथ का कहना है—"यदि दोष-रहित शब्दार्थ ही काव्य माना जायगा तो काव्य निर्विषय हो जायगा—किसी रचना को काव्य कहा ही न जा सकेगा। किन्तु—

'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः।
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः।
धिग्धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा।
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः × ।'

× यह पद्य हनुमान नाटक का है। भगवान् श्री रामचन्द्र द्वारा असंख्य राक्षसों का विनाश हो जाने पर अपने को धिक्कारते हुए रावण की उक्ति है कि प्रथम तो मेरे शत्रु का होना ही अपमान है ('मे' और 'अरयः' में यह ध्वनि है कि मुझ अलौकिक बल-शाली इन्द्रादि के विजेता का शत्रु होना ही बड़ा आश्चर्य है) इस पर भी वह (शत्रु) एक नहीं अनेक हैं फिर वह (शत्रु) तापस (यहाँ 'असौ' और 'तापस' में यह ध्वनि है कि वह शत्रु भी मनुष्य और मनुष्यों में भी बन में भटकने वाला, स्त्री वियोग से दुखित तापस अर्थात् पुरुषार्थ-हीन जो हम राक्षसों का भक्ष्य है) फिर उसका यहाँ ('यहाँ' में यह ध्वनि है कि मेरे समीप ही इस लङ्का में जो समुद्र के मध्य में मेरे द्वारा सुरक्षित है) आ जाना और मुझ रावण के जीते जी राक्षस-कुल का संहार करना ('जीवित' पद में काकाक्षिप्त ध्वनि यह है कि क्या

इस पद्य में विधेयाविमर्श दोष होने पर भी इस पद्य को महान् साहित्याचार्य श्री आनन्दवर्धन ने उत्तम काव्य ध्वनि के उदाहरण में (ध्वन्या० उद्योत ३।१६ की वृत्ति मे) दिखाया है। फिर इसमें काव्यत्व का अभाव तो माना ही नहीं जा सकता। अतएव ऐसे काव्यों में काव्यप्रकाशोक्त लक्षण को 'अदोषौ' के प्रयोग द्वारा अव्याप्ति होने के कारण इस लक्षण में 'अव्याप्ति'[1] दोष है।"

विश्वनाथ का यह आक्षेप सर्वथा निराधार है। काव्यप्रकाशोक्त लक्षण में प्रयुक्त 'अदोषौ' (दोष रहित) पद में ऐसे दोष का अभाव कहा गया है जो उद्देश्य की प्रतीति का प्रतिबन्धक हो[2]। अर्थात् कवि का उद्देश्य जिस-जिस व्यङ्ग्यार्थ और वाच्यार्थ में वैचित्र्य (चमत्कार) दिखाने का हो उन सभी वैचित्र्यों की प्रतीति में जिसके द्वारा रुकावट होती हो। यदि कवि का उद्देश्य

में जी रहा हूँ, नहीं जीता हुआ ही मृतक तुल्य हूँ और 'रावण' पद में अर्थान्तर संक्रमित ध्वनि यह है कि मैं संसार को रुलाने वाला रावण, उसे यह तुच्छ तापस भयभीत कर रहा है) केवल मुझे ही नहीं इन्द्रजीत (मेघनाद) को भी धिक्कार है (ध्वनि यह कि इन्द्र को पराजित करके अपने को विश्वविजयी समझ कर मेघनाद का गर्व करना भी व्यर्थ है) और कुम्भकर्ण के जगाने का भी कुछ फल नहीं हो रहा है (ध्वनि यह कि जिस कुम्भकर्ण को निरुपम पराक्रमी समझ कर जगाया था वह भी कुछ न कर सका) अतएव स्वर्ग जैसे छोटे से गाँव को विध्वंस करके जिस गर्व से मैं अपनी भुजाओं को फुला रहा हूँ यह व्यर्थ ही है (ध्वनि यह कि जिन भुजाओं से मैंने कैलाश को उठा लिया था वे भुजाएँ भी हाय, इस समय कुण्ठित हो रही हैं।)

१ जो लक्षण अपने अभीष्ट उदाहरण में व्याप्त (घटित) नहीं हो सकता है उस लक्षण में अव्याप्ति दोष होता है।

२ कहा है—'दोषत्वं च मुख्योद्देश्यप्रतीतिप्रतिबन्धकत्वम्।' काव्यप्रकाश वामनाचार्य व्याख्या पृ० १९,२२० और देखिये सप्तमोल्लास के प्रारम्भ में प्रदीप एवं उद्योत व्याख्या पृष्ठ २४५ आनन्दाश्रम संस्करण सन् १९११।

व्यङ्ग्यार्थ और वाच्यार्थ दोनों के वैचित्र्य में हो, वहाँ दोनों की ही प्रतीति न हो, वही रचना काव्य न मानी जायगी। जहाँ वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के वैचित्र्य में एक के वैचित्र्य में रुकावट होने पर भी दूसरे के वैचित्र्य में रुकावट न होगी तो उसमें काव्यत्व का अभाव नहीं कहा जायगा। केवल एक अंश में दोष होने के कारण वह आंशिक दुष्ट काव्य कहा जा सकता है। उपर्युक्त 'न्यक्का-रोह्ययमेव' पद्य में कवि का प्रधान उद्देश्य, जो रावण द्वारा अपने विषय में दुःख का अतिशय सूचना कराना है, वह 'न्यक्कारोह्ययमेव' इस पद्य के 'अदरयः' 'तत्राप्यसौतापसः' इत्यादि वाक्यों के व्यङ्ग्यार्थ द्वारा सूचित होता है। काव्यप्रकाश में इस पद्य में जो 'अविमृष्टविधेयांश' दोष कहा गया है वह 'न्यक्कारो' और 'ह्यय-मेव' इन पदों के पूर्वापर प्रयोग में वाक्यगत दोष बताया गया है, न कि व्यङ्ग्यार्थ में क्योंकि व्यंग्यार्थ के चमत्कार में किसी प्रकार की रुकावट नहीं होती है। अत-एव इस पद्य में वाक्य-गत दोष होने पर भी व्यंग्यार्थ का वैचित्र्य अक्षुण्ण होने के कारण मम्मट के लक्षण की अव्याप्ति नहीं है। इसके सिवा मम्मट ने स्वयं —

'वक्त्राद्यौचित्यवशाद्दोषोऽपिगुणः क्वचित्क्वचिन्नोभौ।'

—काव्यप्र० ७।५९

यह लिख कर इसकी वृत्ति में उदाहरणों द्वारा स्पष्ट कर दिया है कि वक्ता, प्रति-पाद्य, व्यंग्य, वाच्य और प्रकरण आदि के औचित्य (महत्व) के कारण कहीं-कहीं दोष नहीं भी रहता है। यही नहीं कहीं दोष भी गुण हो जाता है। इस विषय का काव्यप्रदीप में पर्याप्त विवेचन किया गया है।

(२) विश्वनाथ का दूसरा आक्षेप यह है कि काव्यप्रकाशोक्त इस लक्षण में जो 'शब्दार्थौ' का 'सगुणौ' विशेषण दिया गया है, अर्थात् 'ऐसे शब्द और अर्थ जो गुण सहित हों' यह कहा गया है, वह भी ठीक नहीं। क्योंकि 'गुण' केवल रस में ही रहते हैं—शब्द और अर्थ में नहीं। स्वयं काव्यप्रकाशकार ने भी—

'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः
उत्कर्षहेतवस्तेस्युरचलस्थितयो गुणाः ।' †

—काव्यप्रकाश ८ ।६६

इस कारिका में यही स्वीकार किया है कि जैसे चेतन आत्मा के शूरता आदि धर्म हैं उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण काव्य के प्रधान भूत रस के ही धर्म हैं। और रस में गुणों की अचल स्थिति रहती है। ऐसी स्थिति में शब्द और अर्थ को 'सगुणौ' (गुणयुक्त) किस प्रकार कहा जा सकता है ? यदि शब्द अर्थ और रस के व्यञ्जक (प्रकट करने वाले) होने के कारण रस के द्वारा इनमें गुण की स्थिति मानी जाय तो 'सरसौ' (स-रस) कहना अधिक युक्त है।" इसका उत्तर यह है कि जैसा कि काव्यप्रकाशोक्त लक्षण के स्पष्टीकरण में दिखाया गया है 'शब्दार्थौ' के प्रयोग द्वारा वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य तीनों प्रकार के अर्थों का ग्रहण है। जब कि व्यङ्ग्यार्थ द्वारा रस का ग्रहण भी हो गया तो फिर 'सरसौ' के प्रयोग की आवश्यकता ही कहाँ रही ? अब यदि यह कहा जाय कि फिर 'सगुणौ' का प्रयोग क्यों किया गया ? इसका उत्तर यह है कि 'शब्दार्थौ' में रस के धर्म गुणों का ग्रहण अवश्य हो गया है। परन्तु 'शब्दार्थौ' के साथ जब तक 'सगुणौ' न कहा जाय, गुण-व्यञ्जक शब्दार्थ का ग्रहण केवल 'शब्दार्थौ' के प्रयोग द्वारा नहीं हो सकता। और काव्य में रस आदि वर्णनीय विषय के अनुकूल मधुर आदि गुण व्यञ्जक रचना का होना भी परमावश्यक है इसलिये वर्णनीय रस के प्रतिकूल शब्दार्थ रचना के होने में दोष माना गया है। अतएव यहाँ 'सगुणौ' का प्रयोग गुण-व्यञ्जक शब्दार्थ के लिये किया गया है जैसा कि प्रदीपकार ने 'सगुणौ' की व्याख्या में स्पष्ट कहा है—

'गुणस्य रसनिष्ठत्वेऽपि तद्व्यञ्जकपरं गुणपदम् ।'

—प्रदीप पृ १०

---

† काव्य के अङ्गी (प्रधान) स्थानीय शृङ्गार आदि रस के चेतन आत्मा के शूरता आदि की भाँति उत्कर्ष करने वाले और रस में अचल स्थिति रहनेवाले जो धर्म हैं वे गुण हैं।

अच्छा यह तो हुआ विश्वनाथ के इस आक्षेप का उत्तर। अब इस प्रसङ्ग में काव्यप्रकाशोक्त लक्षण पर आक्षेप करनेवाले विश्वनाथ से ही यह प्रश्न किया जा सकता है कि आपके—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' इस काव्य-लक्षण में आपने रसात्मक वाक्य को ही काव्य बताया है। आपके इस लक्षण में बहुब्रीहि समास हो सकता है और बहुब्रीहि समास में अन्य पद की प्रधानता रहती ही है। आपके इस लक्षण में अन्य-पद है 'वाक्य'। अतः 'वाक्य' पद प्रधान होने से इसका अर्थ यही होगा कि—'रस है आत्मा जिसका ऐसा 'वाक्य' काव्य है।' किन्तु 'वाक्य' भी तो शब्द-विशेष ही है। इससे सिद्ध हुआ कि आप भी शब्द-विशेष को ही काव्य बतलाते हैं। किन्तु शब्द तो आकाश का गुण है। और रस का स्वरूप जब आप—'सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय' अर्थात् अन्तःकरण में रजोगुण और तमोगुण को दबा कर सत्व गुण के उद्रेक द्वारा साक्षात् होनेवाला अखण्ड, अद्वितीय, स्वयं प्रकाश रूप आनन्दमय और चिन्मय बतलाते हैं, तो रस के इस लक्षण के अनुसार ज्ञानस्वरूप रस का शब्द के साथ सम्बन्ध ही क्या? यदि आप यह कहें "शब्द में रस की स्थिति नहीं" तो फिर आप वाक्य को रसात्मक किस प्रकार कह सकते हैं? जब किसी वस्तु विशेष का जिसमें अस्तित्व ही नहीं उस वस्तु को उसकी आत्मा किस प्रकार कहा जा सकता है? यदि आप इस आपत्ति से बचने के लिये यह कहें कि शब्द के साथ रस का उपचार (परम्परा) से सम्बन्ध कहा जा सकता है तो ऐसी परिस्थिति में फिर आपका काव्यप्रकाशोक्त लक्षण में प्रयुक्त 'शब्दार्थौ सगुणौ' पर इतना आकाण्डताण्डव क्यों? जब आप शब्द के साथ रस का परंपरया सम्बन्ध मानेंगे तो आपके मतानुसार शब्द के साथ गुणों का भी परम्परया सम्बन्ध मानना अनिवार्य होगा? इसके सिवा काव्यप्रकाशोक्त लक्षण में तो 'सगुणौ' के प्रयोग का उद्देश्य ही भिन्न है जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है।

(३) विश्वनाथ का तीसरा आक्षेप 'अनलंकृती' के प्रयोग पर यह है कि इस प्रयोग द्वारा अलङ्कार का भी काव्य के लक्षण में समावेश किया

गया है। किन्तु जब स्वयं मम्मट अलङ्कारों को लौकिक आभूषणों की भाँति काव्य के बाह्य शोभाकारक बताते हैं तो जिस प्रकार आभूषणों के न होने पर भी किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व नष्ट नहीं होता उसी प्रकार अलङ्कार के बिना काव्य का भी काव्यत्व नष्ट नहीं हो सकता, फिर अलङ्कार का काव्य के स्वरूप लक्षण में समावेश किया जाना अनुचित है।"

विश्वनाथ का यह आक्षेप भी निर्मूल है। मम्मटाचार्य ने क्या कहा है, वह तो आपने समझा ही नहीं और खण्डन भी कर दिया। बात यह है कि काव्य-प्रकाश के अष्टमोल्लास में जहाँ यह स्पष्ट किया है कि गुण और अलङ्कार में क्या भेद है वहां गुण और अलङ्कार दोनों को ही रस के उत्कर्षक बतला कर इन में यह भेद बताया है कि गुण तो रस के उत्कर्ष बतला कर इन में यह भेद बताया है कि गुण तो रस के धर्म हैं। अतएव गुणों की रस के साथ अचल स्थिति रहने के कारण गुण रस के साक्षात् उत्कर्षक हैं। किन्तु अलङ्कार रस के धर्म नहीं अतः वे (अलङ्कार) रस के साक्षात उत्कर्षक न होकर शब्दार्थ द्वारा परम्पर सम्बन्ध से रस का उत्कर्ष करते हैं। जैसे हार आदि आभूषण कंठ आदि में धारण करने पर पहिले कण्ठ आदि को शोभित करते हैं, फिर कण्ठ आदि के द्वारा परम्परा सम्बन्ध से सारे शरीर को शोभित करते हैं। अतएव अलङ्कारों की रस के साथ अचल स्थिति नहीं—रस वाले काव्य में रस के साथ अलङ्कार रह कर भी कहीं शब्दार्थ द्वारा रस का उत्कर्ष करते हैं और कहीं नहीं भी करते। किन्तु मम्मट के इस कथन का यह तात्पर्य नहीं कि केवल अलङ्कार की स्थिति होने पर रस के बिना 'काव्य' नहीं कहा जा सकता। क्योंकि 'काव्यत्व' तो चमत्कार पर निर्भर है। और वह (चमत्कार) या तो रस आदि व्यङ्ग्यार्थ की स्थिति द्वारा या वाच्यार्थ रूप अलङ्कार की स्थिति द्वारा हो सकता है। इसीलिये मम्मट ने काव्य-लक्षण लिखने के बाद उसके स्वरूप को भली प्रकार समझाने के लिये काव्य को उत्तम, मध्यम और अधम तीन श्रेणियों में विभक्त कर दिया है। यदि केवल रस युक्त रचना को ही काव्य माना जाय तब तो नीरस रचना में जहाँ अलङ्कार की स्थिति

होगी वहाँ काव्य माना ही नहीं जाएगा। किन्तु सभी साहित्याचार्यों ने केवल अलङ्कारात्मक रचना में भी काव्य माना है। यही नहीं—काव्य का 'वाक्यं रसात्मक काव्यम्' यह लक्षण लिखने वाले और मम्मट पर आक्षेप करने वाले स्वयं विश्वनाथ ने भी अलङ्कारात्मक रचना में काव्यत्व स्वीकार करके ही साहित्यदर्पण के लगभग एक चतुर्थांश भाग में (दशम परिच्छेद में) अलङ्कार विषय का निरूपण किया है।

ऊपर के विवेचन द्वारा ज्ञात हो सकता है कि काव्यप्रकाशोक्त लक्षण पर कविराज विश्वनाथ द्वारा की गई आलोचना में कितना तथ्य है। इसी प्रकार विश्वनाथ ने ध्वन्यालोक में काव्य-विषयक विवेचन के—'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति·········।' इत्यादि कारिकाओं में पूर्वापर विरोध दिखा कर ध्वनिकारों पर भी आक्षेप किया है। इस विषय पर विस्तार भय से अधिक न लिख कर यही कहना पर्याप्त है कि वह आक्षेप भी केवल उपहासास्पद है।

अच्छा, अब इस प्रसङ्ग में विश्वनाथ के 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' इस लक्षण पर भी, जिसको उसने पूर्वाचार्यों के लक्षणों को दूषित बताकर अतिव्याप्ति और अव्याप्ति आदि दोषों से निर्लिप्त बताया है, विचार करना आवश्यक है कि वह कहाँ तक निर्दोष है। विश्वनाथ काव्य के लक्षण में रसात्मक वाक्य को ही काव्य स्वीकार करता है। प्रश्न होता है कि इस लक्षण के अनुसार जो रचना, वस्तु वर्णनात्मक अथवा अलङ्कार रचनात्मक होती हैं उनकी क्या दशा होगी? आपके मतानुसार तो ऐसी रचना जिस में रस की स्थिति न हो काव्य न होगी। यदि आप यह कहें कि हम रस रहित रचना को काव्य मानते ही कब हैं तो प्रश्न होता है कि आपने साहित्यदर्पण में ध्वनि-काव्य के भेदों के अन्तर्गत वस्तु ध्वनि को क्यों स्वीकार किया? यदि आप यह कहें कि वस्तु ध्वनि में भी रस की स्थिति, स्पष्ट न रहकर अस्पष्ट रूपमें रहती हैं, तो यह दलील आपकी नहीं चल सकती क्योंकि वस्तु-ध्वनि में प्राय रस की स्थिति सर्वथा नहीं भी होती। साहित्यदर्पण में ही आपने—

त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति।

आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत् ॥'

—साहित्यदर्पण परिच्छेद ४

इस पद्य को अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि-काव्य के उदाहरण में दिखाया है। इसमें रस की स्थिति कहाँ है ? अतएव ऐसे काव्यों में आपके—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' इस लक्षण की व्याप्ति न होने के कारण आपके इस लक्षण में अव्याप्ति दोष तो है ही इसके अतिरिक्त केवल लक्षण ही नहीं—'संसर्गजा दोषगुणाः भवन्ति।' के अनुसार इस लक्षण के निर्माता स्वयं आप (विश्वनाथ) ी व्याघात दोषात्मक व्याघ्र से पूर्णतया ग्रसित हो रहे हैं—भगवन् त्राहि त्राहि !!! खेद है कि विश्वनाथ ने काव्य के लक्षण में काव्य को 'रसात्मक' कहकर भी—

'यत्तु नीरसेष्वपि गुणाभिव्यञ्जकवर्णसद्भावाद्दोषाभावादलङ्कारसद्भावाच्च काव्यव्यवहारः स रसादिमत्काव्यबन्धसाम्याद्गौण एव।'

—साहित्यद० परि० १

इस वाक्य में रस रहित रचना को भी वह स्वयं गौण काव्य और काव्य में दोष का अभाव होना भी स्वीकार करता है। अर्थात् विश्वनाथ ने रस की जिस शृङ्खला में काव्य को बाँधा था, उस शृङ्खला में वह जब बंधा हुआ न रह सका तो अगत्या स्वयं विश्वनाथ को ही उस (रस शृङ्खला) से काव्य को निर्मुक्त करना पड़ा। केवल यही नहीं प्रत्युत जिस मम्मट का विश्वनाथ प्रतिपक्षी हो रहा था उसी (मम्मट) का उसे अनुगामी भी होना पड़ा है। क्योंकि विश्वनाथ को भी 'रसात्मक' काव्य के अतिरिक्त वस्तु वर्णनात्मक काव्य का एक गौण भेद स्वीकार करना ही पड़ा *। जिसको मम्मटाचार्य ने अपने काव्य

---

* यद्यपि विश्वनाथ ने काव्यप्रकाश के अनुसार काव्य के तीन भेद न मान कर दो ही उत्तम और गौण—भेद माने हैं—तीसरा भेद अधम, नहीं। पर यह भी विश्वनाथ के विवेचन में उल्लेखनीय त्रुटि है क्योंकि गुणीभूतव्यंग्य और व्यंग्य-रहित वाच्यार्थात्मक अलङ्कारादि युक्त काव्य का अन्तर सहृदय काव्य-मर्मज्ञों को प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध है।

लक्षण की स्पष्टता करते हुए पहिले ही निर्दिष्ट कर दिया था। ऐसी परिस्थिति में साहित्य के न्यायालय में विश्वनाथ जी लगा रहे थे आचार्य मम्मट पर अभियोग किन्तु स्वयं विश्वनाथ अभियुक्त हो गये। विश्वनाथ के आक्षेप उसी की साक्षी द्वारा निर्मूल सिद्ध हो गये प्रत्युत आपका लक्षण अव्याप्ति दोष-पूर्ण सिद्ध हो गया। महाकवि कालिदास की—'के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः।' यह उक्ति चरितार्थ हो गई।

अच्छा आइये, अब काव्यप्रकाशोक्त लक्षण पर पण्डितराज जगन्नाथ की आलोचना भी देखिये। काव्यप्रकाश के लक्षण में प्रयुक्त 'शब्दार्थौ' द्वारा शब्द और अर्थ दोनों को काव्य माना गया है। इस पर पण्डितराज जगन्नाथ का कहना है कि लोक-व्यवहार में 'काव्य उच्च स्वर से पढ़ा जा रहा है' 'काव्य से अर्थ समझा जाता है' 'काव्य सुना तो सही पर अर्थ समझ में नहीं आया' इस प्रकार कहा जाता है इससे एक प्रकार का शब्द ही काव्य सिद्ध होता है—न कि अर्थ। यदि यह कहा जाय कि लोक-व्यवहार में काव्य के लिये केवल शब्द का प्रयोग लाक्षणिक समझना चाहिये, पर यह तो तभी हो सकता है, जब पहिले किसी दृढ़ प्रमाण से यह सिद्ध हो जाय कि 'काव्य' शब्द का प्रयोग शब्द और अर्थ दोनों के लिये ही होता है। किन्तु ऐसा प्रमाण ही तो हमारे दृष्टि-गत नहीं है। यदि इसके प्रमाण में काव्यप्रकाश का ही मत आप दें तो वह तो हम किस प्रकार मान्य कर सकते हैं—जब कि उसके तो हम प्रतिपक्षी ही हैं। अतएव लोक-व्यवहार के प्रमाण द्वारा हमारे मतानुसार केवल शब्दविशेष ही काव्य सिद्ध होता है, न कि काव्यप्रकाश के मतानुसार शब्द और अर्थ दोनों। अतएव वेद, शास्त्रादिकों की भाँति काव्य के लक्षण में भी केवल शब्द का ही प्रयोग उचित है, न कि शब्द-अर्थ दोनों का।

पण्डितराज द्वारा किये गये इस आक्षेप का खण्डन रसगङ्गाधर के टिप्पणी-(संक्षिप्त व्याख्या) कार श्री नागेश भट्ट ने ही संक्षिप्त में बड़ा उपयुक्त कर दिया है। श्री नागेश भट्ट कहते हैं "जिस प्रकार लोक-व्यवहार में 'काव्य पढ़ा' 'काव्य सुना' इत्यादि प्रकार से कहा जाता है उसी प्रकार 'काव्य समझा' इस प्रकार भी

लोक-व्यवहार में कहा जाता है। समझना केवल अर्थ का ही होता है—न कि शब्द का। अतएव शब्द और अर्थ दोनों को सम्मिलित रूप में काव्य कहा जाता है, न कि केवल शब्द मात्र को। वेदशास्त्रादिक भी केवल शब्द की संज्ञा नहीं है, शब्द और अर्थ दोनों की मिश्रित रूप में ही वेद, शास्त्र आदि संज्ञा है। महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने 'तदधीते तद्वेद' इस पाणिनीय सूत्र की व्याख्या में शब्द-अर्थ दोनों को वेदादि रूप माना है।"

इसके अतिरिक्त पण्डितराज ने भी यह आक्षेप किया है कि काव्यप्रकाशोक्त लक्षण में गुण और अलङ्कार का समावेश क्यों किया गया ? किन्तु फिर इस विषय में स्वयं पण्डितराज ने इस आक्षेप को निर्बल समझ कर—

'काव्यजीवितं चमत्कारित्वं चाविशिष्टमेव ।
गुणत्वालङ्कारत्वादेरननुगमाच्च ❀ ।'

—रसग० पृ० ७

इन वाक्यों में इस आक्षेप की उपेक्षा कर दी है।

इस विवेचन द्वारा स्पष्ट है कि काव्यप्रकाशोक्त काव्य-लक्षण ही आलोचना की कसौटी पर उत्तीर्ण होकर निर्दोष प्रमाणित हो सकता है।

काव्य के सम्प्रदाय

उपर्युक्त काव्य की विभिन्न परिभाषाओं के विवेचन द्वारा स्पष्ट है कि रस, अलङ्कार, गुण (या रीति) और ध्वनि आदि जो काव्य के प्रधान विषय हैं, उनकी प्रधानता के विषय में साहित्याचार्यों के विभिन्न मत हैं, अतएव रस आदि सिद्धान्तों के प्राधान्य को लेकर विभिन्न सम्प्रदाय प्रचलित हो गये हैं, जैसा

❀ इसका अर्थ यह है कि काव्य अथवा रस के धर्मों का नाम गुण और काव्य के शोभाकारक का नाम अलङ्कार माना जाय तो इनका प्रयोग काव्य-लक्षण में किया जा सकता है।

कि पहिले कह चुके हैं। इन सिद्धान्तों में अपने स्वीकृत सिद्धान्त का स्वरूप और उसकी प्रधानता आचार्यों ने किस प्रकार प्रतिपादन की है अब इसका विवेचन किया जाता है। काव्य के सभी सिद्धान्त स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से वस्तुतः रसास्वाद पर ही निर्भर हैं अतएव सर्वप्रथम रस सम्प्रदाय का निदर्शन ही प्रकरणोपयोगी और समुचित है।

रस सम्प्रदाय

रस का महत्त्व

रस का महत्त्व अनादिकाल से प्रतिपादित है। भगवती श्रुति कहती है—

'रसो वै सः रसꣳह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दो भवति।'

—तैत्तरीय उपनिषत्

अलङ्कार शास्त्र में भी रस ही सर्वोपरि पदार्थ स्वीकार किया गया है। श्री भरतमुनि ने रस पर विवेचन करते हुए लिखा है—

'तत्र रसानेव तावदादावभिव्याख्यास्यामः।
न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।'

—नाट्यशा० अ० ६

भगवान् श्री वेदव्यासजी ने भी रस को सर्वोपरि महत्त्व देते हुए आज्ञा की है—

'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।'

—अग्निपु० ३३७।३३

साहित्याचार्यों में सर्वप्रधान ध्वनिकार एवं श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने ध्वनि-सिद्धान्त का मूल-तत्व रस को ही मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। उन्होंने श्री वाल्मीकीय रामायण के—

'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्'॥

इस पद्य में जो करुण रस ध्वनित होता है, उसी को काव्य की आत्मा बतलाई है*। उन्होंने यह भी स्पष्ट कहा है—

'यतः परिपाकवतां कवीनां रसादितात्पर्यविरहे व्यापार एव न शोभते।'

—ध्वन्या० पृ० २२।

महाकवि मंखक कहता है—

'तैस्तैरलंकृतिशतैरवतंसितोऽपि रूढो महत्यपि पदे धृतसौष्ठवोऽपि
नूनं विना धनरसप्रसराभिषेकं काव्याधिराजपदमर्हति न प्रबंधः'

—श्रीकण्ठचरित २।३२

एक अज्ञात काव्य मर्मज्ञ ने कहा है—

'अस्तिचेद्रससम्पत्तिः अलङ्कारा वृथा इव।
नास्तिचेद्रससम्पत्तिः अलङ्कारा वृथैव हि।'

रस सम्प्रदाय के आचार्य

साहित्य के उपलब्ध ग्रन्थों में रस विषयक विवेचन सबसे प्रथम श्री भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में दृष्टिगत होता है। यद्यपि नाट्यशास्त्र के—'अत्रानुवंश्यौ श्लोकौ भवतः'–(६ ३३) इत्यादि रस प्रकरण के वाक्यों द्वारा विदित होता है कि रस का विवेचन भरत के प्रथम भी अन्य आचार्यों द्वारा किया गया है, किन्तु जब कि उनके ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं, रस सम्प्रदाय के आद्याचार्य श्री भरतमुनि ही कहे जा सकते हैं।

'रस' शब्द का अर्थ

प्रथम यह स्पष्ट किया जाना आवश्यक है कि 'रस' शब्द का अर्थ क्या है। धातु पाठ में कहा है—'रस आस्वादे'। अर्थात् रस का अर्थ स्वाद लेना है। और स्वाद का अर्थ है रस का ग्रहण करना—'स्वादो रस ग्रहणे'। लौकिक

* देखिये ध्वन्यालोक पृ० २६ काव्यमाला संस्करण।
निष्कर्ष यह कि काव्य का रस ही प्राण है।

रसों—मधुर आम्ल आदिकों का ग्रहण जिह्वा द्वारा किया जाता है। और काव्य विषयक शृङ्गारादि रसों का आस्वाद 'रति' आदि स्थायी भावों के रस रूप में अभिव्यक्त होने पर मन से किया जाता है।

रस की निष्पत्ति

रस की निष्पत्ति के विषय में महामुनि भरत ने रस सिद्धान्त का मूल—

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' ।

—नाट्यशास्त्र अध्या० ६

यह सूत्र लिखा है। इसका अर्थ यह है कि विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस सूत्र में 'संयोग' और 'निष्पत्ति' यह दो पद बड़े महत्व के हैं। इनके वास्तविक अर्थ के विषय में बड़ा ही मतभेद है। इस सूत्र की व्याख्या के विवेचन में साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों का महत्वपूर्ण भाग है। इसके प्रथम कि इस सूत्र की व्याख्याओं का दिक्-दर्शन कराया जाय, इस सूत्र में कहे हुए विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी और स्थायी भाव क्या पदार्थ हैं, यह स्पष्ट किया जाना आवश्यक है, क्योंकि इन्हीं पर रस की निष्पत्ति निर्भर है। आचार्य मम्मट ने कहा है—

'कारणान्यथ कार्याणि सहकारिणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥
विभावाअनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः' ॥

—काव्यप्र० २७, २८

लोक व्यवहार में जो कारण, जो कार्य, और जो सहकारी कारण होते हैं वे जब नाटक एवं काव्य में रति आदि स्थायी भाव के होते हैं, तब उन्हें कारण, कार्य और सहकारी कारण न कह कर क्रमशः विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहते हैं। और उन विभाव आदि द्वारा जो स्थायी भाव व्यक्त होता है, वह 'रस' कहा जाता है।

स्थायी भाव

विशेष प्रकार की चित्त की वृत्ति—मनोविकार को ही नाट्य और काव्य में स्थायी भाव कहते हैं। जैसे नायक और नायिका की परस्पर एक की दूसरे में रति अर्थात् प्रेम अथवा अनुराग होना एक प्रकार की चित्तवृत्ति (मनोविकार) है। उसी को श्रृङ्गार रस का स्थायी भाव कहा जाता है। इसी प्रकार हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय, और शम ये मनोविकार क्रमशः हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त रस के स्थायी भाव हैं।

विभाव

रति आदि स्थायी भावों के जो कारण होते हैं—जिनके द्वारा सामाजिक जनों के (काव्य के पढ़ने और सुनने वालों और नाटक के देखने वालों के) आत्मा में वासना ※ रूप से स्थित रहने वाले रति आदि स्थायी भाव (मनोविकार) उत्तेजना को प्राप्त हो जाते हैं—जाग्रत हो जाते हैं, उन्हें ही विभाव कहते हैं। विभाव दो प्रकार के होते हैं—आलम्बन विभाव और उद्दीपन विभाव।

आलम्बन विभाव—जिसका आलम्बन करके रति आदि मनोविकार उत्पन्न होते हैं वे आलम्बन विभाव कहे जाते हैं। जैसे श्रृङ्गार रस के स्थायी 'रति' के आलम्बन नायक और नायिका हैं क्योंकि ये जब परस्पर में देखते सुनते और स्मरण आदि करते हैं तब एक का दूसरे पर प्रेम उत्पन्न होता है। प्रत्येक रस के आलम्बन विभाव भिन्न भिन्न हैं।

उद्दीपन विभाव—जो रति आदि मनोविकारों को अतिशय उद्दीपन करते हैं—बढ़ाते हैं, वे उद्दीपन विभाव कहे जाते हैं। जैसे वेशभूषणादि की सुन्दर रचना, पुष्पवाटिका, एकान्त-स्थल, कोकिलादि पक्षियों का मधुर आलाप, चन्द्रोदय, और शीतल पवन आदि श्रृङ्गार रस के उद्दीपन विभाव हैं। क्योंकि

※ वासना क्या वस्तु है इसका स्पष्टीकरण आगे किया जायगा।

ये उत्पन्न हुए रति आदि मनोविकारों को बढ़ाने वाले हैं। यदि उत्पन्न मनोविकारों को उद्दीपक सामग्री द्वारा उत्तेजना प्राप्त न हो तो वह अनुत्पन्न के समान ही रहते हैं, जैसे उत्पन्न अंकुर को जल न मिले तो वह नष्ट हो जाता है। अतः इनको भी स्थायी भाव के कारण विभाव ही स्वीकार किया गया है। प्रत्येक रस के उद्दीपन विभाव भी पृथक् पृथक् होते हैं।

अनुभाव

'अनु' का अर्थ है पश्चात् अर्थात् विभाव के पीछे ये अनुभाव उत्पन्न होते हैं। ये 'रति' आदि उत्पन्न स्थायी भाव का अनुभव कराते हैं, फलतः अनुभाव ही स्थायी भाव को बोध-गम्य बनाते हैं, क्योंकि नायिका आदि आलम्बन और चन्द्रोदय आदि उद्दीपन विभावों द्वारा नायक आदि के जो रति आदि मनोविकार उत्पन्न और परिवर्तित होते हैं, उन मनोविकारों का जब तक कटाक्ष और हस्त संचालन (हाथों की चेष्टाएँ) आदि न हों, स्वयं नायक नायिकादिकों को तथा समीपस्थ जनों को ज्ञान नहीं हो सकता। अनुभाव असंख्य हैं। शृङ्गार रस के मुख्य २८ अनुभाव और ८ सात्विक भाव माने गये हैं ❀।

व्यभिचारी भाव

यह स्थायी भाव के सहकारी कारण हैं। अर्थात् नायक-नायिका के परस्पर में प्रेम होने पर उन दोनों को मिलने की अभिलाषा होती है तब उसके लिए चेष्टा की जाने पर जो चिन्ता आदि चित्त की वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, वे व्यभिचारी भाव कही जाती हैं। यह अवस्था विशेष में (खास-खास अवसर पर) उत्पन्न होकर स्थायी भाव को सहायता करके लुप्त होते रहते हैं—स्थायी भाव की तरह रस की स्थिति तक स्थिर नहीं रहते। जिस प्रकार समुद्र में तरङ्ग कभी उठती और कभी लीन होती रहती हैं और उसका उत्कर्ष करती रहती हैं, उसी प्रकार व्यभिचारी भाव भी स्थायी भाव में उत्पन्न और लीन होते हुए उसे पुष्ट

❀ अनुभाव, सात्विक भाव और व्यभिचारी-भावों की स्पष्टता विस्तार भय से यहां नहीं की गई है। इनका विस्तृत विवेचन काव्य कल्पद्रुम के तृतीय संस्करण के प्रथम भाग 'रसमञ्जरी' में देखिये।

करते हैं। यह बिजली की तरह चमक कर लुप्त होते रहते हैं और सभी रसों में यथासंभव सञ्चार करते हैं, इसलिए इनको संचारी भी कहे जाते हैं, इनकी संख्या ३३ है।

विभावादिकों की संक्षिप्त स्पष्टता यही है।

भरत सूत्र पर व्याख्याकारों के विभिन्न मत

अत्र पूर्वोक्त—

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।'

इस भरतसूत्र की विभिन्न व्याख्याओं को देखिये—

(१) भट्ट लोल्लट का आरोपवाद। भरतसूत्र के प्रथम व्याख्याकार मीमांसक भट्ट लोल्लट का मत है कि 'शकुन्तला' के अभिनय में जो दुष्यन्त पर शकुन्तला विषयक दुष्यन्त के प्रेम का अभिनय दिखाया जाता है या काव्य में वर्णन किया जाता है वह प्रेम यद्यपि मुख्यतया दुष्यन्त से ही सम्बन्ध रखता है, क्योंकि शकुन्तला विषयक प्रेम का नट के साथ सम्बन्ध ही क्या है, किन्तु सामाजिक जन (नाटक को देखने और काव्य को पढ़ने वाले लोग) दुष्यन्त के रूप में नट को देख कर उस नट पर दुष्यन्त का आरोप † कर लेते हैं—वास्तव में दुष्यन्त न होने पर भी नट को दुष्यन्त मान लेते हैं। और नाट्य-कला के सौन्दर्य से नट के अन्दर शकुन्तला विषयक प्रेम (वास्तविक न होने पर भी) 'है' ऐसा सामाजिकों को प्रतीत होने पर वे रस का अनुभव करने लगते हैं।

(२) श्री शंकुक का अनुमानवाद। नैय्यायिक शंकुक भरत सूत्र के द्वितीय व्याख्याकार हैं। इनका कहना है कि भट्ट लोल्लट ने जो नट में दुष्यन्तादि के आरोप में रसास्वाद बताया है वह ठीक नहीं, क्योंकि जिस व्यक्ति में रति आदि स्थायी भाव होगा उसी को उद्भूत रति का रसास्वाद हो सकता है। जैसे जहां धुंआ होगा वहीं अग्नि होगी, न कि धुआँ अन्यत्र और अग्नि अन्यत्र। अतएव जिनकी वास्तविक

† आरोप का अर्थ है—किसी एक वस्तु को वस्तुतः न हुई दूसरी वस्तु मान लेना जैसे दुष्यन्त के रूपधारी नट को दुष्यन्त से भिन्न जानते हुए भी दुष्यन्त मान लेना।

रति है, उन दुष्यन्तादि से सामाजिक भिन्न है और जो दुष्यन्तादिक का अभिनय करने वाले नाटक के पात्र हैं उनसे भी वे भिन्न हैं, तब सामाजिकों को रसास्वाद किस प्रकार हो सकता है। यदि आरोप ज्ञान मात्र से ही रसानुभव माना जाय तो शृङ्गारादि रसों के ज्ञान मात्र से—नाम सुनने और अर्थ समझ लेने से ही रसानुभव होना चाहिये-सुख के नाम मात्र से सुख भी होना चाहिये पर ऐसा कभी नहीं हो सकता। इस प्रकार भट्ट लोल्लट के मत का खण्डन करके श्री शंकुक ने सूत्र की व्याख्या यह की है कि वास्तविक रस दुष्यन्तादि में रहता है पर नट में उसका अनुमान कर लिया जाता है। अर्थात् लौकिक में चार प्रकार के ज्ञान प्रसिद्ध हैं—(१) सम्यक् (यथार्थ), (२) मिथ्या, (३) संशय और (४) सादृश्य जैसे—

(१) सम्यक ज्ञान—देवदत्त को देवदत्त समझना।
(२) मिथ्या ज्ञान—जो देवदत्त है उसको देवदत्त न समझना।
(३) संशय ज्ञान—यह देवदत्त है या नहीं।
(४) सादृश्य ज्ञान—यह देवदत्त के समान है।

इन लोक प्रसिद्ध चारों ज्ञानों से विलक्षण एक और भी 'चित्रतुरंग' ज्ञान है। अर्थात् घोड़े का चित्र देख कर 'यह घोड़ा है' ऐसा ज्ञान होना। बस इसी ज्ञान के अनुसार सामाजिक लोग नट को दुष्यन्त आदि अनुमान कर लेते हैं। फिर अनुमान किये गये नट में रति आदि स्थायी भाव भी अनुमान कर लिये जाते हैं। यद्यपि अन्य विषयक अनुमान में सुख का अनुभव करने से सुख नहीं मिलता, जैसे ग्रीष्म-कालिक पथिक का वट-छाया के अनुमान द्वारा न ताप मिट सकता है और न सुख ही हो सकता है। किन्तु काव्यनाटकों के सौन्दर्य के विलक्षण प्रभाव द्वारा अनुमान किया गया आनन्द भी सहृदय सामाजिकों की वासना के कारण आस्वादनीय बन जाता है। क्योंकि काव्य में विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारी के संयोग से गम्य-गम्यक ❀ भाव सम्बन्ध से और

❀ गम्य-गम्यक भाव भी धुंआ और अग्नि की भांति व्याप्ति सम्बन्धी ही है अर्थात् जहां विभावादि हों वहां रति आदि स्थायी भाव भी अवश्य हों यह सम्बन्ध।

शिक्षित नट के कार्यकौशल से प्रदर्शित किये जाने के कारण विभावादि (बनावटी) होने पर भी काव्य के अनुसन्धान † बल से कृत्रिम नहीं समझे जाते।

(३) भट्ट नायक का भुक्तिवाद। भरतसूत्र के तीसरे व्याख्याकार सांख्य मतानुयायी भट्ट नायक का कहना है कि श्री शंकुक के मतानुसार अनुमिति ज्ञान में भी चमत्कार नहीं, प्रत्यक्ष ज्ञान ही चमत्कार है। क्योंकि अन्य के आत्मा में स्थित (दुष्यन्तादि के आत्मा में स्थित शकुन्तला विषयक) प्रेम जन्य आनन्द का अन्य के आत्मा में (अनुकरण करने वाले नटों में और सामाजिकों के आत्मा में) अनुमान कदापि नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि अन्य के (शकुन्तला विषयक दुष्यन्तादि के) आत्मा में स्थित 'रति' की प्रतीति सामाजिकों को आत्मगतत्वेन होती है, तो उसमें अनेक दोष हैं। कहां वे धर्मात्मा यशस्वी सम्राट और कहां वर्तमानकालिक हम क्षुद्र जीव? शकुन्तला विषयक प्रेम का हमारे हृदय में उदय होना एक बार ही पाप-वृत्ति है। क्योंकि जिसे हम अपना प्रेम-पात्र बनाना चाहें उसमें हमारे प्रेम-पात्र होने की योग्यता होना भी आवश्यक है, केवल स्त्री होना ही पर्याप्त नहीं, स्त्री तो भगिनी आदि भी होती हैं अतः शकुन्तलादि, सामाजिकों के प्रेम का आलम्बन कदापि नहीं हो सकतीं। और आलम्बन के बिना रति स्थायी का आविर्भाव ही नहीं होता, तब रस का आस्वाद कहां? इस प्रकार अनुमिति ज्ञान द्वारा रसास्वाद का खण्डन करने के बाद भट्ट नायक अपने मत से सूत्र की व्याख्या यह करते हैं कि सूत्र के 'संयोग' शब्द का अर्थ भोज्य भोजक भाव सम्बन्ध और 'निष्पत्ति' का अर्थ भुक्ति (भोग) है। अर्थात् काव्य की क्रियाएं ही रस के उद्बोध का कारण हैं। काव्य शब्दात्मक है। शब्द के तीन व्यापार हैं—'अभिधा, भावना, और भोग—

(१) 'अभिधा' द्वारा काव्य का अर्थ समझा जाता है।

(२) 'भावना' का व्यापार है साधारणीकरण। इस व्यापार द्वारा किसी विशेष व्यक्ति में उद्भूत 'रति' आदि स्थायी भाव, व्यक्तिगत सम्बन्ध छोड़ कर

---

† कवि के अभीष्ट अर्थ का साक्षात् करना।

सामान्य रूप में प्रतीत होने लगते हैं। जैसे दुष्यन्त शकुन्तला के प्रेम का इन दोनों से (दुष्यन्त-शकुन्तला से) व्यक्ति-गत सम्बन्ध न रह कर सामान्य दाम्पत्य-प्रेम की प्रतीति होना। इस 'भावना' व्यापार द्वारा 'रति' आदि भाव साधारण हो जाने पर अगम्या होना आदि विरोधी ज्ञान हट जाते हैं; फल यह होता है कि वह 'भावना' सब पदार्थों को साधारण बना देती है अतः उनमें किसी व्यक्ति विषेश या देशकाल आदि का सम्बन्ध प्रतीत न होकर रसास्वाद का प्रतिकूलावरण हट जाता है।

(३) 'भोग' व्यापार द्वारा भावना के महत्व से अर्थात् अपना और परायापन दूर हो जाने पर साधारणी-कृत विभावादि से सामाजिकों को रसास्वाद होने लगता है। भोग का अर्थ है †—'सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दसंविद्विश्रान्तिः।' अर्थात् सत्वगुण के उद्रेक से प्रादुर्भूत प्रकाशरूप आनन्द का ज्ञान—आनन्द का अनुभव। और वह आनन्दानुभव वेद्यान्तर सम्पर्क शून्य है अर्थात् अन्य सम्बन्धी ज्ञान से रहित होता है। अतएव यह लौकिक सुखानुभव से विलक्षण है, बस इसी भोग व्यापार द्वारा रस का आस्वाद होता है। भट्ट नायक के मत का निष्कर्ष यह है कि काव्य और नाटकों के सुनने और देखने पर तीन कार्य होते हैं—पहिले उसका अर्थ समझा जाता है, फिर उसकी भावना अर्थात् चिंतन किया जाता है, जिसके प्रभाव से सामाजिक यह नहीं समझ पाते कि जो काव्य नाटकों में सुना और देखा जाता है वह किसी दूसरे व्यक्ति से सम्बन्ध रखता है या हमारा ही है। इसके बाद सत्वगुण के उद्रेक से रजोगुण और तमोगुण दब जाने पर आत्मचैतन्य से प्रकाशित साधारणीकृत (साधारण रूप में उपस्थित) रति आदि स्थायी भावों का सामाजिक जन आनन्दानुभव करने

† सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के उद्रेक (प्राधान्य) से क्रमशः सुख, दुःख और मोह प्रकाशित होते हैं। उद्रेक का अर्थ है अपने से भिन्न दो गुणों, का तिरस्कार करके अपना प्रादुर्भाव करना। सत्वोद्रेक का स्वभाव आनन्द का प्रकाश करना है और आनन्द का अनुभव 'भोग' है।

लगते हैं, वही रस है। और वह रस जन्य आनन्दानुभव ब्रह्मानन्द का समीपवर्ती कहा जाता है। इनमें भेद केवल यही है कि रसास्वाद 'रति' आदि विषयों से मिला हुआ रहता है और ब्रह्मानन्द विषयों से सर्वथा रहित होता है।

(४) अभिनवगुप्तपादाचार्य का व्यक्तिवाद और उसका आचार्य मम्मट द्वारा* स्पष्टीकरण—

नाट्यशास्त्र पर 'अभिनव भारती' व्याख्या के लेखक श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य ने उपर्युक्त भट्ट लोल्लट, श्री शंकुक और भट्ट नायक तीनों के मतों का खण्डन करते हुए भट्ट नायक के मत की आलोचना† में कहा है कि स्थायी भाव और विभावादिक में वस्तुतः व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव सम्बन्ध है अर्थात् विभावादि के संयोग से व्यञ्जना नामक एक लौकिक क्रिया उत्पन्न होती है, उसी के द्वारा रस की अभिव्यक्ति (निष्पत्ति) होती है। भट्ट नायक ने जो भावना और भोग नाम की दो क्रियाएं मानी हैं, वे कल्पना मात्र हैं अन्ततः भावना और भोग का समावेश हमारे व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव-सम्बन्ध में—ध्वनि सिद्धान्त में हो जाता है—

> 'त्र्यंशायामपि भावनायां कारणांशे ध्वननमेव निपतति।
> भोगोऽपि...लोकोत्तरो ध्वननव्यापार एव मूर्धाभिषिक्तः॥'
>
> —ध्वन्यालोक पृ० ७०

श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य ने कहा है कि 'रति' आदि स्थायी भाव सामाजिकों[१] के अन्तःकरण में वासना[२] रूप से सूक्ष्मतया स्थित रहते हैं, किन्तु वह

* देखो काव्यप्रकाश-चतुर्थ उल्लास।

† देखो अभिनव भारती पृ० २७४ और २७८-२८० तथा ध्वन्यालोक पृ० ६८-७०

१ अभिनवगुप्तपादाचार्य, सामाजिकों से ऐसे काव्य के पाठक या श्रोता और नाटक के दर्शकों का ग्रहण करते हैं, जो नायकनायिकादि की परस्पर की हुई चेष्टाओं द्वारा उनके प्रेमादि का तत्काल अनुभव करने में दक्ष हों।

२ किसी व्यक्ति ने इस जन्म में या जन्मांतर में अपनी कान्ता आदि में रति

अव्यक्त (अप्रकट) रहते हैं—प्रतीत नहीं होते, जैसे मिट्टी के बरतन में गन्ध रहता हुआ भी अव्यक्त रहता है, किन्तु जब उसके साथ जल का संयोग होता है, तत्काल वह (गन्ध) प्रकट हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्य के अन्तःकरण में वासनात्मक अव्यक्त रूप से स्थित रहता हुआ 'रति' आदि स्थायी भाव (मनोविकार) जब काव्य का पठन या श्रवण अथवा नाटक का प्रदर्शन होता है तब व्यञ्जना ॐ के अलौकिक विभावन व्यापार द्वारा जाग्रत हो जाता है (वह जागृति या उत्तेजना दृश्य काव्य—नाटकादि में शब्द और पात्रों की शारीरिक चेष्टाओं द्वारा और श्रव्य-काव्य में केवल शब्द द्वारा होती है) और स्थायी भाव के आनन्द का अनुभव होने लगता है, बस वही रस की अभिव्यक्ति या निष्पत्ति है।

व्यञ्जना वृत्ति के जिस विभावन को अलौकिक व्यापार कहा गया है वही विभावादि में साधारणीकरण का चमत्कार है, जिसके द्वारा विभावादिकों का (दुष्यन्त शकुन्तलादि का) व्यक्ति-गत सम्बन्ध (अपना और परायापन) दूर होकर सामाजिकों में विभावाद के साथ अभिन्नता उपलब्ध होती है। निष्कर्ष यह कि इस विभावन व्यापार द्वारा अर्थात् साधारणीकरण द्वारा ही अपनी-अपनी आत्मा में ही स्थित रति आदि स्थायी भाव के रसास्वाद का चर्वण (अनुभव) होता है।

आदि का कभी अनुभव किया है, उस अनुभव से उसके अन्तःकरण में एक संस्कार उत्पन्न हो जाता है। उसी संस्कार को वासना कहते हैं। उस संस्कार (वासना) के कारण पूर्वानुभूत उसी के समान किसी वस्तु को कालान्तर में देखने या सुनने पर वह संस्कार जागृत हो जाता है। और उसे वैसा ही कुछ अनुभव होने लगता है कि मानों कान्ता आदि उसी प्रकार के विद्यमान हैं और मैं उनका लाभ उठा रहा हूँ। यही वासना जब विभावादि व्यञ्जकों से अभिव्यक्त (प्रकट) होती है तब उसको रस का आस्वाद कहते हैं।

ॐ 'व्यञ्जना' वृत्ति की स्पष्टता आगे ध्वनि सम्प्रदाय में की जायगी।

भट्ट नायक और अभिनवगुप्तपादाचार्य

भट्ट नायक और अभिनवगुप्तपादाचार्य के मत में भेद यह है कि रस की निष्पत्ति में साधारणीकरण का महत्व तो भट्ट नायक और श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य दोनों ही मानते हैं, किन्तु भट्ट नायक उस साधारणीकरण को 'भावना' का व्यापार बताते हैं और श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य उसे व्यञ्जना का व्यापार बताते हैं। यह तो हुआ रस की निष्पत्ति विषयक विवेचन।

रस का आस्वाद

रस के आस्वाद के विषय में अभिनवगुप्तपादाचार्य और मम्मटाचार्य कहते हैं कि रस का आस्वाद वेद्यान्तरसंपर्क शून्य होता है अर्थात् किसी दूसरी वस्तु के सम्बन्ध-रहित होता है। और वह 'रस' स्वाकार † के समान अभिन्न होने पर भी विषय भूत ❀ होता है अर्थात् रस, ज्ञान-स्वरूप होने पर भी स्वयं भी प्रकाशित होता है। रस का प्राण एक मात्र चर्वणा (आस्वाद) ही है और चर्वणा की पूर्वापर अवधि विभावादिकों पर निर्भर है। एवम्भूत रस का

† जिस प्रकार दर्पण के सम्मुख कोई वस्तु हो उसका प्रतिबिम्ब दर्पण पर पड़ता है तब (यदि उस वस्तु पर ध्यान न दिया जाय और दर्पण पर ही ध्यान दिया जाय तो) वह प्रतिबिम्बित आकार उस दर्पण का ही प्रतीत होता है यद्यपि वह दर्पण से भिन्न (दूसरी वस्तु) है। किन्तु वह वस्तु दर्पण के सामने से हटा दी जायगी तो वह प्रतिबिम्ब न रहेगा। किन्तु जब तक वह वस्तु दर्पण के सामने रहेगी, वह दर्पण की सम्पत्ति और उसीका स्वरूप समझा जायगा। उसी प्रकार आत्मा का स्वरूप ज्ञान है, वह दर्पण के समान स्वच्छ है, उसमें जो वस्तु प्रतीत होती है वह दर्पण के प्रतिबिम्ब की तरह उसका आकार बन जाती है अतएव आत्मा में जबतक कोई वस्तु प्रतीत होगी, आत्मा तदाकार प्रतीत होगा इसी न्याय से रति आदि स्थायी भाव रस एवं भाव अवस्था में आत्मा के आकार से भिन्न होने पर अभिन्न प्रतीत होते हैं, अतः रस को स्वाकार के समान अभिन्न कहा गया है।

❀ प्रश्न होता है कि 'रस' जब ज्ञान से अभिन्न है तो वह (रस)

आस्वाद पानक रस के समान है अर्थात् जिस प्रकार इलायची, मिरच, शर्करा, कपूर आदि के मिश्रण से बने हुए विशेष पेय रस का** आस्वाद एक विलक्षण प्रकार का हो जाता है—उसमें पृथक्-पृथक् किसी वस्तु के आस्वाद का ज्ञान न होकर एक खास आस्वाद हो जाता है—उसी प्रकार स्थायी भाव की रस अवस्था में विभावादि का पृथक् पृथक् ज्ञान न होकर इन सब का एकीभूत रस रूप आस्वाद प्राप्त होता है। वही शृङ्गारादि रस है। वह रस आस्वादित होता हुआ, सन्मुख जैसा स्फुरण करता हुआ (प्रतीत होता हुआ) हृदय में प्रवेश करता हुआ जैसा, सब अङ्गों को आलिङ्गन करता हुआ जैसा, अन्य विषयों को तिरोहित करता (छिपाता) हुआ जैसा, ब्रह्मानन्द के आनन्द का अनुभव करता हुआ जैसा, अलौकिक चमत्कारक होता है।

'रस' कार्य और ज्ञाप्य नहीं

उपर्युक्त भरत सूत्र में विभावादि के संयोग से रस की निष्पत्ति कही गई है। अर्थात् विभावादि का संयोग 'कारण' और 'रस' उसका कार्य बतलाया गया है इस पर विवेचन करते हुए अभिनवगुप्तपादाचार्य और आचार्य मम्मट ने लिखा है कि वस्तुतः रस को कार्य और विभावादिकों को उसका कारण (हेतु) नहीं कहा जा सकता क्योंकि हेतु दो प्रकार के होते हैं—कारक-हेतु और ज्ञापक-हेतु। किन्तु न तो रस के विभावादि कारक-हेतु ही हैं और न ज्ञापक-हेतु, क्योंकि विभावादिकों को कारक या ज्ञापक हेतु तो तब कहा जा सकता है जब रस कार्य हो या ज्ञाप्य। किन्तु रस न कार्य ही है और न ज्ञाप्य ही। यदि रस को कार्य रूप माना जाय तो विभावादिकों के नाश होने पर भी वह (रस) वर्तमान रहना

विषय रूप प्रतीत न होना चाहिये, इस पर कहा गया है कि नहीं, रस, विषय रूप प्रतीत भी होता है क्योंकि स्वप्रकाश मत का सिद्धान्त यह है कि जिस प्रकार सूर्य घट, पट आदि अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार आपको भी स्वयं प्रकाशित करने में समर्थ है अतः इस सिद्धान्त के अनुसार रस स्वप्रकाश होने पर भी विषयीभूत होता है।

** जीरे के जल आदि पीये जानेवाले पदार्थ का।

चाहिये। क्योंकि लौकिक में कारण के नाश होने पर कार्य वर्तमान रहता है है जैसे घट के कारण कुम्हार और उसका दण्ड-चक्र आदि के नष्ट होने पर घट बना रहता है। किन्तु रस की स्थिति विभावादि के नष्ट होने पर नहीं रह सकती अतः रस को 'कार्य' नहीं कह सकते। और यदि रस को ज्ञाप्य माना जाय तो ज्ञाप्य वस्तु की भी ज्ञापक के अभाव में स्थिति रहती है। जैसे सूर्य ज्ञापक है और घट ज्ञाप्य, सूर्य के न रहने पर भी घट की स्थिति रहती है, किन्तु विभावादि के बिना रस का वर्तमान रहना संभव नहीं, अतः रस को ज्ञाप्य भी नहीं कह सकते। यदि यह कहा जाय कि कारक और ज्ञापक से भिन्न अन्यत्र ऐसा कहां देखा जाता है, तो इसका उत्तर यही है कि 'कहीं' नहीं बस यही तो रस में अलौकिकता है। अतः यह रस का भूषण है, न कि दूषण। अच्छा, तो फिर प्रश्न होता है कि रस को कार्य नहीं मानते हो तो भरत सूत्र में विभावादि (कारण) द्वारा रस (कार्य) की उत्पत्ति क्यों कही गई है, उसका क्या समाधान है? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि रस सूक्ष्म स्थायी रूप से नित्य है—नित्य वस्तु की वास्तव उत्पत्ति नहीं, किन्तु चर्वणा (आस्वाद) की उत्पत्ति के साथ रस उत्पन्न हुआ सा और उस (चर्वणा) के नष्ट होने के साथ वह (रस) नष्ट हुआ सा ज्ञान होता है अतः चर्वणा की उत्पत्ति को लेकर रस की उत्पत्ति लोक व्यवहार में जो कही जाती है, वह औपचारिक[1] है। इस परिस्थिति में यदि रस को कार्य कहना चाहो तो कह सकते हो। और इसी प्रकार लोक-प्रसिद्ध प्रत्यक्षादि[2] ज्ञान मित योगी का ज्ञान एवं परिपक्व योगी का ज्ञान इन तीनों ही ज्ञानों से विलक्षण रस सहृदयों का ज्ञान है अर्थात् रस अलौकिक ज्ञान का विषय है, इस अवस्था में यदि रस को ज्ञाप्य भी कहना चाहो तो कह सकते हो। किन्तु रस को इस परिस्थिति में भी—यदि ज्ञाप्य माना जाय तो भी वह निर्विकल्पक और सविकल्पक दोनों ही ज्ञानों का विषय नहीं कहा जा सकता।

---

१ किसी वस्तु का धर्म किसी सम्बन्ध से दूसरी वस्तु में प्रतीत होना ही औपचारिक ज्ञान कहा जाता है।

२ संसार में तीन प्रकार के ज्ञान प्रसिद्ध हैं—

क्योंकि रस का ज्ञान विभावादिकों के ज्ञान से उत्पन्न होता है और विभावादिकों का ज्ञान स्वयं विशेष वस्तु विषयक होता है, यहां तक कि उनकी विशेषता से ही, शृंगार, हास्य, करुण आदि विशेष रसों का ज्ञान होता है अतः एवंभूत सविकल्पक ज्ञान को निर्विकल्पक ज्ञान भी नहीं कहा जा सकता है। और चर्वणा (आस्वाद) के समय अलौकिक आनन्दमय वह (रस) अपने संवेदन (स्वप्रकाशत्व) मात्र से स्वयं प्रत्यक्ष होता है उस समय अन्य ज्ञान का अभाव होने के कारण रस को सविकल्पक ज्ञान का विषय भी नहीं कहा जा सकता ! अच्छा, तो प्रश्न होता है कि रस-ज्ञान है क्या ? इसका उत्तर यह है कि रस का ज्ञान, निर्विकल्पक और सविकल्पक उभय ज्ञान का अभाव रूप और उभयात्मक (दोनों प्रकार के ज्ञान रूप) है अर्थात् रस विशेष ज्ञान स्वरूप से स्वयं प्रकाश होता है। इस अंश में वह निर्विकल्पक ज्ञान है। और विभावादिकों की जो विभावत्व आदि रूप से प्रतीति होती है, उस अंश में वह सविकल्पक भी है। निष्कर्ष यह है कि रस निर्विकल्पक[1] और सविकल्पक[2] दोनों ज्ञानों से विलक्षण और दोनों ज्ञानों के समान भी है। अतः पूर्वोक्त कार्य और ज्ञाप्य की विलक्षणता के समान इसके द्वारा भी रस की अलौकिकता सिद्ध होती है।

---

१ लोक प्रसिद्ध प्रत्यक्षादि ज्ञान।

२ मित योगी का ज्ञान जिसमें परस्पर जगत और ईश्वर में भेद प्रतीत होता है अर्थात् ध्यान-जनित सविकल्प समाधि-जन्य ज्ञान।

३ परिपक्व योगी का ज्ञान जिसमें किसी बाह्य वस्तु का सम्पर्क न रहकर केवल स्वस्वरूप आत्म मात्र विषयक निर्विकल्प समाधिजन्य ज्ञान।

१ जिसमें घट, पट आदि किसी वस्तु की प्रतीति न हो उसे निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं और योग शास्त्र में इसी ज्ञान को 'असंप्रज्ञात समाधि', कहा गया है। इस समाधि में किसी विषय का आभास नहीं होता, केवल ब्रह्मानन्द में लीन हो जाना ही इसका स्वरूप है।

२ जिसमें घट, पट आदि वस्तुओं की प्रतीति होती है उसे सविकल्पक ज्ञान कहते है। इसी ज्ञान को योग शास्त्र में 'संप्रज्ञात समाधि' कहा गया है, इसमें ज्ञाता और ज्ञेय का पृथक् पृथक् अनुसंधान रहता है।

पण्डितराज का मत

पण्डितराज जगन्नाथ ने अभिनवगुप्ताचार्य और मम्मट के मत को उद्धृत करके फिर अपना यह मत बताया है कि वास्तव में तो तैत्तरीय उपनिषद् की—

'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'।

इन श्रुतियों के अनुसार रति आदि से युक्त और आवरण-रहित चैतन्य का ही नाम रस है। और चैतन्य के आवरण का निवृत्त हो जाना अर्थात् उसका अज्ञान हट जाना ही रस की चर्वणा अर्थात् आस्वाद है। अथवा अन्तः करण की वृत्ति का आनन्दमय हो जाना ही चर्वणा है। यह परब्रह्म के आस्वाद रूप समाधि से विलक्षण है, क्योंकि रस-जन्य आत्मानन्द आलम्बनविभावादि सांसारिक विषयों से युक्त है और समाधि-जन्य आत्मानन्द में विषय का अभाव है। रस का आस्वाद काव्य के व्यापार-व्यञ्जना द्वारा उत्पन्न होता है। यदि यह कहा जाय कि इस रसास्वाद में सुख की प्रतीति होने में क्या प्रमाण ? तो हम कहते हैं कि समाधि-जन्य सुख के भान होने में भी क्या प्रमाण है ? दोनों ही प्रश्न समान हैं। यदि यह कहो कि समाधि जन्य आनन्द के विषय में—

'सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्' † ।

यह श्री भगवद्गीता का प्रमाण है तो पण्डितराज कहते हैं कि रस के आनन्द के लिये भी उपर्युक्त श्रुति प्रमाण है, जैसा कि उनमें कहा गया है—'यह आत्मा रस रूप है। रस को प्राप्त होकर ही यह आनन्द रूप बनता है'। और श्रुति-प्रमाण के अतिरिक्त सहृदयजनों का अनुभव रूप प्रत्यक्ष-प्रमाण भी है—रस के आस्वादन में जो अलौकिक आनन्द है, उसके विषय में सहृदय जनों से पूछियेगा, वे क्या कहते हैं।

विश्वनाथ का मत

विश्वनाथ ने भी साहित्यदर्पण में रस का बहुत विवेचन किया है, पर वह अधिकांश में काव्यप्रकाश पर अवलम्बित है, अतः उसे पृथक् दिखलाना केवल

† समाधि-जन्य आनन्द बुद्धि-ग्राह्य है वह इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता है।

विस्तार करना है। हाँ, इन्होंने रस की परिभाषा में 'व्यक्त' शब्द का प्रयोग काव्यप्रकाशोक्त—'व्यक्तः सतैः विभावाद्यै' के अनुसार करके विभावादि द्वारा रस व्यक्त होना उस प्रकार बतलाया है—जैसे दूध का दही के रूप में परिणत हो जाना (बदल जाना)। वे 'व्यक्त' का अर्थ प्रकाशित होना इसलिये नहीं स्वीकार करते कि 'प्रकाशित तो वही वस्तु हो सकती है जो पहिले से वर्तमान हो—जैसे पहिले से रक्खा हुआ घट दीपक से प्रकाशित हो जाता है, किन्तु 'रस' जब कि विभावनादि की भावना के पूर्व होता ही नहीं तो न हुई वस्तु किस प्रकार प्रकाशित होगी? इसमें विश्वनाथ ने अभिनवगुप्तपादाचार्य के—

'रसाः प्रतीयन्त इतिओदनं पचतीति वद् व्यवहारः'।

—ध्वन्यालोक पृ० ६६

इस वाक्य का प्रमाण दिया है कि 'रस प्रतीत होते हैं' यह कहना उसी प्रकार का है, जैसा 'भात पकाते हैं' कहा जाता है, अर्थात् चावलों के पक जाने के बाद ही भात संज्ञा होती है—पकने के पूर्व नहीं, पर व्यवहार में लोग कहते हैं, भात पकाते हैं, इसी प्रकार रस भी प्रतीति से ही निष्पन्न होते हैं, रस प्रतीयमान (प्रतीत होने वाले) ही होते हैं—प्रतीति के पूर्व रस नहीं होते किन्तु ऐसा कहना भी पूर्वोक्त 'भात पकाते हैं' के समान है।

पूर्वोक्त व्याख्याओं का निष्कर्ष

यह तो सभी व्याख्याकारों को स्वीकार है कि रस का आस्वाद रति आदि चित्त की वृत्तियों में (स्थायी भावों में) रहता है और वह विभावादिकों द्वारा निष्पन्न होता है किन्तु यहां प्रश्न यह उपस्थित होता है, कि वे रति आदि भाव पाठकों अथवा दर्शकों के हृदय में किस प्रकार आस्वाद की विषयी अवस्था को बनाते हैं; दूसरे शब्दों में वे रति आदि चित्त वृत्तियां—जिनमें रति की स्थिति है—किस की हैं—काव्य में वर्णित (अथवा नाट्य के अनुकार्य) दुष्यन्त शकुन्तला आदि की हैं अथवा सामाजिकों की? (काव्य के श्रोता अथवा नाटक के दर्शकों की?) और यदि वे दुष्यन्तादि की हैं तो नट को उनका अभिनय करते हुए देख कर सामाजिकों को उनके द्वारा किस प्रकार आनन्द प्राप्त हो

सकता है? इन्हीं प्रश्नों के उत्तर में पूर्वोक्त व्याख्याकारों के विभिन्न मत हैं जिनका निष्कर्ष यह है—

(१) भट्ट लोल्लट का मत है कि वास्तविक रति आदि चित्त वृत्तियां काव्य में वर्णित दुष्यन्तादि में ही रहती हैं, पर सामाजिक उन चित्त वृत्तियों का नट पर आरोप कर लेते हैं—और उन आरोपित चित्त वृत्तियों के ज्ञान से सामाजिकों को आनन्द प्राप्त होता है।

(२) श्री शंकुक का मत है कि दुष्यन्तादि की उन चित्त वृत्तियों का नट में अनुमान किया जाता है और उसी में आनन्द प्राप्त होता है।

(३) भट्ट नायक का मत है कि किसी भी काव्य के श्रवण अथवा अभिनय के देखने पर तीन कार्य होते हैं। प्रथम उसका अर्थ समझा जाता है फिर उसकी भावना की जाती है अर्थात् अनुसन्धान (चिन्तन) किया जाता है, जिसके प्रभाव से काव्य में सुनी हुई और अभिनय में देखी हुई वस्तुओं में हम अपना और परायापन नहीं समझ सकते, उसके बाद आत्म-चैतन्य के प्रकाशित साधारण रूप में उपस्थित रति आदि चित्त वृत्तियों के अनुभव का आनन्द प्राप्त करते हैं, यह जो भोग व्यापार है वही रस है।

(४) अभिनवगुप्तपादाचार्य और मम्मटाचार्य का मत है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा एक अलौकिक क्रिया—जिसको विभावन कहते हैं, उत्पन्न होती है जो कि व्यञ्जना का व्यापार है—उसके द्वारा अथवा विभावादिकों के आस्वादन के प्रभाव द्वारा ही हमारे आत्म चैतन्य का आवरण —अज्ञान रूप परदा—हट जाता है। उसके बाद हमारे हृदय में वासना रूप से रहने वाले रति आदि का उस आत्मचैतन्य द्वारा प्रकाश होता है। उसी आनन्द रूप आत्म-चैतन्य युक्त उन रति भावों का आनन्दानुभव रस है। तात्पर्य यह है कि आत्मानन्द युक्त सामाजिकों के हृदय में वासना रूप से रहने वाले रति आदि का अनुभव ही रस है।

(५) पण्डितराज जगन्नाथ और अभिनवगुप्तपादाचार्य एवं मम्मट के मत में केवल यही भेद है कि अभिनवगुप्तपाद और मम्मट अज्ञान रूप आवरण

रहित चैतन्य से युक्त रति आदि स्थायी भाव को रस बताते हैं। और पण्डित-राज रति आदि संयुक्त आवरण-रहित चैतन्य को रस बताते हैं। अर्थात् अभिनवगुप्तपाद और मम्मट के मत में रस की अभिव्यक्ति मे 'चैतन्य' विशेषण (गौण) और रति आदि विशेष्य (मुख्य) है और पण्डितराज के मत में रति आदि विशेषण (गौण) और 'चैतन्य' विशेष्य (मुख्य) है। पण्डितराज का कहना है कि रस का अनुभव आत्मानन्द रूप ही है, भेद केवल यही है कि रस-जन्य आनन्द रति आदि भावों से परिच्छिन्न होकर प्रतीत होता है और समाधि-जन्य आनन्द अपरिच्छिन्न। बस भरत सूत्र की विभिन्न व्याख्याओं का यही निष्कर्ष है।

विभाव, अनुभाव, आदि प्रत्येक स्वतन्त्र रस-व्यञ्जक नहीं

रस के विषय में अभिनवगुप्तपादाचार्य ने अन्य विद्वानो के भी कुछ मत दिखलाये हैं—जिनकी स्पष्टता पण्डितराज जगन्नाथ ने (रसगङ्गा० पृ० २८) इस प्रकार की है कि कुछ विद्वानो का मत है कि नट (विभाव) को अभिनय करता हुआ देख कर, उसका बार बार चिन्तन करने पर आनन्द होता है अतः रति आदि स्थायी भावों के जो आलम्बन-विभाव हैं, वही रस है—'भाव्यमानो विभाव एव रसः इति'। दूसरे लोग कहते हैं कि नट द्वारा शकुन्तला आदि के रूप में की हुई शारीरिक चेष्टाओं का बार-बार चिन्तन करने से अर्थात् अनुभावों द्वारा आनन्द प्राप्त होता है अतः अनुभाव ही रस है—'अनुभाव-स्तथा तथा इतीतरे'। कोई कहता है कि रस के आलम्बन विभाव की चित्त-वृत्तिया अर्थात् व्यभिचारी भाव ही रस रूप मे परिणत होते हैं अत वही रस है—

व्यभिचार्येव तथा तथा परिणमति इति केचित्'

बहुत से कहते हैं कि किसी नाटक में नट के रूप-लावण्य और वेषभूषा एवं सुन्दर दृश्य (सीनरी) आदि विभावों द्वारा, किसी मे नट के मनोमोहक अभिनया (कटाक्ष, भ्रूक्षेपादि चेष्टाओं) अर्थात् अनुभावों द्वारा और किसी में उनके मनोभावों के विश्लेषण अर्थात् व्यभिचारी भावों द्वारा आनन्द प्राप्त होता

है अतः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी इन तीनों में जिसमें चमत्कार हो वही रस है—

त्रिषु य एव चमत्कारी स एव रसोऽन्यथा त्रयोरपि न इति बहवः'।

किन्तु ये सभी मत सर्वथा अग्राह्य हैं, क्योंकि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी इन तीनों में से केवल एक अर्थात् केवल विभाव, या केवल अनुभाव अथवा केवल व्यभिचारी द्वारा रस की अभिव्यक्ति कदापि नहीं हो सकती। बात यह है कि इन तीनो की किसी भी एक रस में एकान्तिक स्थिति नहीं अर्थात् ये एक खास रस के नियत नहीं हैं—जो एक रस में होते हैं, वही दूसरे रस मे भी हो सकते हैं। जैसे सिंह आदिक हिंसक जीव भयानक रस के आलम्बन विभाव होते हैं, वही (सिंह आदि) वीर और रुद्र रस में भी आलम्बन हो सकते हैं, क्योंकि कायर पुरुष के लिये वह जिस प्रकार भय के आलम्बन हैं, उसी प्रकार दृढ़-चित्त वीर पुरुष के लिये उत्साह और क्रोध के आलम्बन भी हो सकते हैं। एवं अश्रुपातादि जैसे शृङ्गार रस मे अनुभाव हो सकते हैं, उसी तरह वही करुण और भयानक में भी अनुभाव हो सकते हैं, क्योंकि अश्रु प्रेम से भी और शोक तथा भय से भी उत्पन्न हो सकते हैं। चिन्ता आदि चित्त वृत्तिया व्यभिचारी भाव जिस प्रकार शृङ्गार रस के स्थायी 'रति' की पुष्टि करते हैं, उसी प्रकार वह करुण, भयानक आदि रसों में शोक, भय आदि की पुष्टि भी करते हैं, ऐसी अवस्था में केवल एक के द्वारा रस किस प्रकार ध्वनित हो सकता है। अतएव सिद्ध होता है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी स्वतन्त्र रूप मे रस रूप अथवा रस के उत्पादक नहीं हो सकते।

अच्छा, अब यहा यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि जब विभाव अनुभाव और सञ्चारी इन तीन के समूह द्वारा ही रस की निष्पत्ति है—किसी एक द्वारा नहीं तो, कहीं केवल एक विभाव ही होता है कहीं केवल अनुभाव ही होते हैं तथा कहीं केवल व्यभिचारी ही होते हैं और कहीं इन तीनो में दो ही होते हैं, किन्तु ऐसे काव्यों में भी रस की स्थिति स्वीकार की जाती है, वह क्यों? इसका उत्तर यह है कि जहां विभावादि तीनों में एक ही स्पष्ट प्रतीत होता है, वहा वह

अपने व्यञ्जनीय रस का ऐसा असाधारण संबन्ध होता है, जो अन्य किसी दूसरे रस की उपस्थिति नहीं होने देता अतः उसके द्वारा शेष दोनों का आक्षेप हो जाता है अर्थात् वह एक अपने व्यंजनीय रस के अनुकूल शेष दोनों भावों का बोध करा देता है, तब इन तीनों के समूह से ही वहां रस व्यक्त होता है—न कि एक के द्वारा जैसे

'वियदलिमलिनाम्बुगर्भमेघं मधुकरकोकिलकूजितैर्दिशांश्रीः।
धरणिरभिनवाङ्कुराङ्कटङ्का प्रणतिपरे दयिते प्रसीद मुग्धे' ॥*

यहां केवल मानिनी नायिका आलम्बन और वर्षा-कालिक उद्दीपन विभावों का वर्णन है—अनुभाव और संचारी नहीं किन्तु मानिनी नायिका विप्रलम्भ शृङ्गार का असाधारण आलम्बन विभाव है—वह किसी दूसरे रस की प्रतीति नहीं होने देता अतएव इस विभाव के कारण अंगों का वैवर्ण्य आदि अनुभाव और चिन्ता आदि व्यभिचारियों का स्वयं आक्षेप हो जाता है। फिर इन तीनों ही के समूह से रति स्थायी भाव यहा वियोग-शृङ्गार रस के रूप में व्यक्त होता है।

विभावादि तीनो का समूह भी रस-व्यञ्जक नहीं

यद्यपि कुछ लोगों का यह मत है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव इन तीनों का समूह रस है—

* मानिनी नायिका के प्रति सखी की उक्ति है—हे मुग्धे, देख तो यह कैसा रमणीय कामोद्दीपक समय है गगनमण्डल भ्रमर पुञ्ज जैसे श्याम सजल मेघों से आच्छादित है। दशों दिशाएं मधुकरों की गुञ्जार और कोकिलों की कूज से मुखरित हो रही हैं। पृथ्वी नवीन अकुरों से व्याप्त है अतएव अब मान छोड़ कर बार बार प्रणाम करते हुए प्रिय पर तू प्रसन्न हो। निष्कर्ष यह कि जहां दृष्टिपात किया जाय वहीं उद्दीपन सामग्रियां हैं ऐसे समय तेरा मान स्थिर रहना नितान्त असम्भव है अतएव यह बड़ा अच्छा अवसर है—तेरा प्रणयी तुझे पाद-पतन से प्रसन्न कर रहा है यदि अब तू इस अवसर पर प्रसन्न न होगी तो यह अवसर निकल जाने पर सम्भव है तू स्वयं उत्कंठित होकर प्रियतम से मिलने का यत्न करे।

'विभावादयस्त्रयः समुदिता रसाः इति कतिपये', ।

—रसगं० पृ० २८

किन्तु केवल इन तीनों के समूह को भी रस नहीं कहा जा सकता क्योंकि रस अवस्था को रति आदि स्थायी भाव ही प्राप्त हो सकते हैं—विभावादि तीनों का समूह तो केवल स्थायी भाव को रस रूप में व्यक्त करने वाला है।

स्थायी और व्यभिचारी भावों का भेद

यद्यपि 'रति' आदि ९ स्थायी भाव भी चित्त-वृत्तियां ही हैं, रति आदि भी अपने-अपने रस में ही स्थायी संज्ञा को प्राप्त होते हैं, जैसे शृङ्गार में रति, हास्य में हास, करुण में शोक, रौद्र, में क्रोध, वीर में उत्साह, भयानक में भय, बीभत्स में जुगुप्सा, अद्भुत में विस्मय और शान्त में निर्वेद ये आदि से अन्त तक वर्तमान रहते हैं। किन्तु जब ये अपने रस से अन्यत्र किसी दूसरे रस में होते हैं, तो वहां ये स्थायी नहीं रह कर उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं अतएव वहां यह भी व्यभिचारी हो जाते हैं। जैसे शृङ्गार रस में 'रति' अन्त तक बना रहता है अतः वहाँ यह स्थायी माना गया है किन्तु हास (जो कि हास्य रस में स्थायी होता है) शृङ्गार और वीर रस में उत्पन्न और विलीन होता रहता है अतएव वहां वह व्यभिचारी हो जाता है। इसी प्रकार क्रोध, जुगुप्सा और उत्साह आदि क्रमशः रौद्र, बीभत्स और वीर में स्थायी होने पर भी वीर, शान्त और रौद्र, में क्रमशः व्यभिचारी हो जाते हैं।

अब यहां यह प्रश्न हो सकता है कि जब 'रति' आदि भाव भी चित्त वृत्तियां हैं और यह भी अन्य रसों में व्यभिचारी की अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, तो फिर रति आदि स्थायी भावों को ही रस अवस्था का प्राप्त होना क्यों माना गया, निर्वेद * आदि अन्य भावों को (जिनको व्यभिचारी भाव माना गया है) क्यों नहीं? इसका समाधान यह है कि चित्त वृत्तियां तो असंख्य हैं किन्तु साहित्य-शास्त्र में उल्लेखनीय ४२ ही मानी गई हैं (यदि सात्विक भावों को सम्मिलित

* वैराग्य से उत्पन्न निर्वेद स्थायी होता है और इष्ट-वियोगादि जन्य निर्वेद व्यभिचारी।

कर लिया जाय तो ४६ या ५०) जिनमें ३३ चित्त वृत्तियां ऐसी हैं जो किसी एक रस में आदि से अन्त तक नियत रूप से स्थिर नहीं रह सकती—सभी रसों में यथा अवसर—प्रसंगानुसार कभी कोई कभी कोई समुद्र की तरंगों के समान सञ्चार करती और लुप्त होती रहती हैं अतएव उनको व्यभिचारी भाव माना गया है। और रति आदि ६ चित्त वृत्तिया जिनको स्थायी भाव माना गया है, वे अपने एक-एक रस में नियम से एक-एक, आदि से अन्त तक स्थिर रूप से प्रतीत होती रहती हैं। यदि यह कहा जाय कि चित्त-वृत्तिया तो सभी तत्काल नष्ट हो जाने वाले पदार्थ हैं इनका स्थिर रहना बड़ा दुर्लभ है, यदि इनको वासना रूप से स्थिर माना जाय तो जिन चित्त-वृत्तियों की व्यभिचारी भाव संज्ञा है, वे भी वासना रूप से तो अन्तःकरण में विद्यमान रहती ही हैं फिर स्थायी भाव और व्यभिचारी भाव में भेद ही क्या ? इसका उत्तर यह है कि वासना रूप स्थायी भावों का बार-बार अभिव्यक्त होना और दूसरे भावों से नष्ट न होना ही यहां स्थिर या स्थायी पद का अर्थ है। क्योंकि वे अपने किसी विरोधी भाव से अथवा अपने अनुकूल किसी भाव से तिरोधान (छिप) नहीं हो सकते। कहा है—

'विरुद्धा अविरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमः ॥
आनन्दङ्कुरकन्दोसौ भावः स्थायी पदास्पदम्'।

—काव्यप्रदीप

किन्तु व्यभिचारी भाव अपने अनुकूल भाव से इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे सूर्य के प्रकाश से अन्य प्रकाश और विरुद्ध भाव से इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे जल से अग्नि। पर स्थायी भाव इस प्रकार किसी भाव से नष्ट नहीं होते। स्थायी भाव लवणाकर (क्षार समुद्र) के समान है जैसे लवणाकर में खट्टी, मीठी चर्परी जो वस्तु गिरती हैं वह सभी लवण बन जाती हैं, इसी प्रकार स्थायी भाव में, सभी व्यभिचारी-भाव अनुकूल हों या प्रतिकूल स्थायी भाव के तद्रूप बन जाते हैं। इसी लिए स्थायी भावों को राजा के तुल्य और अन्य भावों को साधारण-जनता के समान माना गया है—

'यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह' ॥

—नाट्यशास्त्र ७।१२

अतएव 'रति' आदि स्थायी भाव ही पूर्वोक्त विभावादि के संयोग से रस अवस्था को प्राप्त हो सकते हैं, न कि व्यभिचारी भाव।

'रस' वाच्य नहीं व्यङ्ग्य है

इस विवेचन द्वारा स्पष्ट है कि शृङ्गारादि रस वाच्य नहीं, अर्थात् शृङ्गार आदि शब्दों के कथन मात्र से अथवा रस-वाचक शब्दों का अर्थ समझने मात्र से आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। यदि रस के नाम मात्र से ही आनन्द प्राप्त होना संभव होता तो कवि या नाट्यकार द्वारा अपनी कृति पर यह विज्ञप्ति करने पर कि इसमें अमुक रस है आनन्द होना चाहिये था पर ऐसा नहीं होता, जब तक कि उस कृति में रसोद्बोधक उपयुक्त सामाग्रियां (विभावादि) न हों। अतएव सिद्ध हुआ कि 'रस' विभावादि द्वारा प्रतीत होने वाला व्यंग्यार्थ है। व्यंग्यार्थ वाच्य नहीं होता, किन्तु ध्वनि द्वारा ध्वनित होता है। व्यंग्यार्थ और ध्वनि क्या वस्तु हैं इसकी स्पष्टता ध्वनि सम्प्रदाय के प्रकरण में की जायगी।

रसों की संख्या

रसों की संख्या में भी साहित्याचार्यों का कुछ मतभेद है। रस सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री भरतमुनि ने यद्यपि प्रारम्भ में—

'शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' ॥

नाट्यशा० ६।१६।

इस कारिका में शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत ये आठ रस नाट्योपयोगी बतलाये हैं। पर इनके निरूपण के पश्चात्—

"अत शान्तो नाम...। मोक्षाध्यात्मसमुत्थ...शान्त रसो नाम सम्भवति। ..... एवं नवरसा दृष्टा नाट्यज्ञैर्लक्षणान्विताः।"

(नाट्यशास्त्र पृ० ३२४-३३ गायकवाड़ संस्क०)

इन सूत्र और कारिकाओं में शान्त रस का भी निरूपण किया है। केवल यही नहीं, उन्होंने शान्त रस से ही रति आदि अन्य सभी भावों की उत्पत्ति और शान्त में ही सबका लय स्वीकार किया है—

'स्वांस्वं निमित्तयासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापायेच शान्त एवोपलीयते।'

(नाट्यशास्त्र ६।१०८)

और इसकी व्याख्या में श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य ने कहा है—

'तत्वज्ञानं तु सकलभावान्तरभित्तिस्थानीयं सर्वस्थायिभ्भः स्थयितमं'—

(अभिनवभारती पृ० ३३७)

यों तो भरत मुनि ने सर्व प्रथम चार रस ही माने हैं, शृङ्गार, रौद्र, वीर और बीभत्स और इन्हीं से शेष चार रसों का प्रादुर्भाव बतलाया है—शृङ्गार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और बीभत्स से भयानक। उसके बाद रस निरूपण करते हुए अन्त में शान्त की ही प्रधानता स्वीकार की है। अग्निपुराण में शृङ्गार रस से ही अन्य रसों की उत्पत्ति मानी गई है। वहा इस विषय में कहा गया है कि वेदान्तों में जिसे अक्षर, अज, चैतन्य, स्वप्रकाशादि ईश्वर परब्रह्म कहा गया है, वह स्वतः सिद्ध आनन्दमय है अथवा उसमें आनन्द विद्यमान है, वह आनन्द किसी समय प्रकट हो जाया करता है, उस आनन्द की जो अभिव्यक्ति है, वह चैतन्य चमत्कार अथवा रस है। उस आनन्द का प्रथम विकार अहङ्कार है, अहङ्कार से अभिमान उत्पन्न होता है जो त्रैलोक्य में व्याप्त है। उसी अभिमान से रति (प्रेम या अनुराग) उत्पन्न होती है, वही रति व्यभिचारी आदि से पुष्ट होकर शृङ्गार रस कही जाती है। और रति के हास्यादिक भेद हैं अर्थात् रति, सत्वादि गुणों के विस्तार से राग, तीक्ष्णता, गर्व सङ्कोच इन चार रूपों में परिणत होती है—राग से शृङ्गार, तीक्ष्णता से रौद्र, गर्व से वीर और सङ्कोच से बीभत्स रस की उत्पत्ति है। फिर

श्रृङ्गार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और बीभत्स से भयानक रस उत्पन्न होता है और रति के अभाव से शान्त रस की उत्पत्ति है।

नाट्यशास्त्र और अग्निपुराण के पश्चात् उपलब्ध ग्रन्थों में भामह और दण्डी ने इस विषय पर विशेष विवेचन नहीं किया है—रसवद् अलङ्कार प्रकरण में रसों का नामोल्लेख मात्र किया है। इसके बाद रस विषयक विवेचन हम को रुद्रट के काव्यालङ्कार में मिलता है। रुद्रट ने प्राचीनों के नव रसों के अतिरिक्त एक 'प्रेयान्' नामक रस बतलाया है जिसका स्थायी वह स्नेह बतलाता है। कुछ विद्वानों ने, वात्सल्य, लौल्य, भक्ति, श्रद्धा आदि स्वतन्त्र रस माने हैं किन्तु साहित्य के प्रसिद्ध आचार्यों ने इन को पृथक रस स्वीकार नहीं किया—किन्तु प्राचीनों के निरूपित नौ रसों के अन्तर्गत ही इन सब को बतलाया है और प्रायः सभी साहित्याचार्यों ने नौ रस ही माने हैं। कुछ आचार्यों ने श्रृङ्गार रस को ही प्रधान माना है। श्री भोजराज ने अग्निपुराण का अनुसरण करते हुए अपने 'श्रृङ्गारप्रकाश' में तो यहां तक कहा है श्रृङ्गार ही एक मात्र रस है, वीर अद्भुत आदि में रस शब्द का प्रयोग केवल गतानुगतिक—अन्ध परम्परा से किया जाता है—

> 'श्रृङ्गारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य
> बीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः।
> आम्नासिषुर्दशरसान्सुधियो वयं तु
> श्रृङ्गारमेव रसदाद्रसमामनामः' ॥
> 'वीराद्भुतादिषु च येह रसप्रसिद्धिः
> सिद्धा कुतोऽपि वटयक्षवदाविभाति।
> लोके गतानुगतिकत्ववशादुपेता—
> मेतां निवर्तयितुमेष परिश्रमोनः ॥

—श्रृङ्गारप्रकाश प्रथम प्रकाश ६,७

इसी प्रकार महाकवि भवभूति ने उत्तररामचरित के—

'एको रसः करुण एव निमित्तभेदा-
भिन्नः पृथक्पृथगिव श्रयते विवर्तान्,
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान्विकारा-
नम्भो तथा सलिलमेव हि तत्समस्तम् ।' ३।४७

इस पद्य में करुण रस को ही अन्य सारे रसों का मूल तत्व माना है। यद्यपि उत्तररामचरित के टीकाकार श्री वीरराघव ने इसकी स्पष्टता में कहा है कि करुण को प्रधान इसलिये माना गया है कि वह रागी (प्रेमी) और विरागी (विरक्त) सभी के लिये साधारण है—शृङ्गार रस में यह महत्व नहीं वह केवल रागी जनों को ही आनन्दप्रद हो सकता है। किन्तु महाराज भोज और भवभूति आदि का यह विवेचन अपने अभिमत रस का महत्व प्रदर्शित करना मात्र है। यद्यपि रस सम्प्रदाय के प्रधानाचार्य श्री भरत के नाट्यशास्त्र और अग्निपुराण मे शान्त और शृङ्गार से अन्य रसों की उत्पत्ति मानी गई है। किन्तु आश्चर्य है कि रस सम्प्रदाय के प्रधान प्रतिनिधि ध्वनिकार और आचार्य मम्मट आदि महान् साहित्याचार्यों द्वारा इस विषय मे विशेष विवेचन नहीं किया गया है।

—:❀:—

भक्ति रस

साहित्य के आद्याचार्य भरतमुनि ने शृङ्गार आदि नौ रस ही स्वीकार किये हैं और नौ रसों में शान्त रस को प्रधानता दी है। अन्य सब रसों का शान्त रस से ही प्रादुर्भाव और शान्त रस में ही लय होना बताया है (नाट्यशास्त्र ६।१०८) यह तो पहिले दिखाया ही जा चुका है। भरतमुनि ने 'भक्ति' को शान्त रस के अन्तर्गत ही माना है जैसा कि नाट्यशास्त्र ६।१०८ की अभिनवभारती व्याख्या के--

'अतएवेश्वरप्रणिधानविषये भक्तिश्रद्धे · '।

इस वाक्य में अभिनवगुप्तपादाचार्य ने स्पष्ट किया है। प्रतीत होता है कि भरतमुनि ने निराकारोपासना और साकारोपासना दोनों का आलम्बन एक ही

साक्षात् सच्चिदानन्द पूर्ण ब्रह्म होने के कारण ज्ञान और भक्ति दोनों का समावेश शान्त रस में कर दिया है।

भरतमुनि के बाद साहित्य के उपलब्ध ग्रन्थों में भामह ने 'प्रेय' नामक एक अलङ्कार का लक्षण न देकर केवल—

'प्रेयोगृहागत कृष्णमवादीद्विदुरो यथा।'

यह लिख कर—

अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।
कालनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः॥'

—काव्यालङ्कार ३।५

यह उदाहरण दिया है। और भामह के बाद दण्डी ने 'प्रेय' अलङ्कार का—'प्रेयो प्रियतराख्यानं*।' यह लक्षण लिखा है। और भामह का यही—'अद्य या मम गोविन्द···' उदाहरण दिखाकर फिर इसकी—

'इत्याह युक्तं विदुरो नान्यतस्तादृशी धृतिः।
भक्तिमात्रसमाराध्यः सुप्रीतश्च ततो हरिः।'

—काव्यादर्श २।२७७

यह स्पष्टता की है कि भगवान् हरि का भक्तिमात्र से ही आराध्य होने के कारण विदुर का यह वाक्य भगवान् के प्रति कहना उचित ही है। अतः भगवान् भक्ति द्वारा जैसे प्रसन्न होते हैं वैसे अन्य—यज्ञादि कर्मों द्वारा नहीं होते।

दण्डी के बाद आचार्य उद्भट ने प्रेय अलङ्कार को—

रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचनैः।
यत्काव्यं वध्यते सद्भिस्तत्प्रेयस्वदुदाहृतम्।'

—अलङ्कारसारसंग्रह ४।२

इस लक्षण में रति आदि भावों का अनुभावों द्वारा सूचन किये जाने को 'प्रेय' अलङ्कार माना है। इसके द्वारा स्पष्ट है कि भरतमुनि के बाद मम्मट के पूर्ववर्ती

* अत्यन्त प्रीति सूचक वाक्य कथन करना।

भामह आदि ने 'भक्ति' को 'प्रेय' अलङ्कार का विषय माना है। किन्तु उसके बाद आचार्य मम्मट ने भरत के मतानुसार भक्ति को शान्तरस के अन्तर्गत इसलिये नहीं माना कि 'शान्त' रस का स्थायी जो 'निर्वेद' है वह भक्ति का विरोधी है। और भामहादि के मतानुसार भक्ति को अलङ्कार का विषय इसलिये नहीं माना कि 'रति' (जो भक्ति का ही पर्यायवाची शब्द है) रसोद्बोधक प्रधान पदार्थ है। पर साथ ही मम्मट ने भरतमुनि द्वारा निर्दिष्ट रसों की संख्या की मर्यादा को उल्लंघन करना भी उचित नहीं समझ कर अगत्या भक्ति का—

'रतिर्देवादिविषया [1] व्यभिचारी तथाऽञ्जितः। भावः प्रोक्तः।'

काव्यप्रकाश ४।३५

इस कारिका द्वारा अन्य भावों के साथ 'रतिभाव' मे समावेश कर दिया। और गतानुगतिक न्याय से मम्मट के परवर्ती आचार्य मम्मट का ही अनुसरण करने लग गये। 'भक्ति' को स्वतन्त्र रस क्यों नहीं माना जाय? इस विषय में पण्डितराज जगन्नाथ ने पूर्वपक्ष उठा कर फिर केवल यही कह कर कि 'भरतमुनि द्वारा नियत की हुई रसों की संख्या मानना ही उचित है' स्वयं समाधान भी कर लिया।

इस विवेचन द्वारा स्पष्ट है कि 'भक्ति' को स्वतंत्र रस न मानने का कारण एक मात्र साहित्यिक परिपाटी अथवा रूढ़ि है। यदि वस्तु-स्थिति पर विचार किया जाय तो शृङ्गारादि नवों रसों के अतिरिक्त—

भक्ति सर्वोपरि प्रधान रस है

क्योंकि—

'रसो वै सः' 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।' आनन्दाद्ध्येव

---

१ यहां 'देवादि' में 'आदि' के प्रयोग द्वारा गुरु, मुनि, विषयक रति (श्रद्धा), राजा विषयक रति (चाटुकारी), और पुत्र विषयक रति (वात्सल्य) आदि का ग्रहण किया गया है—'आदि शब्दान्मुनिगुरुनृपपुत्रादिविषया।' — काव्यप्रकाश ४।३५ वृत्ति।

खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दंप्रयन्त्यभिसंविशन्ति।'

इत्यादि श्रुति प्रमाणों और भगवान् वेदव्यास के—

> अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्।
> वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्॥
> आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
> व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया॥
>
> —अग्निपुराण ३४०।१,२

इत्यादि वाक्यों के अनुसार ब्रह्मानन्द को ही रस के रसत्व का मूलतत्त्व सभी साहित्याचार्यों ने स्वीकार किया है। अर्थात् साहित्याचार्यों का मत है कि अज्ञान रूप आवरण से रहित जो चैतन्य है उससे युक्त 'रति' आदि स्थायीभाव ही रस है। इसी आधार पर साहित्याचार्यों ने रस-जन्य आनन्द को 'ब्रह्मानन्दसहोदर' बताया है। वस्तुतः देखा जाय तो साहित्याचार्यों ने शृङ्गार आदि रसों को तो ब्रह्मानन्द सहोदर मात्र ही माना है किंतु भक्तिरस और ब्रह्मानंद को तो केवल दो नाम मात्र ही हैं—वस्तुतः दोनों एक ही हैं। देखिये, भगवद्पाद श्री शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धान्त के प्रतिपादक अद्वैतसिद्धि के प्रणेता परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमधुसूदन सरस्वती क्या कहते हैं—

"समाधिसुखस्येव भक्तिसुखस्यापि स्वतंत्रपुरुषार्थत्वात् तस्मात् ......भक्तियोगः पुरुषार्थः परमानन्दरूपत्वात्त्वादिति निर्विवादम्।"

—भक्तिरसायन प्रथमोल्लास पृ० ६

इसमें आपने समाधि-जन्य ब्रह्मानन्द को और भक्ति रसास्वाद को समान माना है। यह तो हुआ समाधि-सुख के अनुभवी अव्यक्तोपासकों का मत। अब देखिये, इस विषय में भक्तिरसास्वाद के अनुभवी अनन्य भक्त क्या कहते हैं—

> ब्रह्मानन्दो भवदेष चेत् परार्द्धगुणीकृतः।
> नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि॥'

श्री रूपस्वामी प्रणीत हरिभक्तिरसामृत सिन्धु १।१९,२०

इसमें भक्तिरसास्वाद की अपेक्षा परार्द्ध काल पर्यन्त के समाधि-जन्य ब्रह्मानन्द को परमाणु के तुल्य भी नहीं माना गया है। इसी प्रकार श्री ध्रुव ने—

'या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म-
ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात्।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्
किन्त्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात्*।'

—श्रीमद्भागवत ४।९।१०

इसी प्रकार अनेक प्रसंगों में श्रीमद्भागवत आदि मे भक्ति-रसास्वाद को ब्रह्मानन्द से बढ़ कर बताया गया है। यही नहीं, सर्व प्रधान साहित्याचार्य श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने स्वयं कहा है—

'या व्यापारवती रसान्रसयितुं काचित्कवीनां नवा,
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।
ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं,
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन त्वद्भक्तितुल्यं सुखम्।'

—ध्वन्यालोक पृ० २२७

इसके द्वारा निर्विवाद सिद्ध होता है कि भक्ति रसानन्द सर्वोपरि है। इसके अतिरिक्त अन्य रसों के साथ रसोद्बोधक पदार्थों का तुलनात्मक भी विचार किया जाय तो शृङ्गारादि अन्य रसों के स्थायी और विभावादि सभी लौकिक हैं और भक्तिरस के स्थायी और विभावादि सभी अलौकिक हैं। भक्ति रस में—

स्थायी—भगवद्विषयक अनुराग-रति अलौकिक है।

---

* हे नाथ, जो परमानन्द शरीरधारियों को आपके पदारविन्द के ध्यान द्वारा और आपके भक्तों से कथाश्रवण द्वारा उपलब्ध होता है, वह—परमानन्द ब्रह्मानन्द से भी प्राप्त नहीं हो सकता। फिर कालरूपी खड्ग से कट कर गिरते हुए विमान से गिरने वाले स्वर्गवासियों को वह कहां प्राप्त हो सकता है।

आलंबन विभाव—साक्षात् पूर्णब्रह्म भगवान् श्रीराम कृष्ण आदि के अखिलविश्वसौन्दर्यनिधि दिव्य विग्रह हैं, वे भी अलौकिक हैं।

अनुभाव—अनन्य प्रेम-जन्य अश्रु, रोमाञ्च आदि भी अलौकिक हैं[1]।

व्यभिचारी—हर्ष, औत्सुक्य, आवेग, चपलता, उन्माद, चिन्ता, दैन्य, धृति स्मृति और मति आदि सभी अलौकिक ही हैं[1]। अतएव कहा है—

"पराभक्तिः प्रोक्ता रस इति रसास्वदनचणैः।'

—भगवद्भक्ति चन्द्रिकामृतरसोल्लास

ऐसी परिस्थिति में खेद है कि जिन साद्याभास नवों रसों में चिदानन्द के अंशांश के स्फुरण मात्र से साहित्याचार्य रसानुभूति बतलाते हैं उनको साहित्य में रस की प्रतिष्ठा दी गई है एवं कान्ताविषयक रति को सर्वप्रधान शृङ्गार रस माना गया है। किन्तु—

'एतस्यैवानन्दस्य आनन्दा मात्रानुपजीवन्ति।'

इत्यादि श्रुतियों द्वारा प्रतिपादित जो ब्रह्मानन्द अखिल आनन्दों का एक मात्र आश्रय है, उस साक्षात् चिदानन्दात्मक ब्रह्मानंद से भी बढ़ कर भगवद्भक्ति-जन्य परमानंद है उसे रस न मानकर राज विषयक रति (मिथ्याप्रशंसात्मक चाटुकारी) एवं पुत्र विषयक रति (वात्सल्य) के समान ही 'भाव' मात्र माना गया है। इससे अधिक क्या आश्चर्य हो सकता है! यही क्यों क्रोध, शोक, भय और बीभत्स आदि स्थायी भावों को—जो प्रत्यक्ष में सुख के विरोधी हैं—रौद्र, करुण, भयानक और बीभत्स रस की प्रतिष्ठा दी गई है जबकि इनसे अमित गुण अधिक भगवद्विषयक रति का आनन्द है। यदि यह कहा जाय कि इसमें प्रमाण क्या, तो इसका उत्तर तो यही है कि अन्य रसों के आस्वाद

---

१ श्रीमद्भागवत में (११।३।३२) वसुदेवजी के प्रति योगेश्वर प्रबुद्ध के वाक्य हैं—

क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचित् हसन्ति नन्दन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः,
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं भवंति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः।

के प्रमाण के लिये आप लोग सहृदयजनों से पूछने के लिये आज्ञा करते हैं तो हमारा निवेदन है कि भक्तिरसास्वाद के विषय में आप लोग भी तदीय भक्तजनों से क्यों न पूछियेगा। ऐसी अवस्था में इस विषय में हमारे प्राचीन साहित्याचार्यों के दुराग्रह के सिवा अधिक क्या कहा जा सकता है।

—:*:—

शान्तरस और नाट्य

कुछ आचार्यों का मत है कि नाट्य मे शान्तरस का होना असंभव है क्योंकि शान्तरस शान्ति-साध्य है पर नट में शान्ति का होना सम्भव नहीं है, कहा है—

> शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसंभवात्।
> अष्टावेवरसा नाट्ये शान्तस्तत्र न युज्यते॥

किंतु यह मत सर्वमान्य नहीं। पण्डितराज ने इस पर कहा है कि नट में शान्ति असम्भव है यह तो हम स्वीकार करते हैं किन्तु इसके द्वारा यह सिद्ध नहीं हो सकता कि नट में शान्ति न होने के कारण शान्त रस का अभिनय प्रकाशित न किया जा सके क्योंकि नट जब रौद्र या भयानक रस की अभिव्यक्ति के लिये (प्रकाशित करने के लिये) अभिनय करता है, तब क्या उसमें वास्तविक क्रोध या भय रहते हैं? कदापि नहीं, तो फिर वह (नट) रौद्रादि रसों का अभिनय किस प्रकार कर सकता है? ऐसी अवस्था में रौद्रादि रसों का अभिनय भी नट के द्वारा असम्भव है। यदि यह कहा जाय कि नट में क्रोधादि न होने के कारण क्रोध आदि के वास्तविक कार्य—बध-बन्धनादि के उत्पन्न न होने पर भी शिक्षा और अभ्यास द्वारा कृत्रिम बध-बन्धनादि कार्य उत्पन्न होने मे कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि ऐसा प्रत्यक्ष देखा जाता है, तो फिर यही बात शान्तरस के विषय में भी क्यो नहीं मानी जा सकती है? दोनो ही स्थलों पर प्रश्न तो समान ही है। फिर यदि यह कहा जाय कि सामाजिको मे भी नाट्य द्वारा शान्तरस का उदय किस प्रकार हो सकता है? क्योंकि विषयों से वैराग्य होना ही शान्त

रस का स्वरूप है, और नाट्य में गीत-वाद्यादि विषय विद्यमान रहते हैं तो इसका समाधान यह है कि जो लोग नाट्य में शान्त रस का होना मानते हैं, वे गीत वाद्यादि को उसका विरोधी नहीं मानते। यदि ऐसा ही हो तो उनका फल शान्त रस का उदय ही न हो सके। फिर यदि यावन्मात्र सभी विषयों के चिन्तन को ही शान्त रस के विरुद्ध मान लिया जाय तो शान्त का आलम्बन ससार का अनित्य होना एवं उसके उद्दीपन महाभारतादि का श्रवण, सत्सङ्ग, एकान्तस्थल, आदि भी तो विषय ही हैं अतः वे भी उसके विरोधी ही हुए, परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। अतएव जो विषय शान्त रस के अनुकूल विरक्ति के साधन भगवद् भजन कीर्तन आदि हैं वे शान्त रस के अभिव्यञ्जक हो सकते हैं। इसी लिये सङ्गीतरत्नाकर में कहा गया है—

> 'अष्टावेव रसा नाट्येष्विति केचिदचूचुदन्।
> तदचारु यतः कञ्चिन्न रसं स्वदते नटः' ॥

अतएव नाट्य में भी शान्त रस का होना सिद्ध होता है और काव्य तो शान्त रस प्रधान निर्विवाद सिद्ध है—जब कि महाभारतादि में शान्त रस ही प्रधान है।

करुण और बीभत्स में रसत्व क्यों माना गया?

अच्छा, अब एक प्रश्न यह भी उपस्थित हो सकता है कि जब आनन्दानुभव को ही रस माना गया है तो करुण, बीभत्स आदि के द्वारा तो प्रत्यक्ष दुःख और घृणा आदि उत्पन्न होते है न कि आनन्द, फिर वे (करुण और बीभत्स आदि) रस क्यों माने गये? इसका उत्तर यह है कि करुण आदि रस यदि दुःख और घृणोत्पादक होते तो करुणादि रस-प्रधान काव्य नाटकों को कोई भी न सुनता और न देखता। पर प्रत्यक्ष देखा जाता है कि करुण रस प्रधान काव्य नाटकों को भी शृङ्गार रस के काव्य नाटकों के समान ही सब लोग सुनते और देखते हैं, क्योंकि उनके द्वारा भी वैसा ही आनन्द प्राप्त होता है, जैसा शृङ्गार रसात्मक काव्य नाटकों द्वारा। इससे सहृदय जनों का अनुभव ही

सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है। बात यह है कि लौकिक में जो शोक के प्रसङ्ग श्रीराम-बनवास आदि दुःख के कारण दृष्टिगत होते हैं वे जब काव्यादि में निबद्ध होकर आते हैं, तब उनका व्यवहार 'कारण' शब्द से नहीं किन्तु 'विभाव' शब्द से होता है अर्थात् काव्य नाट्यादि से सम्बन्ध हो जाने पर उन कारणों में विभावन नाम का अलौकिक व्यापार उत्पन्न हो जाता है अतएव उनके द्वारा सुख ही प्राप्त होता है—चाहे वे लौकिक में दुःख के कारण ही क्यों न हों। शोकादि के कारणों से दुःखादि उत्पन्न होने का नियम लोक-व्यवहार ही में है—काव्यादि में नहीं। यदि यह कहा जाय कि फिर काव्य नाटकों में भी श्रीराम वनवास एवं हरिश्चन्द्रादि के चरित्रों से अश्रुपातादि जो दुःख के कार्य हैं, क्यों देखे जाते हैं? इसका उत्तर यह है कि उस समय चित्त के द्रवीभूत हो जाने (पिघल जाने) के कारण अश्रुपातादि होते हैं और चित्त के द्रवीभूत होने का कारण केवल दुःखोद्रेक ही नहीं, किन्तु आनन्दोद्रेक भी है—आनन्द जनित अश्रुपात होना भी प्रत्यक्ष सिद्ध है। कहा भी है—

'आनन्दामर्षाभ्यां धूमाञ्जनजृम्भणाद्भयाच्छोकात्।
अनिमेषप्रेक्षणतः शीताद्रोगाद्भवेदास्रम्' ॥

—नाट्यशा० (गायकवाड संस्क०) ७।१५१

रस सम्प्रदाय के अन्तर्गत यहां रसों के लक्षण और उदाहरण दिखाना अप्रासङ्गिक है। यह विषय रीति ग्रन्थों से सम्बन्ध रखता है*।

—:*:—

अलङ्कार सम्प्रदाय

अलङ्कार सम्प्रदाय संभवतः रस सम्प्रदाय के समकालीन ही है वेदों में

* हिंदी में इस विषय के विस्तृत विवेचन के लिये लेखक का काव्य कल्पद्रुम तृतीय संस्करण का प्रथम भाग—रसमञ्जरी द्रष्टव्य है।

अलङ्कारात्मक वर्णन मिलता है* । नाट्य-शास्त्र और अग्नि पुराण में अलङ्कारों का निरूपण किया ही गया है । अग्निपुराण के बाद जो साहित्य के लक्षण ग्रन्थ भामह, दण्डी, वामन, उद्भट और रुद्रट द्वारा लिखे गये हैं उन सभी मे अलङ्कारों का पर्याप्त विवेचन ही नहीं किन्तु उन ग्रन्थों के नामों मे भी एक दण्डी के काव्यादर्श को छोड़ कर काव्यालङ्कार का प्रयोग किया गया है । इसके द्वारा अलङ्कारों का महत्व निस्सन्देह सिद्ध होता है । नाट्यशास्त्र और अग्निपुराण के बाद यद्यपि सबसे प्रथम अलङ्कारों का अधिक विवेचन हमको भामह के काव्यालङ्कार में ही मिलता है किन्तु भामह द्वारा जो अलङ्कार लिखे गये हैं वे प्रायः विभिन्न स्रोतों से एकत्रित किये गये हैं । भामह स्वयं अपने को काव्यालङ्कार (५।६९) मे अलङ्कार सिद्धान्त का प्रवर्तक नहीं किन्तु परिपोषिक और परिवर्द्धक मात्र बताता है ।

अतएव भामह के पूर्व-कालीन विद्वानों द्वारा भी अलङ्कार विषय पर विवेचन किया जाना सिद्ध होता है । किन्तु भामह के पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं । ऐसी परिस्थिति में उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर भामह ही अलङ्कार सम्प्रदाय का प्रधान प्रतिनिधि कहा जा सकता है । भामह के पश्चात् इस सम्प्रदाय के उल्लेखनीय प्रतिनिधि दण्डी, उद्भट, रुद्रट और उद्भट के व्याखयाकार प्रतिहारेन्दुराज हैं, जिनके द्वारा प्रारम्भिक काल में इस सिद्धान्त पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है । इन आचार्यों के ग्रन्थों मे एक रुद्रट को छोड़ कर जिसने रस विषय पर भी विवेचन किया है—अलङ्कार विषय का ही प्राधान्य है । किन्तु यह बात नही कि भामहादि, काव्य में अन्य पदार्थ–रस, भाव, गुण आदि–की आवश्यकता नहीं मानते थे, क्योंकि इन सभी आचार्यों ने रसादिक का भी न्यूनाधिक उल्लेख किया है । और भामह एवं दण्डी ने गुणों का भी निरूपण किया है । किन्तु इन आचार्यों ने काव्य में प्रधानता अलङ्कारों को ही दी है—अतएव इनके मतों के निष्कर्ष रूप मे रुय्यक ने कहा है—

* वेदों में अलङ्कारात्मक वर्णन के उदाहरण प्रथम भाग में दिखाये गये हैं।

'अलङ्काराएव काव्ये प्रधानमितिप्राच्यानां मतः ।'

—अलङ्कारसर्वस्व

भामह, दण्डी और उद्भट के बाद साहित्याचार्यों का रस, अलङ्कार और रीति आदि की प्रधानता के विषय में मत-भेद होने पर भी प्रायः सभी आचार्यों ने अलङ्कारों को काव्य में महत्वपूर्ण पदार्थ समझा है और अलङ्कारों का मनोविज्ञान के आधार पर अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से गम्भीरतापूर्वक विवेचन किया है। अतः प्रायः साहित्य ग्रन्थों के अधिक भाग में अलङ्कार विषय का निरूपण ही देखा जाता है, यहां तक कि किसी-किसी ग्रन्थ में तो केवल अलङ्कार का विषय ही दृष्टिगत होता है। इसके द्वारा भी अलङ्कार सम्प्रदाय का महत्व स्पष्ट सिद्ध होता है।

अच्छा, अब प्रथम यह स्पष्ट करना उपयुक्त होगा कि काव्य में—

अलङ्कार क्या पदार्थ है

इस विषय में संक्षेप में यही कहना पर्याप्त है कि लौकिक में जिस प्रकार रत्नादि के निर्मित आभूषण शरीर को अलंकृत करने के कारण अलङ्कार कहे जाते हैं, उसी प्रकार काव्य को शब्दार्थ द्वारा अलंकृत करनेवाली रचना को काव्य शास्त्र में अलङ्कार कहते हैं।

काव्य शब्द और अर्थ उभयात्मक है अतः अलङ्कार भी शब्द और अर्थ में विभक्त हैं। शब्द-रचना के वैचित्र्य द्वारा जो काव्य को अलंकृत करते हैं वे अनुप्रास आदि शब्दालङ्कार और अर्थ-वैचित्र्य द्वारा जो काव्य को सुशोभित करते हैं वे उपमा आदि अर्थालङ्कार कहे जाते हैं। महाराजा भोज ने कहा है—

'ये व्युत्पत्यादिना शब्दमलंकर्तुमिहक्षमाः।
शब्दालङ्कारसंज्ञास्ते।' (सरस्वती कण्ठाभरण २।२)

और—

'अलमर्थमलंकर्तुं यद्व्युत्पत्यादिवर्त्मना।
ज्ञेया जात्यादयः प्राज्ञैस्तेर्थालङ्कारसंज्ञया।'

—सरस्वती कण्ठाभरण ३।१

शब्द रचना की विचित्रता प्रायः वर्णों और शब्दों की पुनरावृत्ति पर अवलम्बित है—और अर्थ की विचित्रता विभिन्न प्रकार के अर्थवैचित्र्य पर। 'विचित्रता' कहते हैं लोकोत्तर अर्थात् लोगों की स्वाभाविक साधारण बोलचाल से भिन्न शैली द्वारा अतिशय (अत्यन्त बढ़ कर) वर्णन किया जाना। कहा है श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य ने—

'लोकोत्तरेण चैवातिशयः ·····अनया अतिशयोक्त्या···विचित्रतया भाव्यते'* ।

जैसे—(१) वन गाय गैया के समान है, (२) क्या यह वन गाय है अथवा गैया ?, (३) यह वन गाय नहीं किन्तु गैया है, (४) वन गाय मानो गैया है। ये वाक्य लोगों की साधारण बोलचाल में कहे गये हैं, इसमें उक्ति-वैचित्र्य नहीं जिससे कुछ आनन्द प्राप्त हो अतएव इनमें अलङ्कार की स्थिति नहीं (यद्यपि इन वाक्यों में क्रमशः उपमा, सन्देह, अपह्नुति और उत्प्रेक्षा अलङ्कारों के लक्षणों का समन्वय हो सकता है) किन्तु यदि इन्हीं उपर्युक्त वाक्यों के स्थान पर (१) मुख चन्द्रमा के समान है, (२) यह मुख है या चन्द्रमा ?, (३) यह मुख नहीं किन्तु चन्द्रमा है, (४) मुख मानो चन्द्रमा है। इस प्रकार वाक्य कहे जायँ तो इन वाक्यों में क्रमशः उपमा, सन्देह, अपह्नुति और उत्प्रेक्षा अलङ्कारों की स्थिति हो जाती है, क्यों ? इसलिए कि ये वाक्य साधारण बोलचाल में नहीं कहे गये, इनमें लोकोत्तर अतिशय अर्थात् उक्ति-वैचित्र्य है। इस प्रकार का उक्ति वैचित्र्य ही काव्य को सुशोभित करता है। आचार्य भामह ने अतिशयोक्ति अलङ्कार के प्रकरण में कहा है—

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनयाविना॥

—काव्यालं० २।८५

यहां 'वक्रोक्ति' का प्रयोग अतिशयोक्ति के लिये किया गया है, अतिशयोक्ति

---

* ध्वन्यालोक लोचन व्याख्या पृ० २०८।

का पर्याय ही वक्रोक्ति है—

'एवं चात्रातिशयोक्तिरिति वक्रोक्तिरिति पर्याय इतिबोध्यम्'।

—काव्यप्रकाश बालबोधिनी टीका पृ० ९०६

वक्रोक्ति का अर्थ है लोकोत्तर उक्ति-वैचित्र्य—

'वक्रा वैचित्र्याधायिका लोकोतिशायिनी उक्तिः कथनम्'।

—काव्यप्र० बालबोधिनी टीका पृ० ६०६

आचार्य दण्डी ने भी कहा है—

अलङ्कारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्॥

—काव्यादर्श० २।२२०

अर्थात् आचार्य भामह और दण्डी लोकोत्तर उक्ति-वैचित्र्य या अतिशयोक्ति पर ही अलङ्कारत्व निर्भर बताते हैं। और आचार्य मम्मट ने भी भामह की उपर्युक्त २।८५ की कारिका को विशेषालङ्कार के प्रकरण में उद्धृत किया है। निष्कर्ष यह है कि उक्ति-वैचित्र्य को ही काव्य में अलङ्कार कहते हैं। उक्ति वैचित्र्य भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है, उसी विभिन्नता के आधार पर ही अलङ्कारो के विभिन्न नाम निर्दिष्ट किये गये हैं, श्री मदानन्दवर्धनाचार्य ने कहा है—

'यश्चायमुपमाश्लेषादिरलङ्कारमार्गः प्रसिद्धः स भणितिवैचित्र्यादुपनिबध्यमानः स्वयमेवानवधिधत्ते पुनः शतशाखताम्'।

—ध्वन्या० पृ० २४३

काव्य में अलङ्कार का स्थान

अच्छा, अब यह विचारणीय है कि काव्य में अलङ्कारों का क्या स्थान है अर्थात् काव्य में अलङ्कारों को कितना महत्व दिया गया है और किस-किस आचार्य ने काव्य में अलङ्कारों की स्थिति अनिवार्य और किस किस ने ऐच्छिक वतलाई है। इसके लिये प्रथम यह द्रष्टव्य है कि काव्य में काव्यत्व की स्थिति किस पदार्थ पर निर्भर है। इसमें तो किसी आचार्य का मतभेद हो ही नहीं

सकता कि काव्यत्व चमत्कार पर ही निर्भर है। किन्तु उस चमत्कार का आधायक मुख्य पदार्थ क्या है, इस पर आचार्यों के विभिन्न मत हैं। ध्वन्यालोक के पूर्व ध्वनि या व्यङ्ग्यार्थ पर तो कोई ग्रन्थ लिखा ही नहीं गया था अतएव ध्वन्यालोक के पूर्व के साहित्य ग्रन्थों में रस, गुण और अलङ्कार ही काव्य में चमत्कारक पदार्थ माने जाते थे। अतः काव्यत्व के लिये रस, गुण और अलङ्कार इन तीनों की ही स्थिति आवश्यक है अथवा एक या दो की स्थिति पर्याप्त है। इस विषय में प्रथम ध्वन्यालोक के पूर्ववर्ती आचार्यों के मत पर विचार करने पर विदित होता है कि—

(१) प्राचीनतम नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने काव्य में सर्वोपरि चमत्कारक पदार्थ रस को ही बताया है। यद्यपि नाट्यशास्त्र में अलङ्कार और गुणों का निरूपण भी किया गया है, पर इनको अधिक महत्व नहीं दिया गया है। रस के महत्व के विषय में भरतमुनि ने कहा है—

'तत्र रसानेव तावदादावभिव्याख्यास्यामः। न हि रसादृते कश्चित्पदार्थः प्रवर्तते।

—नाट्यशास्त्र अ० ६

अतएव भरतमुनि के मतानुसार रस युक्त होना ही काव्यत्व के लिये पर्याप्त है।

(२) अग्निपुराण के

'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रसएवात्रजीवितम्।'

—३३७।३३

इस वाक्य में काव्य का जीवन सर्वस्व केवल रस को बतलाते हुए भी—

अर्थालङ्काररहिता विधवेव सरस्वती।'

—३४५।२

और—

'वपुष्यललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम्।'

—३४६।१

इन वाक्यों द्वारा अलङ्कार और गुण की स्थिति भी काव्य में आवश्यक बतलाई गई है। अर्थात् जिस प्रकार रस को काव्य का जीवनाधार बताया गया है, उसी प्रकार अलङ्कार-रहित काव्य को वैधव्य स्त्री के समान चमत्कार-हीन और गुण हीन काव्य को कुरूपा स्त्री के समान चित्ताकर्षक नहीं माना गया है। अतएव अग्निपुराण के मतानुसार काव्य में रस, अलङ्कार और गुण तीनों का ही होना परमाश्यक है।

(३) अग्निपुराण के बाद भामह ने—अलङ्कार सम्प्रदाय का प्रधान प्रतिनिधि होने पर भी—अलङ्कार और गुण का लक्षण नहीं लिखा है। रस के विषय में—

'युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक् ।'

—काव्यालं० १।२१

इस वाक्य द्वारा महाकाव्य में रस की स्थिति का होना आवश्यक अवश्य बतलाया है। पर रसों को—

'रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृङ्गारादिरसं यथा ।' (काव्यालं० ३।६)

इस कारिका द्वारा रसवत् अलङ्कार के नाम से और भावों को 'प्रेय' अलङ्कार के नाम से अलङ्कारों के अन्तर्गत ही बतला दिया है।

(४) दण्डी ने भी अलङ्कार का कोई विशेष लक्षण न लिख कर अलङ्कार प्रकरण के प्रारम्भ मे—

'काव्यशोभाकरान्धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते ।'

—काव्यादर्श २।१

इस अग्निपुराण के (३४२।१७) श्लोकार्ध को उद्धृत करके अलङ्कारों को काव्य के शोभाकारक धर्म बताये हैं, और—

'मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः ।'

—का० द० १।५१

इस कारिका में श्रृङ्गारादि रसयुक्त रचना को मधुर गुण वाली बतला कर और—

'कामं सर्वोऽप्यलङ्कारो रसमर्थे निषिञ्चति।'

— काद० १।६२

इस कारिका में अलङ्कारों को रस के पोषक बतला कर अर्थात् रस को प्रधानता देकर भी रस और भाव विषय को भामह के अनुसार—

'रसवद्रसपेशलम्।' (काव्यादर्श २।२७५)

'प्रेय: प्रियतराख्यानम्।' (काव्यादर्श २।२७५)

इन कारिकाओं में रसवत् और प्रेय अलङ्कार का विषय बतला कर अलङ्कारों में ही रसों और भावों का समावेश कर दिया है।

(५) भामह और दण्डी के बाद उद्भट ने भी—

'रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसादयम्।'

—काव्यालङ्कारसारसंग्रह ४।४४

इत्यादि कारिकाओं में रस और भावादि विषय को अलङ्कारों के अन्तर्गत ही माना है। अतएव भामह, दण्डी, और उद्भट के मतानुसार अलङ्कार की स्थिति ही प्रधानतया काव्यत्व के लिए पर्याप्त है फिर वह चाहे रसवत् अलङ्कार युक्त हो अथवा उपमा आदि अन्य अलङ्कार युक्त।

गुण अलङ्कारों में भाहम और दण्डी ने संभवत: कुछ भेद नहीं माना है। भामह ने भाविक अलङ्कार के लिये जिस प्रकार 'गुण' शब्द का प्रयोग किया है—

'भाविकत्वमितिप्राहु: प्रबन्धविषयंगुणम्।'

—का० लं० ३।५३

उसी प्रकार दण्डी ने भी गुण और अलङ्कार दोनों के लिये 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया है❀। और उद्भट ने तो अलङ्कार और गुण में भेद माननेवाले अपने पूर्ववर्ती आचार्यों पर आक्षेप भी किया है।

(६) उद्भट के बाद वामन ने रसों को-'दीप्तरसत्वं कान्ति:।' ३।२।१५ इस सूत्र में गुणों के अन्तर्गत माना है और गुणों को प्रधानता देते हुए 'रीति'

❀ देखिये दण्डी का काव्यादर्श १।४१, १।४२, १।१०१ और २।३

को ही काव्य का आत्मा माना है। वामन के मत में किसी रचना मे रस या अलङ्कार हों या न हों, केवल गुणविशिष्ट 'रीति' का होना ही काव्यत्व के लिये पर्याप्त है।

(७) वामन के बाद रुद्रट ने अलङ्कारों को शब्द और अर्थ को अलकृत (शोभायमान) करनेवाले कहा है। और रस के विषय में रुद्रट ने—

"तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।"

—काव्याल० १२।२

यह कह कर काव्य में रस का होना परमाश्वयक बतलाया है। रुद्रट ने रस को महत्त्व अवश्य दिया है, पर रस को काव्य का जीवन नहीं कहा है और अलङ्कारों को अपने ग्रन्थ मे प्रथम स्थान देकर तथा विस्तृत विवेचन करके अलङ्कारों को भी रस से कम महत्त्व नहीं दिया है। अतएव रुद्रट के मतानुसार केवल रस युक्त और केवल अलङ्कार युक्त रचना में भी काव्यत्व हो सकता है। अच्छा, अब रुद्रट के बाद ध्वनिकार एवं श्री आनन्दवर्धनाचार्य का ध्वन्यालोक हमारे सम्मुख आता है।

(८) ध्वनिकारो के प्रथम रस—जो काव्य मे सर्व-प्रधान है, वह—क्या पदार्थ है, इस पर उपर्युक्त आचार्यों में किसी आचार्य ने ध्यान नहीं दिया था। ध्वनिकारों ने इस पर विचार करके यह स्थिर किया कि 'रस' वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ नहीं, इन दोनों से (वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से) भिन्न है और वह व्यञ्जना वृत्ति का व्यापार व्यङ्ग्यार्थ है*। अतएव ध्वनिकारों ने रस को काव्य में सर्वोपरि पदार्थ मानते हुए भी अपने ध्वनि-सिद्धान्त के अन्तर्गत रस का समावेश करके अपने अपूर्व विवेचन द्वारा रस को ध्वनि का ही एक प्रधान भेद नियत कर दिया। ध्वनिकारो के प्रथम प्रधानतया रस और अलङ्कारों पर ही काव्यत्व

* 'रस' वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ क्यों नहीं, और वह व्यञ्जना का व्यापार व्यङ्ग्यार्थ किस प्रकार है, इसका स्पष्टीकरण आगे ध्वनि सम्प्रदाय के अन्तर्गत प्रसङ्गानुसार किया जायगा।

निर्भर था पर ध्वनिकारों ने काव्य की आत्मा ध्वनि को निरूपण करके काव्य में सर्वोपरि स्थान पर व्यङ्ग्यार्थ को ही स्थापित कर दिया है। किन्तु ध्वनि को काव्य का आत्मा कहने से ध्वनिकारों का तात्पर्य व्यग्यार्थ का काव्य में प्राधान्य मात्र सूचन करने का प्रतीत होता है—न कि काव्य की व्यापकता को ध्वनि या व्यंग्यार्थ में सीमित करने का। क्योंकि ध्वनिकारों ने गुणीभूतव्यंग्य में (जिसमें व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ प्राय: समकक्ष होते हैं) और वाच्यार्थ के अलङ्कारों में भी काव्यत्व स्वीकार किया है, जैसा कि उन्होंने

ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च समाश्रयात्।
न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदिस्यात्प्रतिभागुणः ॥'

—ध्वन्यालोक ४।६

इस वाक्य में स्पष्ट कहा है कि ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्यात्मक काव्यार्थ का विश्राम अर्थात् अन्त नहीं, यदि कवि में प्रतिभा हो। इसी प्रकार इसके आगे—

"शुद्धस्यानपेक्षितव्यङ्ग्यस्यापि वाच्यस्यानन्त्यमेव ···· ।"

—ध्वन्या० उल्लास ४

इस वाक्य में व्यङ्ग्यार्थ-रहित शुद्ध वाच्यार्थ रूप अलङ्कारात्मक काव्यार्थ की भी अनन्तता बतलाई है। यही नहीं ध्वनिकारों को स्वभावोक्ति—वन, नदी आदि के प्राकृत वर्णनात्मक रचना में काव्यत्व अभीष्ट है—

स्वभावोक्त्यापि तात्वदुपनिबध्यमानैर्निरवधिः काव्यार्थः सम्पद्यते।

अलङ्कारों के विषय में भी उन्होंने स्पष्ट कहा है—

'यश्चायमुपमाश्लेषादिरलङ्कारमार्गः प्रसिद्धः···।'

—ध्वन्या० उल्लास ४

इत्यादि वाक्यों द्वारा स्पष्ट है कि ध्वनिकारों को केवल रसादि व्यङ्ग्यार्थ अर्थात ध्वनि में ही नहीं किन्तु केवल वाच्यार्थ रूप अलङ्कारों की स्थिति में भी काव्यत्व अभीष्ट है

(६) ध्वनिकारों के बाद महाराजा भोज के–

"वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम् ।
सर्वासु 'ग्राहिणीं' तासु रसोक्ति प्रतिजानते ॥"

इस वाक्य मे रस को प्रधानता अवश्य दी गई है, पर वक्रोक्ति अर्थात् स्वतन्त्र अलङ्कारों की स्थिति में भी काव्यत्व स्वीकार किया गया है ।

(१०) आचार्य मम्मट का इस विषय में क्या मत है, इसके लिये संक्षेप में यही कहना पर्याप्त है कि हमारे विचार में मम्मट का मत ध्वनिकारों के ही अनुसार है । अर्थात् मम्मट ने जिस प्रकार केवल व्यंग्य प्रधान (ध्वनि) रचना में काव्यत्व स्वीकार किया है, उसी प्रकार व्यङ्ग्य-रहित अलङ्कार युक्त रचना में भी काव्यत्व स्वीकार किया है । यद्यपि काव्यप्रकाश के सर्व प्रधान व्याख्याकार श्री गोविन्द ठक्कुर ने अपनी 'प्रदीप' व्याख्या में एवं सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री नागेश भट्ट ने अपनी 'उद्योत' व्याख्या मे काव्यप्रकाशोक्त काव्य लक्षण की व्याख्या में कहा है—

'मम्मट के मतानुसार स्पष्टतया तो तीन प्रकार की—(१) सरस अलङ्कार युक्त, (२) सरस अस्फुट अलङ्कार युक्त और (३) नीरस अस्फुट अलङ्कार युक्त रचना में काव्यत्व हो सकता है, पर काव्य में चमत्कार या तो रसादि पर या अलङ्कार पर निर्भर है, जहा रस हो वहां तो अलङ्कार स्फुट न हो तो भी काव्यत्व के लिये रस की स्थिति पर्याप्त है । किन्तु जहां रस और स्फुट अलङ्कार दोनों ही न हों वहा अस्फुट अलङ्कार में चमत्कार न होने के कारण नीरस रचना में स्फुट अलङ्कार का होना आवश्यक है, अतः हम तो (अर्थात् प्रदीपकार) समझते हैं कि मम्मट को भी यही अभीष्ट है *।"

किन्तु इस विषय में प्रदीपकार का यह विवेचन हमारे विचार में युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता । क्योंकि मम्मटाचार्य ने काव्य में रस को सर्वोच्च पदार्थ मानते हुए भी काव्य के लक्षण में रस का स्वतंत्र नामोल्लेख नहीं किया है—'शब्दार्थौ'

* देखिये काव्यप्रकाश की प्रदीप व्याख्या में काव्यप्रकाशोक्त काव्य लक्षण की व्याख्या ।

के प्रयोग में व्यंग्यार्थ द्वारा ही रस का ग्रहण किया है। और न रस का आश्रय लेकर मम्मट ने काव्य का विभाग ही किया है। मम्मट ने तो काव्य का सामान्य लक्षण बताकर काव्य के तीन भेद—उत्तम, मध्यम और अवर (अधम) व्यंग्याथ के आधार पर ही विभक्त किये हैं अर्थात् व्यंग्य प्रधान काव्य को उत्तम, गौण व्यंग वाले काव्य को मध्यम और व्यंग्य-रहित अलङ्कारात्मक काव्य को अधम बताया है। अतएव मम्मट ने जब व्यंग्य प्रधान ध्वनि काव्य के मुख्य भेदों में संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के अन्तर्गत वस्तु से वस्तु ध्वनि वाले काव्यों का समावेश किया है तो वस्तु ध्वनि में न रस होता है और न स्फुट अलङ्कार ही। ऐसी स्थिति में यह निर्विवाद सिद्ध है कि मम्मट को नीरस और अस्फुट अलङ्कार वाली रचना मे भी काव्यत्व-स्वीकृत है। अतः काव्यप्रकाश के अन्तिम (नवीन) व्याख्याकार श्री वामनाचार्य ने बालबोधिनी व्याख्या में प्रदीपकार के मत के साथ मम्मटाचार्य के मत का जो स्पष्टीकरण किया है, उसका खण्डन भी प्रदीपकार की आलोचना के साथ ही हो जाता है। प्रदीपकार जैसे साहित्यमर्मज्ञों के प्रतिकूल लेखनी उठाना निस्सन्देह इस नगण्य लेखक का दु साहस है। संभव है इस लेखक का विचार ही भ्रान्त हो पर साहित्य-मर्मज्ञ विद्वानों के लिये यह विषय विचारणीय अवश्य है।

मम्मट ने काव्य में किस पदार्थ को मुख्य माना है, इस विषय का पहिले 'काव्य लक्षण' निबन्ध के अन्तर्गत काव्य प्रकाशोक्त काव्य लक्षण के विवेचन में अधिकांश में स्पष्टीकरण किया जा चुका है। अतः यहां अधिक उल्लेख अनावश्यक है। हां, गुण और अलङ्कार के विषय में मम्मट के मत का यहां अलङ्कार सम्प्रदाय में उल्लेख किया जाना आवश्यक है।

भामह और दण्डी ने गुणों और अलङ्कारों को संभवतः काव्य में समान स्थान दिया है। और वामन ने गुणों को (रीति गुणों पर ही निर्भर है) काव्य में सर्व प्रधान स्थान दिया है। और उद्भट के पूर्ववर्ती अज्ञात आचार्यों ने गुणों और अलङ्कारों में भेद माना है, क्योंकि उद्भट ने गुण और अलङ्कारों में भेद बताने वाले अपने पूर्ववर्ती आचार्यों पर आक्षेप किया है। उद्भटाचार्य ने कहा है—

'एवं च समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादयः इत्यस्तु गुणालङ्काराणां भेदः। ओजः प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डुलिकाप्रवाहेणैवैषां भेद.।"

अर्थात् उद्भट कहता है—जिन विद्वानों ने गुणों को मनुष्य में शौर्य आदि के समान समवाय वृत्तिवाले (नित्य रहने वाले) और अलङ्कारों को हार आदि आभूषणों के समान संयोग वृत्ति वाले (कभी साथ और कभी अलग रहने वाले) बता कर गुण और अलङ्कारों मे जो भेद माना हैं वह भेड़ियाधसान मात्र है। क्योंकि शौर्य आदि गुण और हार आदि आभूषण लौकिक होने के कारण इन दोनो में भेद माना जा सकता है। किन्तु काव्य में गुण और अलङ्कार दोनों ही अलौकिक होते हैं अतः इन दोनों का समवाय (नित्य) सम्बन्ध ही है।,,

किन्तु आचार्य मम्मट ने न तो उद्भट के मतानुसार गुण और अलङ्कारों को समकक्ष ही माना है और न वामन के मतानुसार गुणों का काव्य में सर्वोपरि प्राधान्य ही स्वीकार किया है। मम्मट ने उद्भट के इस वाक्य को उद्धृत करके इसकी आलोचना में 'इत्यभिधानमसत्'* (यह कहना ठीक नहीं) इस प्रकार कह कर गुण और अलङ्कार में क्या भेद है यह प्रत्यक्ष दिखा दिया है†। मम्मट ने—

'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः।'

—काव्यप्र० ८।६६

---

* मम्मट ने काव्यप्रकाश के अष्टम उल्लास ८।६७ की वृत्ति में इस अवतरण को स्पष्ट उद्भट के नाम से नहीं लिखा है। पर उद्भट के 'भामहविवरण' का यह उद्धरण है, ऐसा स्पष्ट उल्लेख हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन विवेक में (पृ० १७) किया है और काव्यप्रकाश के व्याख्याकारों ने भी ऐसा ही लिखा है।

† मम्मट ने इस विषय को उदाहरण देकर स्पष्ट किया है। हमने भी रसमञ्जरी में इसके उदाहरण दिखाये है। यहां विस्तार भय से उदाहरण नहीं दिखाये गये हैं।

इसमें गुणों को काव्य में प्रधानभूत रस के धर्म, रस के उत्कर्षक और रस में अचलस्थिति से रहने वाले बताया है। और अलंकारों का सामान्य लक्षण—

'उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥'

—काव्यप्र० ८।६७

यह लिखा है। अर्थात् काव्य में अङ्गी (प्रधान) रस है। और शब्द एवं अर्थ उसके अङ्ग है। मम्मट के मतानुसार जिस प्रकार हार आदि आभूषण मनुष्य के कण्ठ आदि अङ्गों में धारण किये जाने पर प्रथम उसके अङ्ग—कण्ठ आदि को शोभित करते हैं—चमत्कृत करते हैं, फिर उन चमत्कृत अङ्गों द्वारा मनुष्य को शोभित करते हैं, उसी प्रकार शब्द और अर्थ के अलङ्कार प्रथम शब्द और अर्थ को शोभित करते हैं—चमत्कृत करते हैं, फिर उनके द्वारा रस को उपकृत करते हैं। और जिस काव्य में रस स्पष्ट रूप से नहीं होता है, वहां वे—अलङ्कार—केवल शब्द या अर्थ को ही अलंकृत करते हैं। और कहीं (किसी काव्य में) रस होने पर भी विजातीय (अनमेल) अलंकार होने के कारण उसका (रस का) कुछ उपकार नहीं करते। अर्थात् मम्मट ने गुण और अलंकार का विभाग इस प्रकार बताया है—

गुण	अलङ्कार
रस के धर्म हैं।	रस के धर्म नहीं किन्तु शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म हैं।
रस के साथ नित्य रहते हैं।	रस के साथ नित्य नहीं रहते नीरस काव्यों मे भी रहते हैं।
रस के साथ रह कर रस का अवश्य साक्षात् उपकार करते हैं।	रस के साथ रह कर भी कभी शब्दार्थ के द्वारा रस का उपकार करते हैं और कभी नहीं।

मम्मट ने इस प्रकार गुण और अलङ्कार में क्या भेद है यह स्पष्ट दिखा दिया है। इसके अतिरिक्त वामन के बताये हुए गुण और अलङ्कारों के—

काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।

—काव्यालङ्कार सूत्र ३।१।१,२

इन लक्षणों में वामन ने गुणों को काव्य के शोभाकारक धर्म और अलङ्कारों को उस गुण-कृत शोभा के उत्कर्षक बतलाये हैं। मम्मट ने इसका भी खण्डन किया है। मम्मट का कहना है—

"ऐसी भी रचना होती है जिसमें 'गुण' काव्य की शोभा करनेवाला नहीं होता है, केवल अलङ्कार की स्थिति द्वारा ही उस रचना को काव्य माना जाता है। जैसे—

स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनी।
अस्यारदच्छदरसो न्यक्करोतितरां सुधाम्॥[1]

—काव्यप्र० ८।६७ वृत्ति

इस रचना में शृङ्गार रस है किन्तु यहां शृङ्गार रस के अनुकूल 'माधुर्य' गुण व्यञ्जक वर्णों की रचना नहीं है अर्थात् वामन, गुणों को काव्य के शोभाकारक बताता है वह गुण कृत शोभा इस काव्य में नहीं है प्रत्युत यहां कठोर वर्णों की रचना होने के कारण 'ओज' गुण-व्यञ्जक रचना है—जो कि शृङ्गार रस में त्याज्य है। और वामन, अलङ्कार को जो गुण कृत शोभा का अतिशय-कारक बताता है वह भी यहां नहीं है। अर्थात् न यहां अलङ्कार ही गुण-कृत शोभा को बढ़ाने वाला है। क्योंकि जब यहां गुण-कृत शोभा ही नहीं है तब अलङ्कार गुण-कृत शोभा को किस प्रकार बढ़ा सकता है? जिस वस्तु का अस्तित्व ही नहीं उसका बढ़ाना कैसे संभव हो सकता है? अतएव वामन के मतानुसार इस पद्य में काव्यत्व नहीं हो सकता। किन्तु फिर भी वामन के मतानुसार ही

१. इस श्लोक का अर्थ यह है कि रूपवती कामिनी मनुष्य के लिये इसी देह में स्वर्ग की प्राप्ति है (क्योंकि) इसके अधर का रस अमृत का अत्यन्त तिरस्कार करता है।

इस पद्य में विशेषोक्ति[1] और व्यतिरेक[2] अलङ्कारों की स्थिति होने के कारण इस पद्य में काव्यत्व सिद्ध होता है। अतएव ऐसी स्थिति में वामन के बताये हुए गुण और अलङ्कार दोनों के न तो लक्षण ही उपयुक्त हैं, और न गुण एवं अलङ्कार का वामय का बताया हुआ विभाग ही।"

यद्यपि वामन के इस मत की पुष्टि प्रतिहारेन्दुराज ने भी उद्भट के काव्यालङ्कारसारसंग्रह की व्याख्या [पृ० ८१, ८२] में की है किन्तु वामन के मत के साथ उसका भी खण्डन हो जाता है।

[११] मम्मट के बाद रुय्यक और मंखक ने काव्य का लक्षण स्वतंत्र न देकर पूर्वाचार्यों के मत दिखला कर ध्वनिकार का मत मान्य किया है।

[१२] चन्द्रालोक प्रणेता जयदेव ने यद्यपि अलङ्कार का सामान्य लक्षण—

'हारादिवदलङ्कारः सन्निवेशो मनोहरः।'

—चन्द्रा० ५।१

प्रायः मम्मट के अनुसार ही लिखा है। किन्तु जयदेव ने अलङ्कारों को यहां तक प्रधानता दी है कि काव्यप्रकाशोक्त काव्य लक्षण के—अलंकृती क्वापि' इस अंश पर—

१-२ वामन के उपमेय में एक गुण की हानि की कल्पना करके शेष गुणों द्वारा साम्य (समता) की दृढता की जाने में 'विशेषोक्ति' और उपमेय में उपमान की अपेक्षा अधिक गुण कहे जाने में 'व्यतिरेक' अलङ्कार माना है (देखो काव्यालं० सूत्र ४।३।२३,२२) इस पद्य के पूर्वार्द्ध में इसी देह द्वारा स्वर्ग प्राप्ति कथन करके दिव्य-देह (देवताओं के देह) न होने रूप एक गुण के अभाव की कल्पना करके सुखदायक आदि शेष गुणों द्वारा कामिनी की स्वर्ग के साथ, सत्ता दृढ़ की जाने से विशेषोक्ति है। और उत्तरार्द्ध में अधर रस रूप उपमेय में अमृत रूप उपमान से अधिकता कही जाने से व्यतिरेक अलंकार वामन के ही मतानुसार है।

'अङ्गी करोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृतो।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती।'
—चन्द्रा० १।८

इस प्रकार आक्षेप करके अलङ्कार-रहित रचना को—चाहे वह रस-ध्वनि आदि युक्त भी हो—काव्यत्व नहीं माना है। पर जयदेव अपने इस मत को अपने ग्रन्थ में निभा न सका क्योंकि उसने आगे चलकर ध्वनि-काव्य के भेदों में मम्मटाचार्य के अनुसार ही—

अलङ्कारमलङ्कारो वस्तु वस्तु व्यनक्ति चेत्।
७।७

इत्यादि कारिकाओं में वस्तु ध्वनि को भी स्वीकार कर किया है—जिसमें अलङ्कार की स्थिति नहीं होती। फलतः जयदेव भी ध्वनिकार और मम्मट का अनुयायी ही सिद्ध होता है।

[१३] साहित्यदर्पण प्रणेता विश्वनाथ ने यद्यपि अलङ्कार का सामान्य लक्षण तो—शब्दार्थयोरस्थिरा......।' [सा० द० १०।१] प्रायः मम्मट के अनुसार ही लिखा है। किन्तु काव्य के 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं।' इस लक्षण में काव्य को एकमात्र रस में ही मर्यादित कर दिया है, पर विश्वनाथ को भी अन्ततोगत्वा ध्वनिकार और मम्मट का अनुसरण करने के लिये बाध्य होना पड़ा है, वस्तु-ध्वनि और अलङ्कारात्मक रचना में भी काव्यत्व स्वीकार करना पड़ा है। इसके मत की विस्तृत आलोचना पहिले काव्य-लक्षण के निबन्ध में की जा चुकी है।

[१४] रसगङ्गाधर प्रणेता हमारे पण्डितराज जगन्नाथ ने रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य माना है। रमणीयता, चमत्कार पर ही निर्भर है। अतएव पण्डितराज के मतानुसार भी रस, रसातिरिक्त वस्तु-ध्वनि और अलङ्कार प्रत्येक में स्वतन्त्र रूप से काव्यत्व माना जा सकता है। पण्डितराज के कहने की शैली भिन्न होने पर भी प्रायः ध्वनिकार एवं मम्मट के मत के अनुकूल ही है।

बस, ऊपर के विवेचन द्वारा ज्ञात हो सकता है कि किस-किस आचार्य ने काव्य में अलङ्कारों का क्या-क्या स्थान निर्दिष्ट किया है। जो कुछ हो, यह तो निर्विवाद सिद्ध होता है कि प्रायः सभी सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों ने काव्य में अलङ्कारों को महत्त्वपूर्ण माना है तथा उनके क्रम-विकास पर भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, महाराजा भोज, मम्मट, रुय्यक, जयदेव, विश्वनाथ, अप्पय्य दीक्षित और पण्डितराज जगन्नाथ ने उल्लेखनीय प्रकाश डाला है। अतएव अलङ्कार सम्प्रदाय के मुख्य परिपोषक ये ही आचार्य हैं।

अच्छा, अलङ्कार सम्प्रदाय के प्रकरण में अलङ्कारों के क्रमविकास के सम्बन्ध में भी कुछ प्रकाश डाला जाना उपयुक्त ही नहीं आवश्यक भी है। क्रम-विकास के लिये प्रथम यह दिखाया जाना उचित होगा कि नाट्यशास्त्र और अग्निपुराण के बाद भामह आदि से पण्डितराज जगन्नाथ के समय तक किस किस आचार्य द्वारा कितनी संख्या के कौन कौन अलङ्कार निरूपण किये गये हैं और अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित अलङ्कारों में परवर्ती किस किस आचार्य ने किस किस अलङ्कार को स्वीकार किया है। इसकी स्पष्टता के लिये यहां अलङ्कार विवरण तालिकाएँ दी जाती है—

अलङ्कार विवरण तालिका संख्या १

निम्नलिखित ५२ अलङ्कार ऐसे हैं जो भामह, दण्डी, उद्भट और वामन के समय (ई० ८००) तक निरूपित हो चुके थे। इन ५२ में कितने-कितने अलंङ्कार इन चारों ने तथा इनके बाद किस-किस आचार्य ने स्वीकार किये हैं इसका विवरण इस प्रकार है :—

संख्या	नाम अलंकार	भामह	दण्डी	उद्भट	वामन	रुद्रट	भोज	मम्मट	रुय्यक
१	अतिशयोक्ति	१	१	१	१	उपमा में	१	१	१
२	अनन्वय	२	उपमा में	२	२	उपमा में	उपमा में	२	२
३	अनुप्रास	३	२	३	३	१	२	३	३
४	अपन्हुति	४	३	४	४	२	३	४	४
५	अप्रस्तुत प्रशंसा या अन्योक्ति	५	४	५	५	३	४	५	५
६	अर्थान्तरन्यास	६	५	६	६	४	५	६	६
७	आक्षेप	७	६	७	७	५	६	७	७
८	आवृत्ति	८	७	०	०	०	०	०	०
९	आशी	८	८	०	०	०	०	०	०
१०	उत्प्रेक्षा	९	९	८	८	६	७	८	८
११	उत्प्रेक्षावयव	१०	उत्प्रेक्षा में	०	संसृष्टी में	०	०	०	०

संख्या	नाम अलङ्कार	भामह	दण्डी	उद्भट	वामन	रुद्रट	भोज	मम्मट	रुय्यक
१२	उदात्त	११	१०	९	०	०	०	९	९
१३	उपमा	१२	११	१०	९	७	८	१०	१०
१४	उपमारूपक	१३	रूपक में	०	संसृष्टी में	०	०	०	०
१५	उपमेयोपमा	१४	उपमा में	११	१०	उपमा में	उपमा में	११	११
१६	ऊर्जस्वी	१५	१२	१२	०	०	०	०	१२
१७	काव्यलिङ्ग	०	०	१३	०	०	ज्ञापक हेतु में	१२	१३
१८	छेकानुप्रास	०	०	१४	०	०	अनुप्रास में	१३	१४
१९	तुल्ययोगिता	१६	१३	१५	११	०	९	१४	१५
२०	दीपक	१७	१४	१६	१२	८	१०	१५	१६
२१	दृष्टान्त	०	०	१७	०	९	साम्यप्रपंचोक्तिमें	१६	१७
२२	निदर्शना	१८	१५	१८	१३	०	११	१७	१८
२३	निपुण	यह अलङ्कार केवल भट्टि ने लिखा है				०	०	०	०
२४	पर्यायोक्त	१९	१६	११	०	०	१२	१८	१९
२५	परिवृत्ति	२०	१७	२०	१४	१०	१३ पर्याय	१९	२०

संख्या	नाम अलङ्कार	भामह	दण्डी	उद्भट	वामन	रुद्रट	भोज	मम्मट	रुय्यक
२६	पुनरुक्तवदाभास	०	०	२१	०	०	०	२०	२१
२७	प्रतिवस्तूपमा	उपमामें	उपमामें	२२	१५	०	साम्यमें	२१	२२
२८	प्रेय	२१	१८	२३	०	०	०	०	२३
२९	भाविक	२२	१९	२४	०	०	१४	२२	२४
३०	यथासंख्य या क्रम	२३	२०	२५	१६	११	१५	२३	२५
३१	यमक	२४	२१	०	१७	१२	१६	२४	२६
३२	रसवत्	२५	२२	२६	०	०	०	०	२७
३३	रूपक	२६	२३	२७	१८	१३	१७	२५	२८
३४	लाटानुप्रास	अनुप्रास में	०	२८	०	०	अनुप्रास में	२६	२९
३५	लेश	०	२४	०	०	१४	१८	०	०
३६	वक्रोक्ति	०	०	०	१९	१५	१९	२७	३०
३७	विभावना	२७	२५	२९	२०	१६	२०	२८	३१
३८	विरोध	२८	२६	३०	२१	१७	२१	२९	३२
३९	विशेषोक्ति	२९	२७	३१	२२	०	२२	३०	३३

संख्या	नाम अलङ्कार	भामह	दण्डी	उद्भट	वामन	रुद्रट	भोज	मम्मट	रुय्यक
४०	व्यतिरेक	३०	२८	३२	२३	१८	२३	३१	३४
४१	व्याजस्तुति	३१	२९	३३	२४	०	०	३२	३५
४२	व्याजोक्ति	०	०	०	२५	०	०	३३	३६
४३	श्लेष	३२	३०	३४	२६	१९	२४	३४	३७
४४	संकर	०	०	३५	२०	०	संसृष्टी में	३५	३८
४५	सन्देह	३३	उपमा में	३६	२७	२१	२५	३६	३९
४६	समासोक्ति	३४	३१	३७	२८	२२	२६	३७	४०
४७	समाहित	३५	३२	३८	२९	०	२७	०	४१
४८	संसृष्टी	३६	३३	३९	३०	संकर में	२८	३८	४२
४९	सहोक्ति	३७	३४	४०	३१	२३	२९	३९	४३
५०	सूक्ष्म	०	३५	०	०	२४	३०	४०	४४
५१	स्वभावोक्ति या जाति	३८	३६	४१	०	२५	३१	४१	४५
५२	हेतु	०	३७	०	०	२६	२२	०	०
		३८	३७	४१	३१	२६	३२	४१	४५

अलङ्कार विवरण तालिका संख्या २

इस तालिका में निम्न लिखित ५१ अलङ्कार ऐसे हैं जिनको भट्टि, भामह, दण्डी, उद्भट और वामन इन पाँचों में किसी ने नहीं लिखे हैं। इन पाँचों के बाद रुद्रट, भोज, मम्मट और रुय्यक के समय तक नवाविष्कृत हैं। इनमें किसके द्वारा कितने अलङ्कार नवाविष्कृत किये गये और आविष्कारक के बाद किस-किस ने स्वीकार किये उसका विवरण इस प्रकार है—

संख्या	नाम अलङ्कार	रुद्रट	भोज	मम्मट	रुय्यक
१	अधिक	१	विरोध में	१	१
२	अन्योन्य	२	२	२	२
३	अनुमान	३	१	३	३
४	अवसर	४	०	०	०
५	असंगति	५	विरोध में	४	४
६	उत्तर	६	२	५	५
७	उभयन्यास	७	अर्थान्तरन्यास में	०	०
८	एकावली	८	परिकर में	६	६
९	कारणमाला	९	हेतु में	७	७
१०	चित्र	१०	४	८	८
११	तद्गुण	११	०	९	९
१२	पर्याय	१२	५	१०	१०
१३	परिकर	१३	६	११	११
१४	परिसंख्या	१४	०	१२	१२
१५	प्रतीप	१५	साम्य में	१३	१३
१६	प्रत्यनीक	१६	विरोध में	१४	१४
१७	पूर्व	१७	०	०	०
१८	पिहित	१८	०	०	०

संख्या	नाम अलङ्कार	रुद्रट	भोज	मम्मट	रुय्यक
१९	भ्रान्तिमान्	१९	७	१५	१५
२०	भाव	२०	८	०	०
२१	मत	२१	०	०	०
२२	मीलित	२२	९	१६	१५
२३	विषम	२३	विरोध में	१७	१७
२४	व्याघात	२४	०	१८	१८
२५	विशेष	२५	०	१९	१९
२६	समुच्चय	२६	१०	२०	२०
२७	सार	२७	११	२१	२१
२८	साम्य	२८	१२	०	०
२९	स्मरण	२९	१३ स्मृति	२२	२२
३०	अहेतु	०	१४	०	०
३१	अभाव	०	१५	०	०
३२	अर्थापत्ति	०	१६	०	०
३३	आप्तवचन	०	१७	०	०
३४	उपमान	०	१८	०	०
३५	प्रत्यक्ष	०	१९	०	०
३६	वितर्क	०	२०	० (सन्देह में)	०
३७	संभव	०	२१	०	०
३८	समाधि	०	२२	२३	२३
३९	अतद्गुण	०	०	२४	२४
४०	मालादीपक	०	०	२५	२५
४१	विनोक्ति	०	०	२६	२६

संख्या	नाम अलङ्कार	रुद्रट	भोज	मम्मट	रुय्यक
४२	सामान्य	०	०	२७	२७
४३	सम	०	०	२८	२८
४४	उल्लेख	०	०	०	२६
४५	काव्यार्थापत्ति	०	०	०	३०
४६	परिणाम	०	०	०	३१
४७	विचित्र	०	०	०	३२
४८	विकल्प	०	०	०	३३
४९	भावोदय	०	०	०	३४
५०	भावसंधि	०	०	०	३५
५१	भवशवलता	०	०	०	३६
		२६	२२	२८	२६
५२	तालिका संख्या १ के—	२६	२३	४१	४५
१०३	पूर्ण संख्या	५५	५४	६९	८१

ऊपर की दोनों तालिकाओं में संख्या १ की तालिका में ऐसे ५२ अलङ्कार हैं, जो भामह दण्डी, उद्भट और वामन के समय तक (लगभग ईसा की ९वीं शताब्दी तक) निरूपित हो चुके थे। इस तालिका द्वारा विदित हो सकता है कि भामह ने ३८, दण्डी ने ३७, उद्भट ने ४१ और वामन ने ३१ स्वतन्त्र अलङ्कार निरूपण किये हैं। और वे किस किस नाम के हैं तथा पूर्वनिरूपित किस किस अलङ्कार को परवर्ती किस किस आचार्य ने उसके सजातीय अलङ्कार के अंतर्गत माना है। और इन ५२ मे उक्त चारों आचार्यों के बाद किस किस नाम के रुद्रट ने २६, भोज ने ३२, मम्मट ने ४१ और रुय्यक ने ४५ स्वीकार किये हैं।

संख्या २ की तालिका में ५१ अलङ्कार ऐसे हैं जो भामह, दण्डी, उद्भट और वामन के बाद (ईसा की ८ वीं शताब्दी के बाद) रुद्रट, भोज, मम्मट

और रुय्यक द्वारा लगभग ईसा की १२ वीं शताब्दी तक निरूपित किये गये हैं। इसके (संख्या २ के) द्वारा विदित हो सकता है कि किस किस नाम के अलङ्कार किस किस आचार्य द्वारा सर्वप्रथम निरूपण किये गये हैं और उनमें किस किस नाम के अलङ्कार पूर्ववर्ती आचार्य द्वारा निरूपित परवर्ती आचार्य द्वारा स्वीकृत किये गये हैं।

इन दोनों तालिकाओं के विवरण द्वारा यह भी ज्ञात हो सकता है कि लगभग ईसा की १२ वीं शताब्दी तक विभिन्न आचार्यों द्वारा निरूपित अलङ्कारों की सख्या कुल १०३ है। और यह भी ज्ञात हो सकता है कि इन १०३ में किस-किस नाम के रुद्रट ने ५५, भोज ने ४५, मम्मट ने ६९ और रुय्यक ने ८९ अलङ्कार स्वतन्त्र लिखे हैं। और अपने पूर्ववर्ती आचार्य द्वारा निरूपित किस-किस अलङ्कार को परवर्ती आचार्य ने सजातीय अन्य अलङ्कारों के अन्तर्गत माना है।

इन तालिकाओं में जिन जिन आचार्यों द्वारा निरूपित अलङ्कारों की संख्या दी गई है उसमें और उन आचार्यों के ग्रन्थों में दी गई अलङ्कारों की किसी-किसी नामावली में कुछ न्यूनाधिक्य अवश्य दृष्टिगत होगा। जैसे भोज के सरस्वती-कण्ठाभरण में अलङ्कारों की सूची में ७२ अलङ्कारों के नाम है किन्तु उनमें कुछ अलङ्कार ऐसे हैं जिनको अन्य आचार्यों ने अलङ्कार का विषय नहीं मान कर स्वतन्त्र विषय माना है। तथा कुछ अलङ्कारों में केवल नाम भेद है, ऐसे अलङ्कारों का इन तालिकाओं में उल्लेख नहीं किया गया है। इसी प्रकार रुद्रट ने अपने निरूपित अर्थालङ्कारों को चार वर्गों में विभक्त किया हैं, उनकी संख्या ५८ है। किन्तु उनमें कुछ अलङ्कार एक-एक नाम के एक से अधिक वर्गों में रखकर उनकी भी रुद्रट ने पृथक् गणना की है, ऐसे अलङ्कारों की भी इन तालिकाओं में पृथक् गणना नहीं की गई है। बस, ऐसे ही अन्य कुछ कारणों से सख्या में न्यूनाधिक्य हो गया है।

यहां तक ईसा की १२ वीं शताब्दी तक के विभिन्न आचार्यों द्वारा निरूपित अलङ्कारों की संख्या और नामावली इन दोनों तालिकाओं में दी गई। इनके

अतिरिक्त सन् १२०० ई० के बाद लगभग ईसा की १८ वीं शताब्दी तक के उपलब्ध ग्रन्थों में विभिन्न लेखकों द्वारा जो अधिक अलङ्कार लिखे गये है उनका विवरण इस प्रकार है—

१६ जयदेव ने चन्द्रालोक में ८ शब्दालङ्कार और १८ अर्थालङ्कार सब ८६ अलङ्कार लिखे हैं जिनमें ७३ अलङ्कार† पूर्व निरूपित हैं, जिनका ऊपर की तालिकाओं में उल्लेख हो गया है, शेष निम्नलिखित १६ अलङ्कार अधिक हैं—

१ अत्युक्ति	५ असंभव	९ पूर्वरूप	१३ विषादन
२ अनुगण	६ उन्मीलित	१० प्रहर्षण	१४ संभावना
३ अर्थानुप्रास	७ उल्लास	११ प्रौढोक्ति	१५ स्फुटानुप्रास
४ अवज्ञा	८ परिकुरांकुर	१२ विकस्वर	१६ हुकृति

विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण मे १२ शब्दालङ्कार और ७० अर्थालङ्कार और ७ रसवदादि सब ८९ अलङ्कार लिखे हैं। जिनमें ८४ अलङ्कार‡ पूर्वाचार्यों द्वारा निरूपित हैं शेष ५ अलङ्कार अधिक हैं—

३ शब्दालङ्कार—

१ श्रुति अनुप्रास

१ अन्त्यनुप्रास

२ अर्थालङ्कार—

१ अनुकूल

१ निश्चय

† पूर्व निरूपित ७३ अलंकारों में—

६६ मम्मट द्वारा स्वीकृत ६९ में संकर, संसृष्टी और सूक्ष्म यह तीन जयदेव ने नहीं लिखे हैं शेप ६६ मम्मट के अनुसार हैं जिनका नाम ऊपर की तालिकाओं द्वारा ज्ञात हो सकता है।

५ रुय्यक के आविष्कृत १ उल्लेख २ विचित्र, ३ विकल्प, ४ परिणाम और ५ काव्यार्थापत्ति।

२ आवृत्ति [दण्डी-लिखित] और पिहित [रुद्रट लिखित]

‡ पूर्व निरूपित ८२ में विश्वनाथ ने ८१ रुय्यक द्वारा स्वीकृत लिखे हैं और १ हेतु (दण्डी आदि लिखित) लिखा है।

१ भाषासम

२ वाग्भट द्वितीय ने काव्यानुशासन में अन्य और अपर यह दो अलङ्कार नवीन लिखे हैं।

१८ अप्पय्य दीक्षित ने कुवलयानन्द में ७ रसवद आदि, ९ प्रमाणादि और १०२ अर्थालङ्कार सब ११८ अलङ्कार निरूपण किये हैं। शब्दालङ्कार दीक्षितजी ने नहीं लिखे हैं। अर्थालङ्कारों में ८४ † अलङ्कार पूर्वाचार्यों द्वारा निरूपित हैं और शेष निम्नलिखित १८ अलङ्कार अधिक हैं—

१ अनुज्ञा	६ प्रस्तुताङ्कुर	११ रत्नावली	१५ विशेषक
२ अल्प	७ प्रतिषेध	१२ ललित	१७ व्याजनिन्दा
३ गूढोक्ति	८ मिथ्याध्यवसिति	१३ लोकोक्ति	१८ कारकदीपक
४ छेकोक्ति	९ मुद्रा	१४ विधि	
५ निरुक्ति	१० युक्ति	१५ विवृतोक्ति	

३६ शोभाकर का अलङ्काररत्नाकर प्रायः अप्राप्य है। उसमें सब कितने अलङ्कार लिखे हैं, यह अज्ञात है। नीचे लिखे ३६ अलङ्कार पूर्वाचार्यों से अधिक हैं जिनका परिचय कविराजा मुरारिदान के जसवन्तजसोभूषण द्वारा मिलता है—

१ अचिन्त्य	२ अतिशय	३ अनादर	४ उदाहरण
५ अनुकृति	६ अवरोह	७ अशक्य	८ आदर
९ आपत्ति	१० उद्भेद	११ उद्रेक	१२ असम
१३ क्रियातिपत्ति	१४ गूढ	१५ तत्र	१६ तुल्य

† पूर्व निरूपित ८४ अलङ्कार दीक्षित ने लिखे हैं जिनका विवरण—

७९ जयदेव द्वारा लिखित ८९ में दीक्षित ने ८ शब्दालंकार १ हुंकृति यह ९ तो नहीं लिखे और १ अनुमान दीक्षित ने प्रमाणालंकारों के अन्तर्गत लिखा है।

५ पूर्वाचार्यों के निरूपित १ लेश, २ संकर, ३ संसृष्टि, ४ सूक्ष्म और ५ हेतु जो जयदेव ने नहीं लिखे थे वे दीक्षित ने लिखे हैं।

१७ निश्चय	१८ परभाग	१९ प्रतिप्रसव	२० प्रतिमा
२१ प्रत्यादेश	२२ प्रत्यूह	२३ प्रसङ्ग	२४ वर्द्धमानक
२५ व्याप्ति	२६ व्यासङ्ग	२७ संदेहाभास	२८ सजातीय व्यतिरेक
२९ विकल्पाभास	३० विध्याभास	३१ विनोद	३२ विपर्यय
३३ विवेक	३४ वैधर्म्य	३५ व्यत्यास	३६ समता

८ यशस्क का अलङ्कारोदाहरण भी प्रायः अप्राप्य है। उसमें नीचे लिखे ८ अलङ्कार नवीन हैं, जिनका परिचय भी जसवंतजसोभूषण द्वारा मिलता है—

१ अङ्ग	३ अप्रत्यनीक	५ अभीष्ट	७ तत्सदृशाकार
२ अनङ्ग	४ अभ्यास	६ तात्पर्य	८ प्रतिबन्ध

२ भानुदत्त ने २ अलंकार नवीन लिखे हैं जिनका परिचय भी जसवन्त-जसोभूषण द्वारा मिलता है अनाध्यवसाय और मङ्गी।

१ पण्डितराज ने रसगङ्गाधर में १ तिरस्कार अलंकार अधिक लिखा है।

पूर्ण संख्या ८८

इन ८८ अलङ्कारों के साथ उपर की तालिकाओं के १०३ अलङ्कार मिला देने पर कुल संख्या १९१ होती है।

अलङ्कारों का क्रम विकास

अलङ्कारों के क्रम-विकास पर दृष्टिपात करने पर विदित होता है कि महामुनि भारत के नाट्यशास्त्र में सबसे प्रथम चार और उसके बाद अग्निपुराण में १६ अलङ्कारों की संख्या अलङ्कारों के आशिक क्रम विकास की प्रथमावस्था सूचन करती है, जैसे कि प्रारम्भिक काल मे होना स्वाभाविक है। उसके बाद लगभग ईसा की छठी शताब्दी के पूर्व के ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं, फिर भी इस मध्यवर्ती समय मे अलङ्कारों का क्रम विकास अवश्य हुआ है। क्योंकि भामह और भट्टि के ग्रन्थों में जो अलंकारों की संख्या ३८ है, वह भामह या भट्टि द्वारा ही

१ देखिये, प्रथम भाग।

परिवर्द्धित नहीं की गई है। किन्तु भामह द्वारा काव्यालङ्कार में किये गये पूर्ववर्ती बहुत से अज्ञात एवं ज्ञात नामा आचार्यों के मतों के उल्लेख से[1] स्पष्ट है कि भामह के पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों द्वारा—जिनका समय अज्ञात है—अलंकारों का क्रम-विकास शनैः शनैः होता रहा है। भट्टि और भामह के बाद (ईसा की लगभग छठा शताब्दी के बाद) दण्डी, उद्भट और वामन के समय [ईसा की आठवीं शताब्दी] तक अलङ्कारों को संख्या लग भग ५२ हो गई है। यद्यपि यह परिवर्द्धित संख्या महत्वपूर्ण नहीं है, तथापि विषय विवेचन द्वारा क्रम-विकास पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। अतः भट्टि भामह से वामन तक [ईसा की ८ वीं शताब्दी तक] अलङ्कारों के क्रम-विकास का द्वितीय काल है। उसके बाद ईसा का नवीं शताब्दी के रुद्रट से लेकर महाराजा भोज, आचार्य मम्मट और रुय्यक इन चारों आचार्यों के समय तक [सन ११५० ई० तक] अल-ङ्कारों की संख्या १०३ तक पहुंच गई है। अलंकारों के क्रम-विकास का मध्यवर्ती यही काल महत्व-पूर्ण है। उसके बाद जयदेव, विश्वनाथ, अप्पय्य दीक्षित तथा कुछ अन्याय लेखक और पडितराज जगन्नाथ के समय तक [ईसा १८ वीं शताब्दी तक) अलङ्कारों की संख्या यद्यपि लगभग १९१ तक पहुंच जाती है, किन्तु इस संख्या में बहुत से अलङ्कार ऐसे भी कुछ आचार्यों ने स्वतन्त्र लिख दिये हैं जिनमें विलक्षण चमत्कार न होने के कारण उनका अन्य अल-ङ्कारों के अन्तर्गत समावेश हो जाता है। इसी प्रकार कुछ अलङ्कार ऐसे भी हैं जिनमें चमत्कार सर्वथा न होने के कारण सुप्रसिद्ध आचार्यों द्वारा वे स्वीकार नहीं किए गए। ऐसे अलङ्कारों का नाम रुय्यक के समय तक का तो ऊपर की तालिकाओं द्वारा ही ज्ञात हो सकता है। उसके बाद जयदेव के हुंकृति- अर्था-नुप्रास, स्फुटानुप्रास; विश्वनाथ के पांचो, वाग्भट के दोनों, यशस्क के आठों, भानुदत्त के दोनों, शोभाकार के ३६ में २४ * केवल इन लेखकों के ग्रन्थों तक

* शोभाकर का 'उदाहरण' और असम दो अलङ्कार पण्डितराज ने स्वीकार किया है।

ही सीमित रह गये—इनके परवर्ती किसी लेखक ने उन्हें स्वीकार नहीं किया। इनके सिवा जयदेव और अप्पय द्वारा नवीन निरूपित अलङ्कारों को भी काव्यप्रकाश के उद्योत व्याख्याकार नागेश भट्ट ने मम्मट निरूपित अलङ्कारों के अन्तर्गत दिखाने की चेष्टा की है। अस्तु अब यहाँ अलङ्कार-विषयक एक और भी ज्ञातव्य बात का उल्लेख किया जाना आवश्यक है, और वह है अलङ्कारों का वर्गीकरण।

अलङ्कारों का वर्गीकरण

यह पहिले कहा गया है कि प्रत्येक अलङ्कार में उक्ति-वैचित्र्य अर्थात् वर्णन करने की शैली विभिन्न रहती है। ऐसा होने पर भी अलङ्कारों के कुछ मूल-तत्व ऐसे हैं जिनके आधार पर सजातीय अनेक अलङ्कारों का एक समूह अपने मूल-तत्व पर अवलम्बित है। उन मूल-तत्वों के आधार पर अलङ्कारों को भिन्न-भिन्न समूह में विभक्त किया जा सकता है। इस विषय पर रुद्रट के (ईसा की नवीं शताब्दी के) प्रथम किसी आचार्य ने लक्ष्य नहीं किया। सबसे प्रथम रुद्रट ने अपने निरूपित अर्थालङ्कारों को वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष इन चार मूल-तत्वों पर चार श्रेणियों में विभक्त किया है। रुद्रट का वर्गीकरण मूल-तत्वों के आधार पर होने पर भी महत्व-पूर्ण नहीं है, क्योंकि मूल-तत्व का विभाजन यथार्थ नहीं हो पाया है। अतएव यहा उनका विस्तृत विवरण देकर विस्तार करना अनुपयुक्त है[1]। रुद्रट के पश्चात् रुय्यक ने अलंकारसर्वस्व में जो अलंकारोंका वर्गीकरण किया है वह मूल-तत्वों के आधार पर यथार्थ होने के कारण अधिक स्पष्ट और उपयुक्त है।

रुय्यक ने अपने निरूपित अर्थालङ्कारों में निम्नलिखित अलङ्कारों को सात वर्गों में इस प्रकार विभक्त किया है—

---

१ इसका स्पष्टीकरण लेखक ने अपने काव्य कल्पद्रुम के तृतीय संस्करण के द्वितीय भाग अलकारमञ्जरी की भूमिका में किया है।

३ वाक्यार्थगत[1]—प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और निदर्शना ।

१ भेद प्रधान[2]—व्यतिरेक, सहोक्ति और विनोक्ति[3] ।

२ विशेषण वैचित्र्य[4]—समासोक्ति और परिकर ।

१ विशेषण विशेष्य वैचित्र्य[5]—श्लेष ।

१ अप्रस्तुतप्रशंसा (समासोक्ति के विरुद्ध होने के कारण)

१ अर्थान्तरन्यास [अप्रस्तुतप्रशंसा का सजातीय होने के कारण]

३ पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति और आक्षेप—गम्यत्व-वैचित्र्य होने के कारण इसी वर्ग में रक्खे गये हैं ।

१२ विरोध मूल—इनका मूल-करण विरोधात्मक वर्णन है—

विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, अतिशयोक्ति[6] (कार्यकारण पौर्वापर्य्य विपर्यय) असङ्गति और विषम ।

४ शृङ्खला बन्ध मूल—इनमें शृङ्खला [साकल] की भाति एक पद या वाक्य का दूसरे पद या वाक्य के साथ संबंध रहता है ।

कारणमाला, एकावली, मालादीपक और सार,

१—इन तीनों में वाक्य के अर्थ में गम्य सादृश्य रहता है ।

२ इन तीनों में उपमेय उपमान के सादृश्य में भेद पूर्वक गम्य सादृश्य रहता है ।

५ विनोक्ति को, सहोक्ति के विरोधी होने के कारण इस वर्ग में रक्खा गया है ।

६ इन दोनों में विशेषण-वैचित्र्य गत गम्यसादृश्य रहता है ।

१ श्लेष में विशेष्य और विशेषण दोनों के वैचित्र्य में गम्य सादृश्य रहता है ।

२ रुय्यक ने अतिशयोक्ति को २ वर्गों में रक्खा है एक तो अध्यवसाय-मूल वर्ग में और दूसरे विरोध-मूल वर्ग में ।

२ न्याय मूल—ये तर्क न्याय के आश्रित हैं—

काव्यलिङ्ग और अनुमान

८ काव्य न्याय मूल—

यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, अर्थापत्ति, विकल्प, परिसंख्या, समुच्चय और समाधि।

७ लोकन्यास—

प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण और उत्तर।

३ गूढार्थ प्रतीति—यह गूढ अर्थ की प्रतीति पर निर्भर हैं—

सूक्ष्म, व्याजोक्ति और वक्रोक्ति

इनके अतिरिक्त नीचे लिखे अलंकारों को किसी वर्ग में विभक्त नहीं किया है—

२ मिश्रित—संकर और संसृष्टि।

३ स्वभावोक्ति, भाविक और उदात्त।

७ रस, भाव संबन्धीय—रसवद्, प्रेय, ऊर्जस्वी, समाहित, भावोदय, भावसन्धि और भाव-शवलता।

अलङ्कारों के लक्षण और उदाहरण

इस विषय में भी संस्कृत के प्राचीन आचार्यों का प्रायः मतभेद है। अतएव इस विषय पर भी संस्कृत के कुछ सुप्रसिद्ध ग्रन्थों में महत्वपूर्ण आलोचनात्मक विवेचन किया गया है जिसमें पण्डितराज का रसगङ्गाधर विशेषतया उल्लेखनीय है। हिन्दी भाषा के प्राचीन या आधुनिक साहित्य ग्रन्थों में इस विषय पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाला गया है। इन पंक्तियों के लेखक के हिन्दी के अलङ्कारमञ्जरी ग्रन्थ (काव्यकल्पद्रुम के तृतीय संस्करण के द्वितीय भाग) में इसी आलोचनात्मक शैली द्वारा इस विषय का भी विस्तृत विवेचन किया गया है।



रीति सम्प्रदाय

'रीति' शब्द रीङ् धातु से बना है—'रीङ् गतौ'। काव्य में 'रीति' शब्द मार्ग का पर्याय माना गया है। महाराजा भोज ने कहा है—

'वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इतिस्मृतः।
रीङ्गताविति धातोः सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते।'

—सरस्वतीकण्ठा० २।२७

इसकी व्याख्या में कहा है—

'रियन्ते परम्परया गच्छन्त्यनयेति करणसाधनोऽयं रीतिशब्दो मार्गपर्यायः।'

रीति सम्प्रदाय के प्रधान प्रतिनिधि वामन ने 'रीति' का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—

'विशिष्टापदरचना रीतिः।' 'विशेषो गुणात्मा।'

—काव्यालङ्कारसूत्र १।२।७-८

अर्थात् विशेष प्रकार की माधुर्य आदि गुणयुक्त पदों वाली रचना को रीति कहते हैं। अतएव 'रीति' गुणों पर भी अवलम्बित होने के कारण प्रथम गुणों के विषय में विवेचन किया जाना आवश्यक है।

गुणों का महत्त्व

गुणों का निरूपण तो प्रायः सभी साहित्य ग्रन्थों में है, किन्तु कुछ ग्रन्थों में गुणों का महत्त्व भी प्रदर्शित किया गया है। अग्निपुराण में कहा है—

'अलंकृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत्।
वपुष्यललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम्।'[1]

—अध्याय० ३४६।१

---

[1] अलंकार युक्त भी काव्य गुण-रहित हो तो प्रीति-जनक [मनोरञ्जक] नहीं हो सकता, जैसे कुरूपा स्त्री के हार आदि आभूषण केवल भार रूप होते हैं।

आचार्य वामन ने गुणों का महत्व प्रदर्शित करते हुए कहा है—

'युवतेरिव रूपमङ्गकाव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव ।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलङ्कारविकल्पकल्पनाभिः ।'[1]
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्योवपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः ।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते ।'[2]
—काव्यालंकारसूत्र ३।१।२

महाराज भोज ने भी कहा है—

अलंकृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम् ।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालङ्कारयोगयोः ।[3]
—सरस्वतीक० १।५९

---

१ युवती के रूप के समान काव्य, अलंकार रहित (युवती पक्ष में हार आदि आभूषण और काव्य-पक्ष में उपमा आदि अलंकार रहित) भी केवल गुण युक्त (युवती पक्ष में शालीनता आदि और काव्य-पक्ष में 'ओज' आदि गुण युक्त) रसिक जनों के चित्त का आकर्षक होता है। और वह गुण युक्त (काव्य या स्त्री का रूप) अलंकारों से युक्त होने पर अत्यन्त आकर्षक हो जाता है।

२ अनेक सुन्दर आभूषणों से युक्त भी जिस प्रकार कामिनी का शरीर यदि शालीनता आदि गुणों से रहित हो तो दुर्भग होता है, उसी प्रकार उपमा आदि अलंकारों से युक्त भी काव्य यदि ओज आदि गुणों से वर्जित हो तो दुर्भग (अनादरणीय) होता है।

३ अलंकारों से युक्त भी गुण-रहित काव्य चित्ताकर्षक नहीं होता। अतः काव्य का गुण और अलंकारों के सम्बन्ध में गुणों से युक्त होना परमावश्यक है। अर्थात् अलंकार चाहे न भी हों पर गुण अवश्य होने चाहिये।

गुणों का लक्षण

अच्छा, अब यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि काव्य में 'गुण' किसको कहते हैं। नाट्य शास्त्र में गुणों का लक्षण न लिख कर दोषों के विपर्यय को गुण बताया गया है। और अग्निपुराण में गुण का लक्षण यह लिखा है—

'यः काव्ये महती छायामनुगृह्णात्यसौ गुणः।'

—३४६।३

गुण वह है जो काव्य में अत्यन्त शोभा को अनुगृहीत करता है। अर्थात् काव्य को अत्यन्त शोभित करता है वह गुण है। अग्निपुराण के बाद भामह, दण्डी और उद्भट ने गुण का लक्षण नहीं बताया है। और न गुण और अलङ्कार में कुछ भेद ही बताया है, जैसा कि अलकार सम्प्रदाय के अन्तर्गत दिखाया गया है। अग्निपुराण में गुण को काव्य का शोभाकारक बताया गया है। और दण्डी ने अलंकारों को भी काव्य को शोभित करने वाला धर्म बताया है। दण्डी ने कहा है—

'काव्यशोभाकरान्धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।'

—काव्याद० २।१

जब गुण और अलङ्कार दोनों ही काव्य के शोभा-कारक माने गये तो प्रश्न होता है कि इनमें भेद ही क्या रहा? फिर इनके पृथक् पृथक् नाम क्यों रक्खे गये? किन्तु आश्चर्य है कि इस प्रश्न पर उपलब्ध ग्रन्थों में वामन के प्रथम किसी साहित्याचार्य ने लक्ष्य नहीं किया है। सर्वप्रथम वामन ने ही काव्यालंकारसूत्र में गुणों और अलङ्कारों में क्या भेद है इस विषय में अपना मत प्रकट किया है।

वामन का मत

वामन ने—

'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणा।'
'तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः ।'

—काव्यालङ्कारसूत्र ३।१।१,२

इन दो सूत्रों में गुणों को काव्य के शोभाकारक धर्म और अलङ्कारों को उस गुण-कृत शोभा का उत्कर्षक [बढ़ाने वाले] बताया है। और इन दोनों सूत्रों की—

'ये खलु शब्दार्थयोर्धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः। ते चौजः-प्रसादादयः। न यमकोपमादयः। कैवल्येन तेषामकाव्यशोभाकरत्वात्। ओज. प्रसादादीनां तु केवलनामस्ति काव्यशोभाकरत्वमिति।'

इस वृत्ति में कहा है कि 'केवल गुण काव्य के शोभाकारक हैं—केवल अलंकार नहीं'। अर्थात् वामन दो बात कहता है—एक तो यह कि जिस रचना में केवल 'गुण' हों वह काव्य माना जा सकता है, और दूसरी बात यह कि जिस रचना में केवल अलङ्कार हों वह काव्य नहीं माना जा सकता। इन दोनों बातों में वामन की दूसरी बात के विषय में अलंकार सम्प्रदाय के अन्तर्गत यह दिखाया जा चुका है कि वामन का यह मत सर्वथा निस्सार है। अब वामन की प्रथम बात का भी निस्सारता आगे के विवेचन द्वारा काव्य-मर्मज्ञों को स्वयं विदित हो जायगी।

वामन के इस मत की आलोचना के लिये अब क्रमशः वामन के गुण विषयक सभी म ों पर विवेचन किया जाता है—

गुणों की संख्या

गुणों की संख्या के विषय में भी मतभेद है। महामुनि भरत ने १० गुण निरूपण किये हैं—(१) श्लेष, (२) प्रसाद, (३) समता, (४) समाधि, (५) माधुर्य, (६) ओज, (७) पद, सौकुमार्य, (८) अर्थव्यक्ति, (९) उदारता और (१०) कान्ति। अग्निपुराण मे शब्द के ७, अर्थ के ६ और शब्दार्थ उभय के ६ इस प्रकार १९ गुण निरूपण किये गये हैं। आचार्य दण्डी ने गुणों के नाम और संख्या तो भरतमुनि के अनुसार ही लिखी है किन्तु गुणों के क्रम और लक्षणों में बहुत कुछ परिवर्तन कर दिया है। वामन ने शब्द के १० और अर्थ के

१० गुण बनाये हैं और महाराजा भोज ने शब्द के २४ और अर्थ के २४ गुणों का निरूपण किया है।

एक श्रेणी के आचार्यों ने गुणों की संख्या में जब कि इस प्रकार वृद्धि की है, तो दूसरी श्रेणी के भामह आदि ने केवल 'माधुर्य' 'ओज' और 'प्रसाद' यही तीन गुण बताये हैं।

गुणों की इस विभिन्न संख्या के विषय में आचार्य मम्मट के पूर्ववर्ती ग्रन्थों में स्वतन्त्रता का साम्राज्य प्रतीत होता है। इस विषय पर संभवतः प्राचीनाचार्यों द्वारा गम्भीर विचार नहीं किया गया है। वस्तुतः ध्यान पूर्वक देखा जाय तो नाट्यशास्त्र और दण्डी के निरूपित गुणों का अधिकांश में जिस प्रकार वामन के निरूपित १० गुणों में समावेश हो जाता है उसी प्रकार महाराजा भोज द्वारा निरूपित गुणों का भी प्राय अधिकाश मे वामन के निरूपित गुणों में समावेश हो जाता है—केवल नाम मात्र का भेद रह जाता है अतएव आचार्य मम्मट ने वामन के मत की ही आलोचना की है। मम्मट ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विभिन्न मतों पर विचार कर के भामह के मत को सारभूत समझ कर उसी के अनुसार केवल तीन ही गुण माधुर्य, ओज और प्रसाद स्वीकार किये हैं। और वामन के बताये हुए शब्द के (१) ओज, (२) प्रसाद, (३) श्लेष, (४) समता, (५) समाधि, (६) माधुर्य, (७) सौकुमार्य, (८) उदारता, (९) अर्थव्यक्ति और (१०) कान्ति इन दश गुणों में बहुत से तो मम्मट ने अपने स्वीकृत तीन (माधुर्य ओज और प्रसाद गुणों के अन्तर्गत और शेष, दोष के अभावरूप एवं दोष रूप स्पष्ट सिद्ध कर के दिखा दिये हैं। मम्मट का कहना है कि वामन के बताये हुए श्लेष, समता, उदारता, प्रसाद और ओज इन पाँचों का हमारे स्वीकृत ओज को ध्वनित करनेवाली रचना में अन्तर्भाव हो जाता है। और 'माधुर्य' हमारे स्वीकृत माधुर्य की अभिव्यञ्जक-रचना है। और वामन ने जो 'समता' नाम का गुण माना है वह दोष रूप है, न कि गुण, क्योंकि समता की सर्वत्र स्थिति अनुचित है—प्रतिपाद्य विषय की उद्धटता और अनुद्धटता के अनुसार एक ही पद्य

में भिन्न-भिन्न शैली का प्रयोग किया जाना आवश्यक है—न कि सर्वत्र समता। और वामन ने जिनको 'कान्ति' और 'सुकुमारता' गुण बताया है, वे ग्राम्यत्व और कष्टत्व दोषों के अभाव मात्र हैं, न कि गुण, क्योंकि काव्य में उक्त दोनों दोषों को दूर कर देने पर कान्ति और सुकुमारता की स्थिति स्वयं हो जाती है। अब रहा 'अर्थव्यक्ति' सो हम 'प्रसाद' गुण को मानते हैं, तब उसकी आवश्यकता ही क्या रह जाती है—अर्थव्यक्ति का अर्थ है अर्थ का स्पष्ट सुगमता पूर्वक ज्ञान होना वही, तो प्रसाद गुण है।'

इसी प्रकार वामन ने अर्थ के भी १० गुण बताये हैं, जिनके नाम शब्द के गुणों के अनुसार ही हैं किन्तु आचार्य मम्मट कहते हैं—

''वामन के निरूपित अर्थ के गुणों में श्लेष और ओज के प्रथम चार भेद तो विचित्रता मात्र हैं, अतः इनको गुण नहीं कह सकते, यदि ऐसी विचित्रता को ही गुण मान लिया जाय तो अर्थ वैचित्र्य तो प्रत्येक श्लोक में रहता है—उन सभी को गुण स्वीकार कर लेने में तो गुणों की संख्या की गणना ही न हो सकेगी। और वामन ने अधिक पद न होने को 'प्रसाद' गुण (प्रयोजकमात्रपरिग्रहः प्रसादः–का० ल० सूत्र ३।२।३), उक्ति वैचित्र्य को माधुर्य ('उक्तिवैचित्र्य माधुर्यम् ३।२।११) , कठोरता न होने को सौकुमार्य (अपारुष्यं सौकुमार्यम् ३।२।१२), ग्राम्यता न होने को 'उदारता' ('अग्राम्यत्वोदारता ३।२।१३), विषमता न होने को समता—('अवैषम्यं समता' ३।२।५) और पदों का साभिप्राय होना 'ओज'. गुण का पाचवाँ भेद—(साभिप्रायत्वमेवच ३।२।२) बताया है, किन्तु यह सब क्रमशः अधिकपदत्व, अमङ्गल रूप अश्लीलत्व, ग्राम्यत्व भग्नप्रक्रमत्व और अपुष्टार्थत्व रूप दोष के अभाव मात्र हैं, अर्थात् उक्त दोष न होना ही इनका स्वरूप है, तब ये दोष के अभाव ही कहे जा सकते हैं—न कि गुण। और वामन ने स्वभाव के स्पष्ट वर्णन करने को अर्थव्यक्ति माना है—('वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः ३।२।१४) किन्तु यह स्वभावोक्ति अलंकार है—न कि गुण। वामन ने जो रस के स्पष्टतया प्रतीत होने में

'कान्ति' गुण माना है—['दीप्तरसत्वं कान्तिः' ३।२।१२] वह रस, ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य रसवत् अलंकार आदि का विषय है—न कि गुण। और जो 'समाधि' गुण बतलाया है, वह कवि के अन्तःकरण में रहने वाली ज्ञान रूप वस्तु है अतः वह काव्य का कारण है—न कि गुण, अतएव वामनोक्त अर्थ के दशों गुण, गुण नहीं माने जा सकते"।

आचार्य मम्मट के प्रतिपादित इस मत का महत्व और इसकी सर्व-मान्यता का सर्वोपरि प्रमाण यह है कि हेमचन्द्र, विश्वनाथ जैसे सुप्रसिद्ध आलोचक और साहित्याचार्यों ने मम्मट के स्वीकृत तीन गुण—माधुर्य, ओज और प्रसाद ही स्वीकार किये हैं। यह तो हुआ गुणों की संख्या का विवेचन अब यह विवेचनीय है कि—

काव्य में गुण क्या पदार्थ हैं

मम्मटाचार्य ने गुणों का सामान्य लक्षण—

'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः।'

—काव्यप्रकाश ८।६६

यह लिखा है। अर्थात् 'गुण' रस के धर्म, रस के उत्कर्ष के हेतु और रस में अचलस्थिति से रहने वाले हैं। गुणों को रस के धर्म इसलिये कहा है कि जिस प्रकार शूरता आदि जीवात्मा के धर्म हैं उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण काव्य के आत्मा स्थानीय रस के ही धर्म हैं [रस में ही रहते हैं] न कि वर्ण रचना में। तथा उत्कर्ष के हेतु इस लिये कहा है कि जिस प्रकार शूरता आदि गुण आत्मा में अन्य अशूर पुरुषों की अपेक्षा वीर पुरुषों का महत्व प्रकट करते हैं, उसी प्रकार गुण भी काव्य के मुख्य तत्व रस में उत्कर्ष करते हुए रस रहित काव्य की अपेक्षा सरस काव्य का महत्व प्रकट करते हैं। और गुणों को रस में अचलस्थिति वाले इसलिये कहा है कि गुण रस के साथ निरन्तर रहते हैं—जहां रस होगा वहां गुण अवश्य होगा। यदि गुणों को केवल रस के उत्कर्षक

मात्र कहा जाता तो गुणों के लक्षण की अलंकारों में अतिव्याप्ति हो जाती क्योंकि रस के उत्कर्षक तो प्रायः अलंकार भी होते हैं, किन्तु सर्वत्र नहीं*। और यदि गुण रस के केवल धर्म कहे जाते तो रस में शृङ्गारत्व आदि धर्म भी रहते हैं, इसलिये गुणों के लक्षण में 'रस के उत्कर्षक', 'रस के धर्म' और 'रस में अचलस्थिति वाले' यह तीनों बात कही गई हैं। गुणों के इस लक्षण द्वारा गुण और अलंकार का भेद भी स्पष्ट हो जाता है।

मम्मट ने गुणों के सामान्य लक्षण के बाद अपने स्वीकृत तीन गुणों में 'माधुर्य' गुण का लक्षण—

'आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम्।
करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्।'

—का० प्र० ८।६८-६९

यह लिखा है। अर्थात् जिसके कारण चित्त द्रुत हो जाता है—आर्द्रप्राय हो जाता है—पिघल सा जाता है—उस आह्लाद विशेष† का नाम माधुर्य गुण है। और वह [माधुर्य] सम्भोग शृङ्गार से करुण रस में, करुण रस से विप्रलंभ-शृङ्गार में, और विप्रलंभ-शृङ्गार से शान्त रस में अतिशय युक्त रहता है क्योंकि

* इसका स्पष्टीकरण उदाहरण देकर लेखक ने अपने काव्यकल्पद्रुम के तृतीय संस्करण के प्रथम भाग —रसमञ्जरी में किया है।

† यहां 'आह्लादविशेष' इसलिये कहा गया है कि आह्लाद रूप तो सभी रस हैं किन्तु शृङ्गार, करुण और शान्त रसात्मक जिप आह्लादविशेष से चित्त द्रवीभूत हो जाता है, वह माधुर्य गुण है। काव्यप्रकाश की इस कारिका में जो 'आह्लादक' शब्द है उसका अर्थ यहां आह्लाद करने वाला नहीं लिया जा सकता क्योंकि 'रस' स्वयं आह्लाद रूप हैं—न कि आह्लाद के कारण अतएव यहां 'आह्लादक' पद है वह स्वार्थ में 'क' प्रत्यय होने के कारण आह्लाद का ही वाचक है।

करुण, विप्रलंभ और शान्त रस में माधुर्य द्वारा चित्त क्रमशः अधिकाधिक द्रुत हो जाता है। और 'ओज' गुण का लक्षण—

'दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति।
बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च ॥'

—का० प्र० ८।६९-७०

यह लिखा है। अर्थात् वीर रस मे जो उद्दीपकता रूप एक धर्म रहता है, जिसके कारण चित्त ज्वलित जैसा हो जाता है, उसका नाम ओज गुण है। और उस (ओज) की वीर रस में स्थिति रहती है और वह (ओज) वीर रस से अधिक बीभत्स रस में, और बीभत्स रस से अधिक रौद्र रस में रहता है। और प्रसाद गुण का लक्षण—

'शुष्केन्धनाग्निवत्स्वच्छजलवत् सहसैव यः।
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ॥'

—का० प्र० ८।७०-७१

यह लिखा है। अर्थात् जो सूखे इंधन में अग्नि की भांति (रौद्रादि रसों में) तथा स्वच्छ वस्त्र में जल की भाँति (शृङ्गारादि कोमल रसों में) चित्त को सहसा रस से व्याप्त कर देता है, उस विकास रूप रस के धर्म को प्रसाद गुण कहते हैं और इस (प्रसाद गुण) की सभी रसों में स्थिति रहती है।

इन लक्षणों द्वारा स्पष्ट है कि मम्मटाचार्य गुणों को रस के धर्म मानते हैं न कि वर्ण-रचना के।

किन्तु वामन गुणों को रस के धर्म न मान कर—'ओजःप्रसादश्लेष······ (का० सू० ३।१।४) इस सूत्र में गुणों की स्थिति पद-रचना मे बताता है। अर्थात् विशेष-विशेष वर्णों (अक्षरों) के प्रयोग और छोटे बड़े समास आदि की रचना में गुणों का रहना बताता है। किन्तु इसका खण्डन करते हुए मम्मट कहते हैं कि गुणों का वास्तविक संबन्ध रसों के साथ है, न कि वर्णात्मक रचना के साथ। क्योंकि मधुर गुण के कारण तो चित्त द्रवीभूत हो जाता है। मधुर वर्णों की रचना

को ही यदि माधुर्य गुण माना जाय तो मधुर वर्णों की रचना तो 'वीर' आदि रसों में भी हो सकती है, फिर ऐसी रचना के वीर रस आदि के काव्य द्वारा चित्त द्रवीभूत क्यों नहीं होता? इसी प्रकार कठोर वर्णों की रचना शृङ्गार रस के काव्य में भी कहीं कहीं देखी जाती है किन्तु उसके द्वारा चित्त दीप्त-ज्वलित जैसा नहीं होता, अतएव सिद्ध होता है कि गुणों की वास्तविक स्थिति वर्ण रचनादि में नहीं। आचार्य हेमचन्द्र आदि भी मम्मट के मतानुसार गुणों का वास्तविक संबन्ध रसों के साथ ही मानते हैं*। यदि यह कहा जाय कि वर्णों के साथ गुणों का सम्बन्ध वास्तविक नहीं है तो फिर लोग ऐसा क्यों कहते हैं कि 'इस काव्य में मधुर वर्ण हैं' 'यह रचना मधुर है' 'यह पदावली ओजपूर्ण है' अर्थात् वर्णों के साथ गुणों का संबन्ध क्यों कहा जाता है? इसका उत्तर यह है कि गुणों का वर्ण, समास और रचना के साथ औपचारिक‡ संबन्ध है। अर्थात् यह लाक्षणिक प्रयोग है। जैसे शूरवीर होना मनुष्य के आत्मा के धर्म हैं, तथापि लोग कहते हैं कि 'इसका आकार शूरवीर है' किन्तु आकार तो जड़ है—आकार में शूरता कहां, केवल कल्पना मात्र है। अतएव औपचारिक सम्बन्ध से विशेष वर्ण समुदाय, समास और रचना को गुणों की व्यञ्जकता मम्मटाचार्य को भी स्वीकृत है। क्योंकि रस को अपनी व्यक्ति के लिये शब्द और अर्थ भी अपेक्षित हैं—शब्दार्थ द्वारा ही रस अभिव्यक्त होता है। अतएव शब्द और अर्थ रस के संबन्धी हैं और अपने संबन्धी रस के सम्बन्ध द्वारा शब्द और अर्थ भी परम्परा या गौण संबन्ध से गुण, शब्द और अर्थ में भी रहते हैं। इसी से कोमल वर्णों वाली मधुर रचना†

* देखिये हेमचन्द्र का काव्यानुशासन पृ० १६

‡ किसी वस्तु के धर्म का किसी विशेष सम्बन्ध के कारण दूसरी वस्तु में प्रतीत होना उपचार कहा जाता है।

† टवर्ग के चार वर्ण ट, ठ, ड ढ, छोड़ कर 'क' से 'म' तक वर्णों वाली छोटे समास या समास के अभाव वाली वर्ग के अन्त्याक्षर (ङ, ञ, ण, न, म,) युक्त—सानुस्वार वर्णों वाली मधुर रचना होती है।

माधुर्य गुण को कठोर वर्णों वाली रचना† ओज गुण को और जिसके सुनते ही अर्थ की सहज प्रतीति हो ऐसी बोध-गम्य रचना प्रसाद गुण को व्यक्त करती है।

मम्मट पर विश्वनाथ की आलोचना

मम्मट ने माधुर्य गुण का लक्षण जो—

'आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम्।'

यह बताया है, उस पर विश्वनाथ ने—

"केनचिदुक्तं—'माधुर्यं द्रुतिकारणम् तन्न"।

इत्यादि वाक्य द्वारा मम्मट पर यह आक्षेप किया है कि माधुर्य को द्रुति का कारण कहा है वह ठीक नहीं। क्योंकि द्रुति यदि किसी का कार्य हो तभी उसका कोई कारण हो सकता है किन्तु द्रुति तो स्वयं रस रूप आल्हाद से अभिन्न है अतएव जैसे 'रस' कार्य नहीं उसी प्रकार द्रुति भी कार्य नहीं। और जब द्रुति कार्य नहीं तो फिर उसका कारण कौन हो सकता है! किन्तु विश्वनाथ का यह आक्षेप निराधार है। क्योंकि द्रुति और माधुर्य अभिन्न (एक) नहीं है। द्रुति सामाजिकों के अनुभव सिद्ध सुकुमार चित्त की एक प्रकार की अवस्था है और वह शृङ्गार आदि मधुर रसों के आस्वाद से—मन के काठिन्य आदि के हट जानेपर उत्पन्न होती है। और माधुर्य द्रुति का प्रयोजक (जनक) है। कहा है—

---

† वर्ग के पहिले और तीसरे वर्णों का दूसरे और चौथे वर्णों के साथ क्रमशः योग 'क' 'च' आदि का 'ख' 'छ' आदि के साथ सम्बन्ध (जैसे 'च्छ' 'त्थ' 'प्फ') और 'ग' 'ज' आदि का 'घ' 'झ' आदि के साथ योग (जैसे 'ग्घ' 'ज्झ') और 'र' का नीचे ऊपर योग (जैसे 'र्थ' 'क्र' 'द्र') और 'ण' के बिना टवर्ग [ट, ठ, ड, ढ,] की अधिकता वाली एवं बहुत से पदों के लम्बे समास वाली कठोर रचना होती है।

"सामाजिकानुभवसिद्धः सुकुमारचित्तस्यावस्थाविशेषोद्रुतिः। स च मधुररसास्वादादेव (मनः काठिन्याद्यपगमे) जायते, न तु माधुर्यमेव स इति।"

—बालबोधिनी व्याख्या पृ० ५७४

इसके अतिरिक्त पण्डितराज जगन्नाथ ने भी माधुर्य को द्रुति का प्रयोजक बतलाया है—

'द्रुत्यादिचित्तवृत्तिप्रयोजकत्वम् ··· माधुर्यादिकमस्तु।'

—रसगङ्गाधर पृ० ५५

यही नहीं, स्वयं विश्वनाथ भी—

'द्रवी भावश्च स्वाभाविकानाविष्टत्वात्मककाठिन्य ·····रत्याद्याकारानुविद्धानन्दोद्बोधेन सहृदयचित्तार्द्र प्रायत्वम्।'

—सा० द० ८।२ वृत्ति

इस वाक्यमें रस आदिके स्वरूप से अनुगत, आनन्दके उद्बोध द्रुति का कारण कह रहा है। अर्थात् द्रुति को कार्य रूप बता रहा है। फिर विश्वनाथ के इस निर्मूल आक्षेप पर अधिक विवेचन अनावश्यक है, यद्यपि इस पर बहुत कुछ वक्तव्य है। विश्वनाथ स्वयं गुणके लक्षण और विवेचन में बुरी तरह विचलित हो गया है विश्वनाथ ने गुणका सामान्य लक्षण तो मम्मट के अनुसार—

'रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा। गुणाः।'

—सा० द० ८।१

इस प्रकार लिख कर गुणों को रस के धर्म बताया है फिर आगे दूसरी—

'चित्तद्रवीभावमयोह्लादो माधुर्यमुच्यते।'

इस कारिकामें आह्लाद को 'द्रुति' नामक चित्त वृत्ति रूप बता दिया है। फिर विश्वनाथ स्वयं द्रवीभावों के—

'रत्याद्याकारानुविद्धानन्दोद्बोधेन······'

इस लक्षण में हेतु तृतिया से आनन्द (आल्हाद) और 'द्रुति' में परस्पर कार्य-कारण भाव स्पष्ट स्वीकार कर रहा है। अर्थात् अपने आजीव्य आचार्य मम्मट के कहे हुए जिस 'कार्य-कारण भाव' पर विश्वनाथ ने आक्षेप किया है, उसी 'कार्य-कारण भाव' को अन्ततोगत्वा विश्वनाथ ने स्वयं स्वीकार किया है। देखिये, विश्वनाथ का यह विवेचन कितना वदतोव्याघात दोष से ग्रसित हो रहा है— किमाश्चर्यमतः परम्' ।

रीति

रीति गुणों पर ही निर्भर होने के कारण पहिले गुणों का विवेचन करने के बाद अब 'रीति' के विषय में आचार्यों के विभिन्न मतों का उल्लेख किया जाता है—

रीतियों की संख्या

जिस प्रकार गुणों की संख्या के विषय में आचार्यों का मतभेद है उसी प्रकार रीतियों की संख्या में भी उनके विभिन्न मत हैं। अग्निपुराण में पाञ्चाली, गौडिय, वैदर्भी, और लाटी इन चार रीतियों का निरूपण किया गया है (अ० पु० ३४० ।१) भामह ने गौडीय और वैदर्भी दो रीतियों का ही उल्लेख किया है और इन दोनों में भी वह विशेष भेद नहीं बताता है—प्रत्युत इन दोनों में भेद मानने वाले अपने पूर्ववर्ती विद्वानों की उसने आलोचना भी की है (काव्यालं० १।३२)। दण्डी यद्यपि काव्य के अनेक मार्ग (रीति) बताता है किन्तु उनके नामोल्लेख न करके इन्हीं दोनों—वैदर्भी और गौडी—को प्रधान मानता है। और वह भामह के विरुद्ध इन दोनों में स्पष्ट अन्तर भी दिखाता है। दण्डी ने अपने स्वीकृत 'श्लेप' आदि दशों गुणों का वैदर्भी रीति में होना बताया है। और वैदर्भी के विपरीत रचना हो, उसे दण्डी ने गौड़ीय रीति बताया है। (काव्याद० १।४२)। वामन ने वैदर्भी, गौड़ी, और पाञ्चाली यह तीन रीति मानी है। और वैदर्भी में अपने स्वीकृत दशों गुणों की, गौड़ीय में ओज और कान्ति गुणो की और पाञ्चाली में माधुर्य एवं सौकुमार्य गुणों की स्थिति होना बताया है। रुद्रट ने अग्निपुराण

के अनुसार वैदर्भी, गौड़ीय, पाञ्चाली और लाटी यह चार रीति मानी है (काव्यालं० २ ४, ५) । राजशेखर वामन के अनुसार तीन रीति बताता है (काव्यमी० पृ० ८, ६) और वाग्भट्ट भी वामन का ही अनुसरण करता है । भोजराज ने ६ रीति निरूपण की हैं जिनमें वामन की तीन—वैदर्भी, गौड़ीय एवं पाञ्चाली और रुद्रट की स्वीकृत लाटी के अतिरिक्त आवन्ती और मागधी यह दो अधिक निरूपण की हैं । आचार्य उद्भट और मम्मट ने रीतियों के स्थान पर उपनागरिका, परुषा और कोमला* यह तीन वृत्ति लिखी हैं ।

रीतियों के नाम

रीतियों के वैदर्भी आदि जो नाम हैं, वे विदर्भ आदि प्रान्तों के कवियों द्वारा की गई काव्य में जिस प्रकार की रचना-शैली उपलब्ध हुई उसी के अनुसार रीतियों के नाम प्रान्तीय रचना-शैली के सूचक हैं । यह बात दण्डी के उल्लेख द्वारा भी ज्ञात होती है और वामन ने तो—

'विदर्भादिषु दृष्टत्वात् तत्समाख्या' ।

इस सूत्र की—

'विदर्भगौड़पाञ्चालेषु तत्रत्यैः कविभिर्यथा-
स्वरूपमुपलब्धत्वात् तत्समाख्या ।'

इस वृत्ति में स्पष्ट कहा है । अतएव विदर्भ (वराड) प्रान्त से वैदर्भी, गौड़ पूर्वीय प्रान्त से गौड़ीय, पाञ्चाल (पंजाब) से पाञ्चाली, लाट (गुजरात) प्रान्त से लाटी, अवन्ती (मालव) प्रान्त से आवन्ती और मगध प्रान्त से 'मागधी' यह प्रांतीय सम्बन्ध सूचक नाम हैं । जिस 'रीति' को वामन व्यापक रूप में काव्य का आत्मा बताता है, उस (रीति) को स्वयं वामन केवल प्रान्तीय रचना-शैली

---

*मम्मट आदि ने माधुर्य गुण व्यञ्जक वर्णों की रचना को उपनागरिका, ओज गुण व्यंजक वर्णों की रचना को परुषा और इन दोनों में प्रयुक्त वर्णों के अतिरिक्त वर्णों को रचना को कोमला या ग्राम्या वृत्ति की संज्ञा प्रदान की है ।

बतलाता है। प्रान्तीय-रचना-शैली को काव्य में इतना महत्व दिया जाना कहाँ तक युक्ति-युक्त है, यह अवश्य ही विचारणीय है। फिर रचना शैली के साथ विशेष प्रान्त का सम्बन्ध नियत भी नहीं है। महाकवि कालिदास और दण्डी विदर्भ प्रान्त के होते हुए भी उनकी रचना में वैदर्भी रीति का साम्राज्य है। अतएव रचनाशैली का सम्बन्ध किसी प्रान्त के साथ न रख कर इनके 'उपनागरिका' आदि नाम ही रचनाशैली के अनुसार उपयुक्त हैं, जैसा कि उद्भट और मम्मट ने लिखा है।

वामन के रीति-सिद्धान्त का खण्डन

यद्यपि गुण और रीतियों का निरूपण अग्निपुराण के समय से ही देखा जाता है; किन्तु रीति सम्प्रदाय का प्रधान प्रतिनिधि वामन ही है, क्योंकि वामन ने 'रीति' को काव्य में बड़ा उच्च स्थान प्रदान किया है। वामन काव्य का जीवनाधार 'रीति' को ही बतलाता है—'रीतिरात्मा काव्यस्य।' (काव्यालं० सू० १।२।६) किन्तु वामन का यह मत सर्वथा अग्राह्य है। प्रथम तो इस मत की आलोचना ध्वनिकार ने ध्वन्यालोक (३।५२) में की है। इसके बाद आचार्य मम्मट ने वामन के इस मत की बड़ी सारगर्भित यह आलोचना की है कि 'यदि गुण (या रीति) को ही काव्य का आत्मा मानते हो अर्थात् एक मात्र रीति पर ही काव्यत्व निर्भर बताते हो तो प्रश्न होता है कि तुम सारे गुण जिस रचना में हों उसे काव्य मानते हो या कुछ गुणों के होने पर ही ? यदि सारे गुणों के होने पर ही काव्यत्व मानते हो तो गौड़ीय और पाञ्चाली रीति में तो दो दो गुण ही तुम स्वीकार करते हो, वहां काव्यत्व न होगा, यदि कुछ गुणों के होने पर ही काव्यत्व स्वीकार करते हो तो जिस रचना में केवल 'ओज' आदि गुण ही हों—रसादि न हों, उसको भी तुम्हारे मत में काव्य माना जाना चाहिये, जैसे—'इस पर्वत पर बड़ी भारी अग्नि प्रज्वलित हो रही है और यह बहुत ही धुआँ निकल रहा है' इस वाक्य की यदि—

'अद्रावत्रप्रज्वलत्यग्निरुच्चैः प्राज्यः प्रोद्यन्नुल्लसत्येषधूमः'।

इस प्रकार रचना की जाय तो इसमें ओज गुण तो तुमको स्वीकार करना ही पड़ेगा क्योंकि इसमें गाढ़ रचना है। अतः इसे भी काव्य माना जाना चाहिये क्योंकि जिस गुण को तुम काव्य का आत्मा मानते हो वह (ओज गुण) यहाँ है ही। किन्तु हम पूछते हैं कि ऐसी रचना को कौन सहृदय काव्य स्वीकार कर सकता है?'

अतएव मम्मटाचार्य के इस विवेचन द्वारा सिद्ध है कि गुण या रीति, काव्य का आत्मा नहीं माना जा सकता क्योंकि इन पर काव्यत्व निर्भर नहीं। हाँ, यह बात आचार्य मम्मट ने भी अवश्य स्वीकार की है कि काव्य में गुणों का महत्त्व अलङ्कारों की अपेक्षा अधिक है, जैसा कि पहिले काव्यप्रकाश के गुणों के लक्षण की स्पष्टता में दिखाया गया है।

यद्यपि राजशेखर के 'इति वामनीयाः' (काव्यमी० पृ० १४,२०) इत्यादि वाक्यों द्वारा विदित होता है कि वामन के मतानुयायी कुछ अन्य विद्वान् भी थे। किन्तु उपलब्ध ग्रन्थों में 'अभिधावृत्ति-मातृका' का लेखक एक मुकुल भट्ट ही—जो मम्मट के पूर्व ईसा की दशवीं शताब्दी में हुआ है*—ऐसा है, जिसका परिचय वामन के रीति सिद्धान्त के परिपोषक रूप में हमको वामन के काव्यालङ्कार सूत्र के व्याख्याकार सहदेव के—

"वेदिना सर्वशास्त्राणां भट्टोभून्मुकुलाभिधः,
लब्ध्वा कुतश्चिदादर्शं भ्रष्टाम्नायं समुद्धृतम्।
काव्यालङ्कारशास्त्रं यत्तेनैतद्वामनोदितम्,
असूया तत्र कर्तव्या विशेषालोकिभिः क्वचित्॥"

* देखो इस ग्रन्थ का प्रथम भाग मुकुल भट्ट के विषय का उल्लेख पृ० १८२।

इन वाक्यों द्वारा मिलता है। फिर भी यह बात तो सहदेव के इस उल्लेख द्वारा भी स्पष्ट है कि वामन का रीति सिद्धान्त प्रारम्भा-वस्था में ही शिथिल हो चला था। यदि वामन के मतानुयायी कुछ विद्वान् थे भी तो वे आचार्य मम्मट के पूर्वकालीन ही थे। वानम का रीति सिद्धान्त आचार्य मम्मट की उपर्युक्त आलोचना द्वारा लुप्त प्राय हो गया। क्योंकि मम्मट के बाद वामन के इस सिद्धान्त को मानने वाला हमारे परिचित सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों में कोई भी दृष्टिगत नहीं होता है।

———

वक्रोक्ति सम्प्रदाय (School)

वक्रोक्ति का प्रयोग विभिन्न साहित्याचार्यों और महाकवियों द्वारा भिन्न-भिन्न अर्थ में किया गया है। भामह ने वक्रोक्ति का लक्षण यद्यपि स्वतन्त्र नहीं लिखा है। पर भामह के वाक्यों द्वारा स्पष्ट है कि वह वक्रोक्ति को कोई एक विशेष अलङ्कार नहीं, किन्तु व्यापक रूप में वाक्य का भूषण अथवा अलङ्कार बतलाता है। और काव्य का वक्रोक्ति-गर्भित होना परमावश्यक भी बतलाता है—

'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः।'

—काव्यालङ्कार १।३६

'वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते।'

—काव्यालङ्कार ५।६६

इसके अतिरिक्त 'अतिशयोक्ति' अलङ्कार के प्रकरण में भामह ने वक्रोक्ति की और भी स्पष्टता कर दी है। अतिशयोक्ति संज्ञा के एक विशेष अलङ्कार के लक्षण में प्रथम भामह ने—

'निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया यथा'॥

—का० लं० २ ८१

इस प्रकार लोकातिक्रान्त अर्थात् अलौकिक वर्णन को अतिशयोक्ति नाम का अलङ्कार बता कर फिर कहा है—

'सर्वैवातिशयोक्तिस्तु तर्कयेत् तां यथागमम्॥
सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना'॥

—का० लं० २।८४, ८५

इसमें जिस लोकातिक्रान्त वर्णन को भामह ने अतिशयोक्ति बताया है, उसी को वह—'सैषा सर्वत्र वक्रोक्ति' इन वाक्यों से 'वक्रोक्ति' बताता है*। और वक्रोक्ति को वह यहां तक महत्त्व देता है कि इसके बिना किसी अलङ्कार को अलङ्कारता ही प्राप्त नहीं हो सकती। भामह की इस कारिका (२।८५) को ध्वन्यालोक की वृत्ति में उद्धृत करके श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने लिखा है—

'तत्रातिशयोक्तिर्यमलङ्कारमधितिष्ठति कविप्रतिभावशात्तस्य चारुत्वातिशययोगोऽन्यस्यत्वलङ्कारमात्रतैवेति सर्वालङ्कारशरीरस्वीकरणयोग्यत्वेनाभेदोपचारात्सैव सर्वालङ्काररूपेत्ययमेवार्थोऽवगन्तव्यः'।

—ध्वन्या० पृ० २०८

इस अवतरण की व्याख्या में श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य ने (ध्वन्या० लो० पृ० २०८) भामह की उपर्युक्त १।३६ की कारिका उद्धृत करके 'वक्रोक्ति' शब्द से भामह द्वारा सम्पूर्ण अलङ्कारों का सामान्यतया निर्देश किया जाना एवं अलङ्कारों में लोकोत्तर-अतिशय वर्णन की आवश्यकता बताया जाना, स्पष्ट किया है। अतएव स्पष्ट है कि भामह ने वक्रोक्ति का अतिशय उक्ति अर्थात लोकोत्तर चमत्कारक वर्णन के अर्थ में प्रयोग किया है और वह वक्रोक्ति को अलङ्कारों का परमावश्यकीय मूल-तत्त्व बतलाता है।

भामह के बाद दण्डी भी भामह के इस मत से पूर्णतः सहमत दृष्टि-गत होता है। दण्डी ने अतिशयोक्ति अलङ्कार के—

'विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्त्तिनी।
असावतिशयोक्तिः स्यादलङ्कारोत्तमा यथा'।

—काव्यादर्श २।२१४

*भामह ने 'वक्रोक्ति' और 'अतिशयोक्ति' का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है—'एव चात्रातिशयोक्तिरिति वक्रोक्तिरिति पर्याय इति वोध्यम्' (काव्यप्र० वालवोधिनी टीका पृ० ९०६)।

इस लक्षण में सर्वथा भामह का अनुसरण किया है—भामह ने 'लोकातिरिक्त-गोचर' लिखा है और दण्डी ने 'लोकसीमातिवर्तिनी'। इनमें केवल शब्द परिवर्तन मात्र है—अर्थ दोनों का ही समान है। यही नहीं, भामह जिस अतिशयोक्ति के अभाव में किसी भी अलङ्कार में अलङ्कारत्व नहीं स्वीकार करता है, दण्डी उसी अतिशयोक्ति को सम्पूर्ण अलङ्कार वर्ग का एक मात्र परम आश्रयस्थान बताता है—

अलङ्कारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्' ॥

का० द० २।२२०

इसके अतिरिक्त भामह जिस प्रकार वक्रोक्ति की संपूर्ण अलङ्कारों में व्यापकता बताता है और जिसका अलङ्कारों की सामान्य संज्ञा के लिये भी प्रयोग करता है। दण्डी भी—

'श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।'

—का० द० २।३६३

इस कारिका में 'वक्रोक्ति' का प्रयोग सामान्यतया सारे अलङ्कारों की संज्ञा के लिये करता है। इस कारिका की हृदयंगम टीका में भी यही व्यख्या की गई है—

'वक्रोतिशब्देन उपमादयः संकीर्णपर्यन्ता अलङ्कारा उच्यन्ते'।

अतः स्पष्ट है कि वक्रोक्ति के विषय में भामह और दण्डी दोनों का एक ही मत है।

ध्वन्यालोक-वृत्ति में श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने—

'यस्मिन्नस्ति न वस्तु किंचन मनः प्रह्लादि सालंकृति-
व्युत्पन्नै रचित च नैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत्' ॥

—ध्वन्या० पृ० ६

यह पद्य उद्धृत किया है। इस पद्य को श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य ने श्री आनन्द-वर्धनाचार्य के समकालीन मनोरथ का बताया है। इस पद्य की व्याख्या में श्री अभिनव ने वक्रोक्ति की यह स्पष्टता की है—

'वक्रोक्तिरुत्कृष्टा संघटना······वक्रोक्तिशून्यशब्देन सर्वालङ्काराभावश्च उक्तः'।

अतएव इस प्राचीन पद्य में भी वक्रोक्ति का प्रयोग भामह और दण्डी के मतानुसार ही किया गया है।

उपर्युक्त प्राचीन साहित्याचार्यों के अतिरिक्त प्राचीन महाकवियों के काव्यों में भी 'वक्रोक्ति' का प्रयोग किया गया है। उनमें वक्रोक्ति का प्रयोग एक विशेष प्रकार के उक्ति-वैचित्र्य के अर्थ में देखा जाता है। वहाँ अलङ्कारों के साथ इसका स्पष्टतया कुछ सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता है। जैसे कविराज* ने—

'सुबन्धुर्बाणभट्टश्च कविराज इतित्रयः।
वक्रोक्तिमार्गनिपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वा'॥

—राघवपाण्डवीय १।४१

इसमें वक्रोक्ति के प्रशंसनीय निपुण कवि सुबन्धु, बाण भट्ट और स्वयं अपने को (कविराज को) बताया है। संभवतः इसमें चमत्कारात्मक विचित्र-रचना के लिये ही 'वक्रोक्ति' का प्रयोग है। महाकवि बाण भट्ट के—

'वक्रोक्तिनिपुणेनाख्यायिकाख्यानपरिचयचतुरेण'।

—कादम्बरी पृ० १०६ निर्णयसा० संस्क०

इत्यादि वाक्यों में वक्रोक्ति का प्रयोग क्रीड़ालाप और चातुर्यगर्भित उक्ति के लिये किया गया है। इसी प्रकार अमरुकशतक के—

---

* कविराज का समय ईसा की ८ वीं शताब्दी के लगभग माना गया है। देखो मि० मेकडानल कृत संस्कृत साहित्य के इतिहास का गुजराती अनुवाद पृ० ४२२

'सा पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं विना
नो जानाति सविभ्रमाङ्गवलनावक्रोक्तिसंसूचनम्।'

इस पद्य में संभवतः वक्रोक्ति का प्रयोग वक्र-उक्ति अर्थात् कुछ व्यंग्यगर्भित उक्ति के अर्थ में प्रतीत होता है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि भामह, दण्डी, श्री आनन्दवर्धनाचार्य और अभिनवगुप्तपदाचार्य आदि का वक्रोक्ति के विषय में एक ही मत है अर्थात् वे वक्रोक्ति को सारे अलङ्कारों का मूल-तत्त्व बतलाते हैं। और उपर्युक्त सुबन्धु, बाण, कविराज और अमरुक आदि महाकवियों द्वारा वक्रोक्ति का प्रयोग सामान्यतया अलङ्कार संज्ञा के लिये नहीं किन्तु चातुर्य युक्त या व्यङ्गय-गर्भ विचित्र उक्ति के लिये किया गया है।

अच्छा, तीसरी श्रेणी के कुछ साहित्याचार्य वे हैं, जो भामह के सिद्धान्तानुसार वक्रोक्ति की सब अलङ्कारों में व्यापकता के विषय में तो मौन है—कुछ नहीं कहते हैं। किन्तु वक्रोक्ति को एक विशेष अलङ्कार बतलाते हैं। वक्रोक्ति नामक एक शब्दालङ्कार का सर्व प्रथम हमको अग्निपुराण में उल्लेख मिलता है—

'वक्रोक्तिस्तु भवेद्भङ्गया काकुस्तेनकृता द्विधा।
—अग्निपु० ३४२।३३

यद्यपि अग्निपुराण में इसकी स्पष्टता उदाहरण देकर नहीं की गई है, किन्तु भोजराज द्वारा सरस्वतीकण्ठाभरण में—जिसमें प्रायः अग्नि-पुराण का अनुसरण किया गया है, जो उदाहरण दिखलाये गये हैं, वे अग्निपुराण के मतानुसार है। और वहां एक उदाहरण—'किं गौर मां प्रति रुषा' इत्यादि पद्य रुद्रट का भी लिया गया है। रुद्रट ने वक्रोक्ति के विषय में पूर्णतः अग्निपुराण का अनुसरण करते हुए वक्रोक्ति को शब्दालङ्कारों का एक विशेष भेद निरूपण किया है। और भोज ने वक्रोक्ति के श्लेष-वक्रोक्ति एवं काकु-वक्रोक्ति यह दो भेद भी अग्निपुराण

के अनुसार दिखलाये हैं। भोजराज और रुद्रट ने वक्रोक्ति के यौगिक अर्थ के अनुसार ही वक्रोक्ति का लक्षण लिखकर उदाहरण प्रदर्शित किये हैं। भामह और दण्डी ने वक्रोक्ति को लोकातिरिक्त वर्णनात्मक बतला कर जिसे सारे अलंकारों का प्राण-भूत व्यापक तत्व बताया था, रुद्रट ने अग्निपुराण के अनुसार उसका यौगिक अर्थ—बांकी या टेढी उक्ति अर्थात् 'वक्ता जिस अभिप्राय से वाक्य कहे उसका अन्य द्वारा अन्यार्थ कल्पना करके उत्तर दिया जाय' यह अर्थ-ग्रहण करके वक्रोक्ति को एक विशेष अलंकार में मर्यादित कर दी है। और रुद्रट के पश्चात् आचार्य मम्मट ने भी रुद्रट के अनुसार वक्रोक्ति को एक शब्दालंकार स्वीकार किया है। यही नहीं रुद्रट और मम्मट ने शब्दालंकारों में सबसे प्रथम वक्रोक्ति को ही लिख कर प्राधान्य दिया है, जिस प्रकार अर्थालंकारों में सर्व प्रधान उपमा को सर्व प्रथम स्थान दिया जाता है। यद्यपि मम्मट ने भामह के वक्रोक्ति विषयक व्यापक सिद्धान्त को भी मान्य किया है*। अर्थात् मम्मट ने वक्रोक्ति का उक्ति-वैचित्र्य अर्थ ग्रहण करके भामह के मतानुसार वक्रोक्ति की सभी अलंकारों में व्यापकता भी स्वीकार की है और वक्रोक्ति का टेढ़ी उक्ति अर्थ ग्रहण करके रुद्रट के मतानुसार उसे एक विशेष अलङ्कार भी स्वीकार किया है। मम्मट का वक्रोक्ति-विषयक विवेचन उसी प्रकार का है जिस प्रकार भामह और दण्डी ने अतिशयोक्ति नाम का एक विशेष अलङ्कार भी माना है।

यद्यपि अग्निपुराण के पश्चात् वक्रोक्ति का एक विशेष अलंकार के रूप में सर्व प्रथम निरूपक रुद्रट ही नहीं है, रुद्रट के प्रथम वामन ने भी वक्रोक्ति को अर्थालंकारों में एक विशेष अलंकार निरूपण किया है। किंतु वामन ने वक्रोक्ति अलकार का 'सादृश्यालक्षणा वक्रोक्तिः।' (का० लं० सू० ४।३।८) यह लक्षण लिखकर उसके उदाहरण—

'उन्मिमील कमलं सरसीनां कैरवंच निमिमील मूहूर्त्तात्।'

* देखिये काव्यप्रकाश विशेषालङ्कार प्रकरण।

इत्यादि उदाहरण दिये हैं। अर्थात् वामन ने सादृश्यलक्षणा (इसके व्याख्याकार गोपेन्द्रत्रिपुरहर भूपाल के अनुसार साध्यवसाना लक्षणा*) को वक्रोक्ति अलंकार बताया है जिसको मम्मट आदि ने अतिशयोक्ति अलंकार का एक भेद माना है। वामन का वक्रोक्ति विषयक यह विवेचन भामह और रुद्रटादि सभी से भिन्न है। किंतु रुद्रट और मम्मट के परवर्ती दोनों वाग्भट्ट, हेमचंद्र, जयदेव और विश्वनाथ आदि सभी सुप्रसिद्ध आचार्यों ने वक्रोक्ति को रुद्रट के मतानुसार ही एक विशेष अलंकार निरूपण किया है। रुय्यक भी मम्मट के अनुसार वक्रोक्ति को एक विशेष अलंकार निरूपित करता हुआ भामह के सिद्धांत को भी स्वीकार करता है और लिखता है—

'वक्रोक्तिशब्दश्चालंकारसामान्यवचनोऽपीहालंकारविशेषे संज्ञितः

—अलंकारसर्वस्व पृ० १७७ काव्यमाला

रुय्यक के स्वीकृत वक्रोक्ति अलंकार की स्पष्टता में विमर्षिणीकार ने कहा है—

'वाक्छलात्मकत्वेनोक्तेः कौटिल्यात्।'

—अलंकारस० पृ० १७७

अर्थात् विमर्षिणीकार वक्रोक्ति का अर्थ वाक्-छलात्मक उक्ति का कौटिल्य बताता है। संभवतः उपर्युक्त अमरुक के पद्य में भी वक्रोक्ति का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है।

इनके सिवा हरविजय नामक प्रसिद्ध महाकाव्य के प्रणेता सुप्रसिद्ध महाकवि रत्नाकर ने—जो नवीं शताब्दी के अंतिम चरण में हुआ है—वक्रोक्तिपञ्चाशिका लिखी है, जिसमें भगवान् श्री शंकर और गिरिजा की परस्पर परिहासोक्ति में वक्ता के अभिप्राय को अन्यार्थ में कल्पना करके उत्तर प्रति उत्तर है, जैसा कि रुद्रट द्वारा स्वीकृत वक्रोक्ति अलंकार के उदाहरणों में दृष्टिगत होता है।

---

* साध्यवसाना लक्षणा में विषय (उपमेय आदि) का निगीर्ण होकर केवल विषयी (उपमान आदि) का ही कथन होता है।

ऊपर के विवेचन द्वारा स्पष्ट है कि अग्निपुराण से आदि लेकर भामहादि सभी सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों एवं महाकवियों द्वारा वक्रोक्ति की सीमा लोकोत्तर चमत्कार वर्णनात्मक उक्ति-वैचित्र्य या वाक्छलात्मक उक्ति अथवा यों कहिये अलङ्कार सम्प्रदाय के अन्तर्गत ही सीमा-बद्ध कर दी गई थी। वामन भी वक्रोक्ति को एक अलङ्कार ही स्वीकार करता है यद्यपि वामन का बताया हुआ वक्रोक्ति का लक्षण रुद्रट से भिन्न है।

वक्रोक्ति और कुन्तल

राजानक कुन्तल (या कुन्तक) ने अपने 'वक्रोक्ति जीवित' ग्रन्थ में वक्रोक्ति का एकबार ही रूप परिवर्तन कर दिया अथवा यों कहना उपयुक्त होगा कि उसने वक्रोक्ति को काव्य में सर्वोपरि स्थान पर स्थित करने का महान् प्रयत्न किया। यद्यपि जिस लोकोत्तर वर्णन के व्यापक उक्ति वैचित्र्य के अर्थ में भामहादिक ने वक्रोक्ति का प्रायोग किया था, उसी अर्थ में कुन्तक ने भी वक्रोक्ति का प्रयोग किया है। कुन्तक ने वक्रोक्ति की परिभाषा में यही कहा है—

'लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये ।
वक्रोक्तिरेववैदग्ध्यभङ्गी भणितिरुच्यते' ॥

वक्रोक्तिजी० १।१०

इसकी व्याख्या में वह स्वयं कहता है—

'वैदग्ध्यं विदग्धभावः कविकर्मकौशलं तस्यविच्छित्तिः तया भणितिः विचित्रैव अभिधा वक्रोक्तिः'।

वक्रोक्ति जीवित—पृ० २२

अर्थात् कवि की रचना चातुर्य से शोभित विचित्र उक्ति को वह वक्रोक्ति बताता है। श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने भी विच्छित्ति और वैचित्र्य का प्रयोग समानार्थ

में ही किया है। और इसी प्रकार अभिनवगुप्तपदाचार्य ने भी*। कुन्तक ने यह परिभाषा संभवतः राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी के—

'विदग्धभणिति भङ्गिनिवेद्य वस्तुनो रूपं न नियतस्वभावं'।

—काव्यमी० पृ० ४६

इस वाक्य के आधार पर निर्माण की है।

यद्यपि कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त का मूल-श्रोत भामह का वक्रोक्ति विषयक व्यापक सिद्धांत ही है। किन्तु भामह ने वक्रोक्ति की व्यापकता केवल सम्पूर्ण अलङ्कारों तक ही मर्यादित रक्खी थी। जो वक्रोक्ति के सामर्थ्य के अनुकूल थी। अतएव उस सिद्धान्त को उसके बाद के सुप्रसिद्ध सभी आचार्यों ने स्वीकार कर लिया। परन्तु कुन्तक ने अपने मूलाधार के बलाबल पर पूर्णतया विचार न करके उस पर एक असह्य भार का विशाल-भवन निर्माण कर दिया—उसने वक्रोक्ति को ही काव्य का एक मात्र जीवन-सर्वस्व सिद्ध करने की असंभव चेष्टा की, जैसा कि ऊपर दी हुई वक्रोक्ति की परिभाषा में वक्रोक्ति के आगे 'एव' के प्रयोग द्वारा स्पष्ट है। जयरथ ने इसकी स्पष्टता में कहा है—

'एवकारोऽन्यस्य काव्यजीवितत्वव्यवच्छेदकः। काव्यजीवितमिति काव्यस्यानुप्राणकम्। तां विना काव्यमेव न स्यादित्यर्थः'।

—अलं० सं० पृ० ८

और कुन्तल ने अपनी इस परिभाषा के अनुसार वक्रोक्ति के—

'कविव्यापारवक्रत्वप्रकाराः संभवन्ति षट्।
प्रत्येकं बहवो भेदास्तेषां विच्छित्तिशोभिनः'॥

—वक्रो० जी० १।१८ पृ० २६

इस प्रकार वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता, पदपरार्धवक्रता, वाक्यवक्रता, प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता आदि भेद बता कर, अनुप्रासादि शब्दालकारों को—

* देखिये ध्वन्यालोक व्याख्या पृ० ५,८।

'एतदेव वर्णविन्यासवक्रत्वं चिरंतनेष्वनुप्रास इति प्रसिद्धम्'
—वक्रोक्तिजी० पृ० ३०

'यमकं नाम कोप्यस्याः प्रकारः परिदृश्यते।
स तु शोभान्तराभावादिह नाति प्रतन्यते'॥
—वक्रोक्तिजी० २ ७ पृ० ८६

ऐसा कह कर वर्ण विन्यास वक्रता के अन्तर्गत और—

'वाक्यस्य वक्रभावोन्यो भिद्यते यः सहस्रधा।
यत्रालंकारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति'॥
वक्रोक्तिजी० १।२० पृ० ४०

इसके अनुसार उपमादि सब अर्थालंकारों को वाक्य-वक्रता के अंतर्गत बता दिया है। इसी प्रकार गुण और वृत्तियों का भी वक्रोक्ति में समावेश कर दिया है। केवल अलकार और गुण ही नहीं, रस, भाव और ध्वनि के संपूर्ण भेदोप-भेद काव्य के सभी विषय कुन्तक ने वक्रोक्ति के अन्तर्गत समावेश करके वक्रोक्ति की निर्मर्याद व्यापकता प्रतिपादन करने की पर्याप्त चेष्टा की है। कुन्तक द्वारा यह दुःसाहस प्रधानतया ध्वनि-सिद्धात को निर्मूल करने की लालसा से—ध्वनिकार के विपक्ष में उनके साथ स्पर्द्धा करके उनकी महान् प्रतिष्ठा अपने वक्रोति-सिद्धान्त द्वारा ग्रस लेने के लिए किया गया था। क्योंकि कुन्तक ने स्वयं ध्वनि को स्वी-कार किया है, किन्तु वह कहता है कि काव्य का जीवन व्यंग्यार्थ पर नहीं किंतु एक मात्र वक्रोक्ति पर ही अवलम्बित है, जो अभिधा का विचित्र वाच्यार्थ है—

'वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा'।
—वक्रोक्तिजी० पृ० २२

कुन्तक के मत के निष्कर्ष रूप में रुय्यक ने स्पष्ट यही कहा है—

'उपचारवक्रतादिभिः समस्तो ध्वनिप्रपञ्चः स्वीकृतएव केवलमुक्तिवैचित्र्यजीवितं काव्यं न व्यंग्यार्थजीवितमिति तदीयं दर्शनं व्यवस्थितम्'।

—अलं० सर्वस्व पृ० ८ त्रिवेंद्रम संस्क०

किन्तु कुन्तक के इस प्रयत्न का फल सर्वथा विपरीत हुआ—वक्रोक्ति सिद्धांत द्वारा ध्वनि सिद्धान्त कुछ भी विचलित न हो सका, किसी भी सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों ने कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धांत को स्वीकार नहीं किया, प्रत्युत कुंतक के इस मत की आलोचना में सभी सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों ने इसका निरादर किया है। प्रथम तो रुय्यक और रुय्यक के टीकाकार जयरथ ने (अल० सर्वस्व पृ० ८) और समुद्रबंध ने (अलं० सर्वस्व पृ० ८ त्रिवेन्द्र०) इस पर आक्षेप किया है। फिर विश्वनाथ ने भी निरादर किया है। अस्तु ऐसी परिस्थिति में हमारे विचार में कुंतक के वक्रोक्ति विषयक विवेचन को केवल विशेष सिद्धांत मात्र ही कहना उपयुक्त है, वस्तुतः देखा जाय तो भामह के प्रतिपादित वक्रोक्ति के व्यापक सिद्धांत के अन्तर्गत होने के कारण 'वक्रोक्ति' का अलंकार साम्प्रदाय में समावेश हो सकता है न कि स्वतंत्र संप्रदाय। क्योंकि संप्रदाय की उपाधि का अधिकार तो उसी अवस्था में प्राप्त हो सकता है, जब कि कोई भी सिद्धांत परंपरा रूप से स्वतंत्र प्रचलित हो जाय। किन्तु कुन्तक का वक्रोक्ति-सिद्धांत केवल उसके 'वक्रोक्तिजीवित' ग्रन्थ में ही नाम मात्र को शेष रह गया है।

ध्वनि सम्प्रदाय (School)

ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्व प्रथम ग्रन्थ रूप में अज्ञातनामा ध्वनिकार और श्री आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा (जो कि क्रमशः ध्वन्यालोक की कारिका और वृत्ति के प्रणेता हैं) किया गया है। यद्यपि उनके—

'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः'।

—ध्वन्या० १।१ पृ० २

इत्यादि वाक्यों द्वारा विदित होता है कि ध्वनिविषय का निरूपण इनके पूर्व भी विद्वानों द्वारा किया गया है; किन्तु उपर्युक्त कारिकांश की व्याख्या में अभिनव-गुप्तपादाचार्य के

'विनाऽपिविशिष्टपुस्तकेषु विवेचनादित्यभिप्रायः'।

—ध्वन्या० लो० पृ० ३

इस वाक्य द्वारा स्पष्ट है कि ध्वनि-सिद्धान्त का स्वतंत्र ग्रन्थ रूप में ध्वनिकार के प्रथम किसी भी आचार्य द्वारा प्रतिपादन नहीं किया गया था। अतएव ध्वनि-सिद्धान्त के प्रवर्तक ध्वनिकार और श्री आनन्दवर्धनाचार्य ही माने जा सकते हैं।

सबसे प्रथम यह स्पष्ट किया जाना आवश्यक है—

ध्वनि क्या पदार्थ है

संक्षिप्त में यह कह सकते हैं कि काव्य में वाच्य-अर्थ और लक्ष्य-अर्थ के अति-रिक्त एक तीसरा अर्थ—जिसकी व्यंग्यार्थ संज्ञा है, वह-व्यंग्यार्थ जहाँ वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) की अपेक्षा प्रधान होता है उसी काव्य को ध्वनि कहते हैं। वाचक और लक्षक शब्द एवं इनका वाच्यार्थ (या मुख्यार्थ) और लक्ष्यार्थ तथा इनको बोध कराने वाली अभिधा और लक्षणा शक्ति (या वृत्ति) का तो न्याय और वेदान्तादिक प्रायः सभी शास्त्रों में स्वीकार किया गया है। और व्याकरण शास्त्र में यद्यपि व्यञ्जक शब्द, व्यंग्यार्थ एवं व्यञ्जना शक्ति का भी स्वीकार किया गया

है, पर व्याकरण शब्द-प्रधान शास्त्र होने के कारण व्याकरण में व्यंग्यार्थ और व्यञ्जना वृत्ति को कोई विशेष महत्व नहीं दिया गया है; किन्तु ध्वनिकारों ने काव्य में व्यञ्जक-शब्द और उसका व्यङ्ग्य अर्थ एवं उसको बोध कराने वाली व्यञ्जना शक्ति को परमावश्यक बतला कर व्यञ्जना का प्राधान्य स्थापन किया है। क्योंकि काव्य में मुख्य पदार्थ रस है, और रस की विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि भावों द्वारा ही अभिव्यक्ति होती है-जैसा कि 'रस' संप्रदाय के अन्तर्गत स्पष्ट किया गया है—किन्तु वह अभिव्यक्ति वाच्यार्थ * और लक्ष्यार्थ ‡ द्वारा नहीं हो सकती। क्योंकि रस और भाव आदि न तो शब्द द्वारा उनके नाम कहने मात्र से ही अभिव्यक्त हो सकते हैं, और न उन नामों के वाच्यार्थ समझने मात्र से ही। यदि शृङ्गारादि रसों के नाम कह देने मात्र से वे—शृङ्गारादि रस—अभिव्यक्त हो सकते तो उनके नाम मात्र के सुनने से ही आनन्द प्राप्त हो सकता था, किन्तु प्रत्यक्ष है कि शृङ्गार-शृङ्गार चाहे हजार बार पुकारा जाय, किसी को कुछ आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता है, इसी से ध्वनिकारों ने कहा है—

* वाच्यार्थ वह होता है, जिसका शब्द के सुनने मात्र से सरलता से बोध हो जाता है। इसको मुख्यार्थ, अभिधेयार्थ भी कहते हैं।

‡ 'लक्ष्यार्थ' होता है, वह वाच्यार्थ की तरह के शब्द के पढ़ने मात्र से उपस्थित नहीं हो सकता किन्तु जब मुख्यार्थ का बाध अर्थात् जब मुख्यार्थ असंभव हो या मुख्यार्थ द्वारा वक्ता का अभिप्राय न निकलता हो, तब रूढ़ या प्रयोजन के कारण वह (लक्ष्यार्थ) ग्रहण किया जाता है। और लक्ष्यार्थ वही ग्रहण किया जा सकता है; जिसका मुख्यार्थ के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध हो। जैसे 'गङ्गायां घोषः'-'गङ्गा में घोष'। इसका मुख्यार्थ तो गङ्गाजी की धारा में घोष का होना असंभव है, इसलिये यहां इस मुख्य अर्थ का बाध है, अतएव यहां 'गङ्गा' शब्द के 'प्रवाह' अर्थ का बाध होने के कारण 'गङ्गाजी का तट' यह लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है, क्योंकि तट पर ही घोष का होना संभव है। और 'तट' रूप लक्ष्यार्थ का 'प्रवाह' रूप मुख्यार्थ के साथ सामीप्य (प्रवाह के

'नहि केवल शृङ्गारादिशब्दमात्रभाजि विभावादि प्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्वप्रतीतिरस्ति'।

—ध्वन्या० पृ० २५

इसी प्रकार शृङ्गार आदि शब्दों के वाच्यार्थ के ज्ञान द्वारा भी कुछ आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। अतएव सिद्ध है कि वाचक शब्द या अभिधा शक्ति के व्यापार वाच्यार्थ द्वारा रस की प्रतीति नहीं हो सकती, और न लक्ष्यार्थ द्वारा ही, क्योंकि लक्ष्यार्थ तो तभी उपस्थित हो सकता है, जब मुख्यार्थ का बाध अर्थात् तात्पर्य की अनुपपत्ति भी हो। किंतु रस की प्रतीति में मुख्यार्थ का बाध अर्थात् तात्पर्य की अनुपपत्ति भी नहीं अतः रस की प्रतीति लक्षणा के व्यापार लक्ष्यार्थ द्वारा भी नहीं हो सकती। निष्कर्ष यह है कि रसादि की प्रतीति जिसके द्वारा हो सकती है, वह अभिधा के वाच्यार्थ और लक्षणा के लक्ष्यार्थ से भिन्न कोई अन्य ही अर्थ है। और वह व्यञ्जना-वृत्तिके व्यंग्यार्थ के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ नहीं हो सकता।

समीप होना) संबन्ध है। और प्रयोजन यहां यह है अर्थात् ऐसा प्रयोग इस लिये किया गया है कि वक्ता को अपने निवास स्थान की पवित्रता और शीतलता का आधिक्य सूचन करना अभीष्ट है। क्योंकि जैसी शीतलता और पवित्रता 'गङ्गा' कहने से सूचित होती है, वैसी 'तट' कहने से सूचित नहीं हो सकती। बस यहां जो यह प्रयोजन बतलाया गया है, वही व्यंग्यार्थ है। यह व्यंग्यर्थ अर्थात् 'पवित्रता और शीतलता का आधिक्य सूचन करना' न तो वाक्यार्थ द्वारा ही बोध हो सकता है और न लक्ष्यार्थ द्वारा जाना जा सकना है किन्तु वह केवल व्यञ्जना वृत्ति द्वारा ध्वनित होता है अतः वह व्यंग्यार्थ कहा जाता है। इसकी अधिक स्पष्टता हमने काव्यकल्पद्रुम के तृतीय संस्करण के प्रथम भाग रसमञ्जरी में की है।

व्यञ्जना का शब्दार्थ

व्यंग्यार्थ को बोध कराने वाली शक्ति को व्यञ्जना इसलिये कहते हैं, कि 'अञ्जन' शब्द के 'वि' उपसर्ग लगाने से 'व्यञ्जन' बनता है। जिस प्रकार नेत्रों के लगाने का अञ्जन अस्फुट (अप्रकट) वस्तु को स्फुट (प्रकट) करता है, उसी प्रकार यह व्यञ्जना (एक प्रकार का विशेष अञ्जन) है, यह अभिधा और लक्षणा द्वारा बोध नहीं होने वाले अस्फुट अर्थ व्यंग्यार्थ का बोध कराने वाली शक्ति है*। बस, इसलिये ध्वनिकारों ने व्यंग्यार्थ और व्यञ्जना-वृत्ति का काव्य में स्वीकार किया जाना आवश्यक बतलाया है।

काव्य में सारभूत आनन्द-प्रद पदार्थ रस ही है अतएव रस को अभिव्यक्त करने वाले व्यंग्यार्थ को ही ध्वनिकारों ने सर्वोच्च स्थान दिया जाना उचित समझा और ऐसा ही समझा जाना उचित भी था। यद्यपि भरत-सूत्र के व्याख्याकार भट्ट नायक ने रस की निष्पत्ति 'भावना' और भोग व्यापार द्वारा बतलाई है, किन्तु भावना और भोग का अन्ततोगत्वा ध्वनि-सिद्धान्त में ही समावेश हो जाता है। भट्ट नायक के मत की आलोचना में श्री अभिनवगुप्तपदाचार्य ने

भोगीकरणव्यापारश्च..........भावकत्वमपि.....इति त्र्यंशायामपि भावनायां कारणांशे ध्वननमेव निपतति। भोगोपि......लोकोत्तरोध्वननव्यापार एव मूर्धाभिषिक्तः'

—ध्वन्या० लोचन पृ० ७०

---

* शब्द के अर्थ को बोध कराने वाली शक्ति को 'वृत्ति' कहते हैं। कारण जिसके द्वारा कार्य करता है वह 'व्यापार' कहा जाता है—जैसे घट के बनाने में मिट्टी, कुम्हार, दण्ड और चाक कारण है, घट कार्य है और 'भ्रमि' (चाक को मण्डलाकार फिराने की क्रिया) व्यापार है। इसी प्रकार 'शब्द' कारण है अर्थ का बोध कराया जाना कार्य है और अर्थ का बोध कराने वाली अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना व्यापार हैं।

व्यंग्यार्थ की प्रधानता प्रतिपादन करते हुए श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने स्पष्ट कहा है—

'व्यंग्यव्यञ्जकाभ्यामेव हि सुप्रयुक्ताभ्यां महाकवित्वलाभो महाकवीनाम् न वाच्यवाचकरचनामात्रेण'।

ध्वन्या० पृ० ३१

इस प्रकार व्यंग्यार्थ का महत्त्व प्रतिपादन करके उन्होंने व्यंग्यार्थ को ध्वनि संज्ञा इसलिये प्रदान की कि व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है—

यत्रार्थः शब्दो वा तमार्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ❀।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः' ॥

ध्वन्या० १।१३ पृ० ३३

व्यङ्ग्यार्थ भी कहीं तो वाच्यार्थ से प्रधान होता है और कहीं गौण अतः जहाँ वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ प्रधान होता है, वहाँ ही उसे 'ध्वनि' की संज्ञा प्राप्त हो सकती है—

'मुख्यतया प्रकाशमानो व्यंग्योऽर्थो ध्वनेरात्मा'।

ध्वन्या० पृ० ६४

बस, ध्वनि के स्वरूप की संक्षिप्त में यही स्पष्टता है

ध्वनि की व्यापकता

ध्वनि-सिद्धान्त ने साहित्य क्षेत्र में एक बार ही नवीन युग परिवर्तन कर दिया। इसके प्रथम काव्य में सर्वोच्च स्थान के विषय में रस, अलङ्कार, रीति (अथवा गुण) सम्प्रदायों में जो परस्पर संघर्षण हो रहा था—विभिन्न आचार्य

❀ जहाँ वाक्यार्थ और वाचक शब्द अपने अर्थों को गौण (अप्रधान) बना कर उस अर्थ को (व्यंग्यार्थ को) ध्वनित करते हैं वह ध्वनि है।

अपने-अपने सिद्धान्त की प्रधानता स्थापन करने की यथेष्ट चेष्टा कर रहे थे, किन्तु ध्वनि-सिद्धान्त ने अपने महत्व से उन सभी को पराभूत कर दिया। ध्वनिकारों ने ध्वनि के भिन्न-भिन्न भेद और उनके उपभेद विषय-क्रम से निरूपित करके अपने पूर्व के प्रचलित सभी सिद्धान्तों का ध्वनि-काव्य में समावेश करते हुए काव्य के विशाल क्षेत्र में एक मात्र ध्वनि का ही सर्वत्र सम्राज्य स्थापन कर दिया —अन्य-सिद्धान्तों को प्रायः माण्डलिक राजाओं के समान ध्वनि के आश्रित एवं परिमित सीमा-बद्ध बना दिया। उन्होंने अपने इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त का साम्राज्य किस प्रकार गम्भीर विवेचन के साथ स्थापन किया है, उसका भी संक्षिप्त दिक्‌दर्शन यहां कराया जाना हम आवश्यक समझते हैं।

ध्वनि की व्यापकता और उसके भेद

शब्द की अभिधा और लक्षणा जो पूर्व प्रचलित वृत्तियां थीं, उन्हीं के अनुसार ध्वनिकारों ने ध्वनि को प्रथम दो प्रधान भेदों में विभक्त किया है—अभिधा-मूला ध्वनि और लक्षणा-मूला-ध्वनि। अर्थात् विवक्षितअन्यपरवाच्य-ध्वनि, और अविवक्षित-वाच्य ध्वनि। इनमें लक्षणा-मूला-ध्वनि के अन्तर्गत, लक्षणा में जो प्रयोजन रूप चमत्कार रहता है उसे प्रत्यक्षतया अकाट्य युक्तियों द्वारा व्यङ्ग्यार्थ सिद्ध करके, उसका समावेश कर लिया और अभिधा-मूला ध्वनि के दो भेद निरूपण किये—एक असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि और दूसरा संलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि—

'स च वाच्यार्थापेक्षया कश्चिदलक्ष्यक्रमतया प्रकाशते, कश्चित् क्रमेणेति द्विधा मतः'।

ध्वन्या पृ० ६४

इन दोनों में पहिले भेद—

असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य-ध्वनि

में ऐसी काव्य-रचना का समावेश किया गया है जिसमें वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का पूर्वापर क्रम न जाना जाय। अर्थात् इस 'ध्वनि' के अन्तर्गत रस,

भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावशान्ति और भावशवलता आदि सभी रस-विषय का समावेश किया गया है—

'रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः।
ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः'।

—ध्वन्या० ३।३

रस विषय को असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य इसलिये माना गया कि विभावादि द्वारा जो रस की प्रतीति होती है, उसमें पूर्वापर का क्रम प्रतीत नहीं होता। यद्यपि प्रथम विभाव तदनन्तर अनुभाव एवं व्यभिचारियों की प्रतीति के बाद ही रस की प्रतीति होती है अतः पूर्वापर क्रम तो वहां भी है, पर रस के आनन्दानुभव में वह—पूर्वापर क्रम शतपत्र-पत्र-भेदन न्याय के अनुसार प्रतीत नहीं हो सकता अर्थात् जिस प्रकार कमल के एक सौ पत्तों पर सूई से छिद्र किये जाने पर, वे पत्ते यद्यपि क्रमशः—एक के बाद दूसरे—सूई से छेदन होते हैं, पर वह कार्य इतना शीघ्र होता है, जिससे उनका पूर्वापर क्रम जाना नहीं जा सकता इसी प्रकार रसास्वाद के समय भी विभावादि का क्रम प्रतीत नहीं हो सकता। यदि इसमें सर्वथा क्रम न होता तो यह अक्रम व्यङ्ग्य कहा जाता, न कि असलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य। असंलक्ष्यक्रम कहने का तात्पर्य ही यह है कि क्रम अच्छी प्रकार न जाना जाय। इस प्रकार ध्वनिकारों ने काव्य के सर्वोपरि आस्वादनीय पदार्थ रस विषय का तो अभिधा-मूला ध्वनि के प्रथम भेद असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य में समावेश कर दिया। और रीति-सिद्धान्त तो ध्वनि के अन्तर्गत स्वयं सिद्ध है, क्योंकि रीतियां गुणों पर निर्भर हैं और गुण रस के धर्म हैं और रस व्यंग्यार्थ हैं ही। इसीलिये ध्वनिकारों ने रीति-सिद्धान्त के प्रवर्तकों की आलोचना भी की है *। और दूसरे भेद—

* देखिये ध्वन्यालोक ३।५२, ५३ की कारिका और वृत्ति पृ० २३१।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि

में काव्य की ऐसी रचना का समावेश किया गया है जिसमें वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का पूर्वापर क्रम जाना जाय अर्थात् जहां वाच्यार्थ का प्रथम ज्ञान होने के बाद व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती हो, जैसे घडावल के वजने पर प्रथम जोर का टंकार होता है, फिर उसमें से झंकार निकलती है—मधुर-मधुर ध्वनि निकलती है, उसी प्रकार घडावल के टंकार के समान प्रथम वाच्यार्थ का बोध हो जाने के बाद व्यङ्ग्यार्थ की ध्वनि निकलती है। इस-संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के उन्होंने प्रधान दो भेद निरूपण किये हैं—अलङ्कार-ध्वनि और वस्तु-ध्वनि। अलङ्कार ध्वनि में अलङ्कारों का समावेश किया गया है। ध्वनिकारों ने अलङ्कारों की दो अवस्था स्पष्ट की है—एक तो वाच्यार्थ से बोध होने वाले अलङ्कार—जैसा कि ध्वनिकारों के पूर्ववर्ती भामहादिकों ने जिस स्वरूप में अलङ्कार प्रदर्शित किये हैं। और दूसरी अवस्था वह, जहां वाच्यार्थ में अलङ्कार बोध न होकर व्यङ्ग्यार्थ द्वारा ध्वनित होते हैं जैसे—

दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि।
तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे'॥

—रघुवंश

'दक्षिण दिशा में जाने पर (दक्षिणायन होने पर) सूर्य का भी तेज मन्द हो जाता है, किन्तु उसी (दक्षिण) दिशा में रघु का प्रताप पांड्य देश के राजाओं से न सहा गया'। इस पद्य के वाच्यार्थ में कोई अलङ्कार नहीं, किन्तु इस वाच्यार्थ के बोध होने के बाद इसमें यह ध्वनि निकलती है कि रघु का प्रताप सूर्य के ताप से भी अधिक है अतः यहां व्यतिरेक अलङ्कार ध्वनित होता है। इस प्रकार व्यंग्यार्थ द्वारा ध्वनित होने वाले अलङ्कारों को तो ध्वनि का विषय माना ही गया है। इसके सिवा ध्वनिकारों ने वाच्यार्थ-भूत अलङ्कारों का भी अधिक चमत्कार ध्वनि के आश्रित ही बतलाया है—

'वाच्यालङ्कारवर्गोऽयं व्यङ्ग्यांशानुगमे सति।
प्रायेणैव परां छायां बिभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते' ॥

—ध्वन्या० ३।३७ पृ० २०७

अच्छा, रस और अलङ्कारों के अतिरिक्त अब रहा ऐसा काव्य, जिसमें रस और अलङ्कार स्पष्टतया न हो, उसका ध्वनिकारों ने उपर्युक्त वस्तु ध्वनि में समावेश कर दिया है। निष्कर्ष यह है कि ध्वनि-कारों ने काव्य में सर्वत्र ध्वनि की व्यापकता सिद्ध कर दी है। उनके विषय प्रतिपादन से स्पष्ट है कि काव्य का न्यूनाधिक महत्त्व व्यङ्ग्यार्थ के न्यूनाधिक्य पर ही उनको स्वीकृत है। यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि यों तो प्रायः प्रत्येक वाक्य में किसी न किसी प्रकार का व्यग्यार्थ निकल सकता है, किन्तु सर्वत्र ध्वनि-काव्य नहीं कहा जा सकता, अभिनवगुप्तपादाचार्य ने कहा है—

'तेन सर्वत्रापि न ध्वननसद्भावेऽपि तथा व्यवहारः'।

—ध्वन्या० लोचन पृ० २८

किन्तु जिस व्यंग्यार्थ में वाच्यार्थ से अधिक चमत्कार हृदयग्राही हो वही ध्वनि-काव्य कहा जा सकता है। व्यग्यार्थ का अनुभव व्याकरणादि शास्त्रों के ज्ञान मात्र से नहीं हो सकता किन्तु उसका आनन्दानुभव काव्य-मर्मज्ञ सहृदय जन ही कर सकते हैं *। ध्वनिकारों ने सर्व प्रथम ध्वनि के उदाहरण में श्री महाल्मीकीय रामायण के—

'मां निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतोः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्' ॥

इस पद्य का निर्वाचन किया है। और इसमें जो व्यग्यात्मक करुण रस है, उसी को काव्य का सर्वस्व स्वीकार किया है—

* देखो ध्वन्यालोक कारिक १।७ पृ० २०।

'काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः'॥

—ध्वन्या० १।५

इस श्लोक का—'शोकः श्लोकत्वमागतः' यह अंश महाकवि कालिदास के—'श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः'। (रघुवंश १४।७०) इस वाक्य का संक्षिप्त रूप है। विदित होता है कि इस वाक्य द्वारा महाकवि कालिदास ने ध्वनि सिद्धान्त का मार्ग पहिले ही प्रदर्शित कर दिया था।

रस के अतिरिक्त ध्वनि के भेदों में उपर्युक्त वस्तु-ध्वनि और अलङ्कार-ध्वनि का भी अन्ततोगत्वा रस में ही पर्यवसान है *। यही क्यों श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने स्पष्ट कह दिया है कि श्रेष्ठ कवियों को रस से असंबद्ध कविता की रचना ही शोभा-प्रद नहीं † कहने का तात्पर्य यह है कि ध्वनिकारों ने ध्वनि-सिद्धान्त में रस को ही मुख्य स्वीकार किया है। ध्वनि सिद्धान्त का मूल-तत्व यद्यपि अधिकांश में रस पर अवलम्बित है किन्तु ध्वनि-सिद्धान्त का रस-सिद्धान्त में समावेश नहीं किया जा सकता, क्योंकि ध्वनि का विषय केवल रस ही नहीं किन्तु वस्तु और अलङ्कार ध्वनि भी है, जैसा कि ऊपर के विवेचन द्वारा स्पष्ट है।

यद्यपि यहां यह प्रश्न हो सकता है कि जब ध्वनिकारों ने काव्य का आत्मा ध्वनि को बताया है, तो फिर उन्होंने—

'प्रधानगुणभावाभ्यां व्यंग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
काव्ये उभे ततोऽन्यद्यत्तच्चित्रमभिधीयते'।

—ध्वन्यालोक ३।४२

इस कारिका में ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य के अतिरिक्त चित्र अर्थात् वाच्यार्थ रूप अलङ्कारों का एक तीसरा भेद क्यों स्वीकार किया? इसका समाधान यह है कि

* देखो ध्वन्या० पृ० २७।

† देखो ध्वन्या० पृ० २२१।

ध्वनिकारों को ध्वन्यात्मक काव्य के लिये ही मुख्यतया 'काव्यत्व का व्यवहार अभीष्ट है। उपर्युक्त कारिका की वृत्ति में स्पष्ट किया गया है कि वाच्यार्थ रूप अलङ्कारात्मक रचना का काव्य मुख्य नहीं। ध्वनिकारों का कहना है कि—

'रसभावादिविषयविवक्षा विरहे सति।
अलङ्कारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः'।

ध्वन्यालोक पृ० २२१

अर्थात् अलङ्कारात्मक रचना में भी रस आदि व्यङ्ग्यार्थ की स्थिति रहती है किन्तु ऐसी रचना में कवि का उद्देश्य रस आदि व्यङ्ग्यार्थ के चमत्कार पर नहीं रहता किन्तु वाच्यार्थ के अलङ्कारों का चमत्कार प्रदर्शित करना ही कवि को अभीष्ट होता है। अतएव अलङ्कारात्मक रचना में नीरसता केवल कल्पना मात्र है।

ध्वनि सिद्धान्त और आचार्य मम्मट

ध्वनिकार के स्वीकृत सभी सिद्धान्तों को उनके परवर्ती प्रायः सभी सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों ने मान्य किया है। ध्वनि-सिद्धान्त के प्रवर्तक सुप्रसिद्ध ध्वनिकार और आनन्दवर्धनाचार्य के बाद ध्वनिसम्प्रदाय के प्रधान प्रतिनिधि श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य, आचार्य मम्मट, हेमचंद्र, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ उल्लेखनीय हैं। इनमें भी मुख्यतया आचार्य मम्मट का स्थान सर्वोच्च है। यद्यपि मम्मट का ध्वनि-विषयक विवेचन ध्वन्यालोक और उसकी व्याख्या लोचन पर अवलम्बित अवश्य है, किन्तु काव्यप्रकाश की गवेषणा-पूर्ण विवेचन शैली ऐसी महत्वपूर्ण है, जो ध्वन्यालोक से भी किसी अंश में अधिक उपयोगी कही जा सकती है। ध्वनि-सिद्धान्त पर किये गये आक्षेपों का यदि काव्यप्रकाश में अकाट्य और प्रामाणिक युक्तियों द्वारा पर्याप्त खण्डन न किया जाता तो संभव था कि बाद के सुप्रसिद्ध साहित्याचार्य ध्वनि-सिद्धान्त से ऐसे प्रभावान्वित न हो

सकते, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि बाद के आचार्यों के ग्रन्थों में काव्य-प्रकाश का ही अनुसरण प्रायः दृष्टिगत होता है।

ध्वनि सिद्धान्त के विरोधियों का खण्डन

प्रायः विषय-विशेष के नवीन सिद्धान्तों के आविष्कार तो होते ही रहते हैं, पर वे कहां तक उपयुक्त और दृढ़-मूल हैं, इसका निर्णय तभी हो सकता है, जब वे परीक्षा की कसौटी पर कसे जाते हैं। कहा है—

'हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकाऽपि वा।'

अतएव ध्वनि-सिद्धान्त भी यदि परीक्षोत्तीर्ण न हुआ होता तो उसे एतादृश सर्व-मान्य प्रतिष्ठा कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। ध्वनिसिद्धान्त का इसके कट्टर विरोधियों के साथ घोर संघर्षण ही केवल नहीं हुआ, किन्तु विरोधी विद्वानों द्वारा इसका सर्वथा मूलोच्छेद करने के लिये इस पर बहुत से प्रखर कुठाराघात भी किये गये थे। जैसा कि विमर्शनीकार जयरथ ने—

"तात्पर्यशक्तिरभिधालक्षणानुमिती द्विधा।
अर्थापत्तिः क्वचित्तन्त्र समासोक्त्याद्यलङ्कृतिः॥
रसस्य कार्यता भोगो व्यापारन्तरबाधनम्।
द्वादशेत्थं ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतिपत्तयः"॥

—अलङ्कारसर्वस्व विमर्शनी टीका पृ० ९

यह उद्धरण देकर बताया है। प्रथम तो भट्ट नायक ने—उसी भट्ट नायक ने जिसका मत—

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।'

इस भरत सूत्र के चार व्याख्याकारों की तीसरी संख्या में काव्यप्रकाश में उद्धृत किया गया है—हृदयदर्पण ग्रन्थ में रस विषयक अपने मत के प्रतिपादन में ध्वनि-सिद्धान्त को विध्वंस करने की चेष्टा की है। यद्यपि हृदयदर्पण अप्राप्य है किन्तु ध्वन्यालोक पर श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य की लोचन व्याख्या में और हेम-

चन्द्र के काव्यानुशासन [1] एवं अलङ्कारसर्वस्व पर जयरथ कृत विमर्शनी [2] में भट्ट नायक के ध्वनि-विरोधी बहुत से उद्धरण हृदय-दर्पण से उद्धृत करके उनका खण्डन किया गया है जिनके द्वारा विदित होता है कि भट्ट नायक ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपक्षी था। भट्ट नायक ने रस-ध्वनि स्वीकार की है और वस्तु-ध्वनि का खण्डन किया है, लोचनकार श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य ने लिखा है—

'किं च वस्तुध्वनिं दूषयता रसध्वनिस्तदनुग्राहकःसमर्थ्यत इति सुष्टुतरां ध्वनिध्वंसोयम्।'

—ध्वन्यालोक लोचन पृ० २०

इस वाक्य के बाद लोचनकार ने भट्ट नायक पर मृदु-कटाक्ष करते हुए लिखा है—

'क्रोधोऽपिदेवस्य वरेणतुल्यः।'

—लोचन पृ० २०

भट्ट नायक के इस मत की श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य और मम्मट [3] आदि ने सयुक्तिक आलोचना करके उसके मत को निस्सार प्रमाणित कर दिया है।

भट्ट नायक के बाद उद्भटाचार्य के काव्यालङ्कारसारसंग्रह की व्याख्या में प्रतिहारेन्दुराज ने भी ध्वनि को अलङ्कारों के अन्तर्गत बता कर ध्वनि-सिद्धान्त पर आक्षेप किया है [4]। फिर राजानक कुन्तल ने तो वक्रोक्ति-जीवित में अपने वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रतिपादन में ध्वनि-सिद्धान्त को ग्रस लेने की पूर्णतः चेष्टा की है। जयरथ ने कुन्तल के मत [5] के निष्कर्ष में कहा है—

---

१ देखिये काव्यानुशाशन पृ० ६४-६६

२ देखिये अलङ्कारसर्वस्व की विमर्शनी पृ० ९-१२

३ मम्मट ने काव्यप्रकाश के पञ्चमोल्लास में ध्वनि—व्यञ्जना का प्रतिपादन करते हुए ध्वनि-सिद्धान्त के सभी विरोधियों के मत का खण्डन किया है किन्तु नामोल्लेख किसी का भी नहीं है।

४ देखिये काव्यालङ्कारसंग्रह भंडारकर पूना संस्करण पृ० ८४-९२

५ कुन्तक के मत पर अधिक विवेचन आगे वक्रोक्ति सम्प्रदायके अन्तर्गत

'उपचारवक्रतादीनामेव मध्ये ध्वनिरन्तर्भूतः सर्वोऽपि ध्वनिप्रपञ्चा वक्रोक्तिभिरेव स्वीकृतः ।'

—अलङ्कारसर्वस्व विमर्शनी पृ० ८

कुन्तक के बाद व्यक्ति-विवेककार महिम भट्ट ने अपने अनुमान सिद्धान्त में ही इसे समावेशित करने का दुःसाहस यहां तक किया है कि उसने भी व्यक्ति-विवेक नामक ग्रन्थ ही ध्वनि सिद्धान्त के विरुद्ध लिख डाला है। और उसमें उसने यह प्रतिज्ञा की है—

'अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेःप्रकाशयितुम् ।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमापरां वाचम् ' ॥

महिम भट्ट का मत यह है कि ध्वनि-सिद्धान्त का शिला-भवन जिस व्यञ्जना के मूलाधार पर निर्माण किया है, यह व्यञ्जना कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं, किन्तु पूर्व-सिद्ध 'अनुमान' ही है। अनुमान में साधन * से साध्य का † अनुमान किया जाता है। जैसे पर्वत पर धूँआ होने पर वहां अग्नि का अनुमान किया जाता है। उसमें पर्वत पर अग्नि होना सिद्ध करने में धूँआ ही साधन है अर्थात् कारण है। क्योंकि जहां धूँआ होता है, वहां अग्नि अवश्य होता है। महिम भट्ट कहता है कि इसी प्रकार जिसे 'व्यञ्जक' कहा जाता है (जिसके द्वारा व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति होना बताया जाता है) वह उसी प्रकार, व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति का कारण है, जिस प्रकार 'धूँआ' अग्नि के अनुमान का कारण है। और जिसे

किया गया है।

* साधन कहते हैं हेतु (या लिङ्गन) को अर्थात् जिसके द्वारा अनुमान सिद्ध होता है।

† साध्य (या लिङ्ग) उसे कहते हैं, जो अनुमान के ज्ञान का विषय हो अर्थात् जिसका अनुमान किया जाय !

'व्यङ्ग्यार्थ' कहा जाता है, वह उसी प्रकार अनुमान का विषय है, जिस प्रकार अग्नि। बस इसी युक्ति के आधार पर महिम भट्ट ने ध्वनिकार द्वारा प्रदर्शित ध्वनि के अनेक उदाहरणों में 'अनुमान' प्रतिपादन किया है। एक उदाहरण देखिये—

'भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदावरीकच्छनिकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन'।

एक कुलटा स्त्री का गोदावरी तट पर एकान्त कुञ्ज में संकेत स्थान था। वहा एक धार्मिक पुरुष पुष्प लेने को आया करता था। उसके वहां आने से कुलटा के संकेत में विघ्न होने के कारण, वह उस धार्मिक को तंग करने के लिये एक कुत्ता उसके पीछे लगा दिया करती थी, पर फिर भी उस धार्मिक व्यक्ति ने वहां आना न छोड़ा, तब उस कुलटा स्त्री ने उसको एक दिन उपर्युक्त पद्य मे यह कहा है कि—'हे धार्मिक, तू अब निर्भय हो कर यहां भ्रमण कर; क्योंकि जो कुत्ता तुझे तंग किया करता था, उस कुत्ते को आज गोदावरी तट के निकुञ्ज में रहने वाले सिंह ने मार डाला है'। इस पद्य के इस वाच्यार्थ में यदि सिंह द्वारा कुत्ते का मारा जाना बता कर उस कुलटा ने उस व्यक्ति को वहा पर निर्भय भ्रमण करने को कहा है। किन्तु इस पद्य के वाच्यार्थ से जो ध्वनि निकलती है उसके द्वारा उस धार्मिक को वहा भ्रमण करने का निषेध है। क्यों कि कुत्ते से डरने वाले उस धार्मिक को वह कुलटा वहां सिंह का होना कह रही है। इसलिये ध्वनिकार ने इस पद्य को अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य-ध्वनि के उदाहरण में लिखा है। महिम भट्ट कहता है कि यहा जिस वाच्यार्थ में धार्मिक को वहां निःशङ्क भ्रमण करने को कहा गया है, वही (वाच्यार्थ) वहां पर उस धार्मिक को भ्रमण न करने को कहने का 'हेतु' है। अर्थात् जिस 'भ्रमण के निषेध को' यहां व्यङ्ग्यार्थ कहा गया है, वह व्यञ्जना का व्यापार व्यङ्ग्यार्थ नहीं, किन्तु अनुमेय है अर्थात् उसका (भ्रमण के निषेध का) यहां वाच्यार्थ द्वारा अनुमान हो जाता है। जिस प्रकार पर्वत पर अग्नि का अनुमान करने का वहां

धूंआ होना कारण है, उसी. प्रकार यहाँ धार्मिक को भ्रमण के निषेध करने के अनुमान करने का वहाँ सिंह का होना कारण है। यह तो हुई महिम भट्ट की दलील। अब आचार्य मम्मट ने ऐसी दलीलों के खण्डन में जो सारगर्भित युक्तियाँ दी हैं, वह भी देखिये, आचार्य मम्मट कहते हैं कि इस पद्य में—'भ्रमण के निषेध' रूप अनुमान का हेतु जो वहां सिंह का होना बतलाया जाता है वह हेतु अनैकान्तिक है—व्यभिचारी है, किन्तु अनुमान का हेतु निश्चयात्मक होता है। जैसे पर्वत पर धूंआ का होना जो हेतु है, वह निश्चयात्मक है, क्योंकि जहां निश्चित रूप में धूआ होगा वहीं अग्नि होगी। किन्तु 'कुलटा स्त्री द्वारा उस स्थान पर सिंह का होना बताया जाना' यह हेतु उस धार्मिक मनुष्य के वहां भ्रमण न करने का निश्चयात्मक हेतु नहीं, क्योंकि गुरु या स्वामी की आज्ञा से या अपने प्रेमी के अनुराग से अथवा ऐसे ही अन्य किसी विशेष कारण से डरपोक मनुष्य भी भयवाले स्थान पर जा सकता है। अतएव यह हेतु नहीं, किन्तु हेतु का आभास है। इसके सिवा धार्मिक और वीर मनुष्य स्पर्शभय से कुत्ते से डरता हुआ भी वीरत्व के कारण सिंह से नहीं डरता है अतः यहां विरुद्ध हेतु भी है। फिर वहां पर सिंह होने का कोई दृढ़ प्रमाण भी नहीं—उसे बतलाने वाली एक कुलटा स्त्री है, जिसका वाक्य (सत्यवादी ऋषियों का वाक्य) नहीं—वह अपने एकान्त-स्थल में विघ्न न होने के लिये झूठें भी सिंह का वहां होना कह सकती है (जैसा कि उसने कहा है) अतः सिंह वहां पर है या नहीं ? यह भा अनिश्चित है अतएव यह हेतु असिद्ध है और जब हेतु ही असिद्ध है, तब ऐसी अवस्था में अनुमान का यहां सिद्ध होना सर्वथा असमव है। इसी प्रकार मम्मट ने महिम भट्ट के आक्षेपों का समुचित खण्डन करके यह स्पष्ट सिद्ध कर दिया है कि 'व्यङ्ग्यार्थ' अनुमान का विषय किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता। किन्तु वह (व्यङ्ग्यार्थ) व्यञ्जना शक्ति का व्यापार है।

निष्कर्ष यह है कि ध्वनि-सिद्धान्त इन आक्षेपों से अपने सर्वोच्च स्थान से कुछ भी विचलित नहीं हो सका, प्रत्युत इसके प्रभाव से विरोधी विद्वानों के मत

नाम मात्र शेष रह गये। और कुन्तक और महिम भट्ट की रुय्यक (अलं० स० पृ० ८,१० त्रिवेन्द्रम) और विश्वनाथ (साहित्यदर्पण प्रथम और पंचम परिच्छेद में) जैसे काव्यमर्मज्ञों ने बड़ी तीव्र आलोचना की। अतएव सिद्ध होता है कि ध्वनि-सिद्धान्त प्रखर आलोचनाओं के आघातों से किञ्चित् मात्र भी विचलित न होकर साहित्य-संसार में अद्यावधि सर्वोच्च महान् स्थान पर स्थित हो रहा है।

यद्यपि कालक्रम के अनुसार वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रथम ध्वनि सम्प्रदाय विवेचनीय है। किन्तु वक्रोक्ति सम्प्रदाय का अस्तित्व न रहने के कारण ध्वनि सम्प्रदाय का सिद्धान्त रूप में सबके बाद विवेचन किया जाना ही उपयुक्त है।

———

काव्य-दोष

काव्य का दोष-रहित होना परमावश्यक है। इसीलिये अधिकांश आचार्यों ने काव्य के लक्षण में ही 'दोष-रहित' होना कहा है, जैसा कि 'काव्य का लक्षण' निबन्ध में पहिले उद्धृत किये गये काव्य लक्षणों द्वारा स्पष्ट है। अब यह विवेचनीय है कि काव्य में सामान्यतया 'दोष' किसको कहते हैं। अग्निपुराण में तो केवल यही कहा गया है—'उद्वेगजनको दोषः।'—दोष उद्वेग-जनक है। किन्तु इसके द्वारा यह स्पष्ट नहीं होता है कि उद्वेग-जनक दोष का सामान्य स्वरूप क्या है। इस विषय में आचार्य मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्यों के उपलब्ध ग्रन्थों में स्पष्ट उल्लेख दृष्टिगत नहीं होता। संभवतः आचार्य मम्मट ने ही प्रथम दोष का सामान्य लक्षण देना आवश्यक समझा, क्योंकि सामान्य को जानें बिना विशेष के जानने की इच्छा नहीं होती है। अतएव मम्मट ने—

दोष का सामान्य लक्षण

'मुख्यार्थहतिर्दोषो।' (काव्यप्रकाश उल्लास ७०।४६) यह लिखा है। अर्थात् मुख्य अर्थ का जिससे अपकर्ष हो उसे दोष कहते हैं। उद्देश्य की प्रतीति का विघातक होना ही मुख्यार्थ का अपकर्ष है—

'उद्देश्यप्रतीतिविघातको दोषः।'

काव्यप्र० वामनाचार्य व्याख्या पृ० ३२०

अर्थात् जिस काव्य में जो उद्देश्य हो उसकी प्रतीति में रुकावट होना। बस दोष का सामान्य लक्षण यही है *।

दोषों की संख्यां

दोषों की संख्या के विषय में विभिन्न आचार्यों के विभिन्न मत हैं। नाट्य-शास्त्र में भरतमुनि ने १० काव्य-दोष लिखे हैं। अग्निपुराण में मुख्य तीन दोष और उनके कुछ उपभेद निरूपण किये गये हैं। भामह ने ११ और दण्डी ने १० दोषों का उल्लेख किया है। वामन ने दोषों का निरूपण कुछ अधिक किया है जिसको मम्मटाचार्य ने भी स्वीकार किया है। मम्मट ने दोषों पर बहुत गम्भीरता पूर्वक विचार किया है—काव्यप्रकाश के सबसे बड़े भाग सप्तमोल्लास में दोषों का ही विस्तृत विवेचन किया गया है, जिसमें कालिदास आदि सुप्रसिद्ध अनेक महाकवियों के पद्य दोषों के उदाहरणों में उद्धृत किये गये हैं। विश्वनाथ ने भी साहित्यदर्पण में अधिक विवेचन किया है किन्तु वह काव्यप्रकाश पर ही अवलम्बित है। अन्य आचार्यों के ग्रन्थों में भी न्यूनाधिक दोष विषयक निरूपण प्रायः काव्यप्रकाश के आधार पर ही किया गया है। ध्वन्यालोक में रस विषयक

---

* इस विषय पर अधिक विवेचन पहिले 'काव्य का लक्षण' निबन्ध में काव्यप्रकाशोक्त 'काव्य लक्षण' के अन्तर्गत किया गया है।

दोषों के निरूपण में 'दोष' शब्द के स्थान पर 'अनौचित्य' शब्द का भी प्रयोग करते हुए कहा है—

'अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥'

—ध्वन्यालोक पृ० १४५

ध्वन्यालोक का अनुसरण करते हुए महाकवि क्षेमेन्द्र ने इसी विषय पर एक स्वतंत्र ग्रन्थ 'औचित्यविचारचर्चा' लिखा है। क्षेमेन्द्र ने भी इस विषय पर बहुत मार्मिकता से विवेचन किया है। यों तो काव्यप्रकाशकार ने भी दोष विषयक आलोचना सर्वथा निष्पक्षता से की है किन्तु क्षेमेन्द्र स्वयं महाकवि भी था इसने अपनी कृति के उदाहरण जिस प्रकार औचित्य के उदाहरणों में दिखाये हैं उसी प्रकार अनौचित्य के उदाहरणों में भी दिखा कर इसके द्वारा अपने को निष्पक्ष समालोचक सिद्ध किया है। क्षेमेन्द्र के इस कार्य द्वारा यह भी स्पष्ट हो जाता है कि समालोचक होने पर भी अपनी कृति को 'दोष' से सर्वथा विमुक्त रखना असम्भव नहीं तो दुष्कर तो अवश्य ही है।



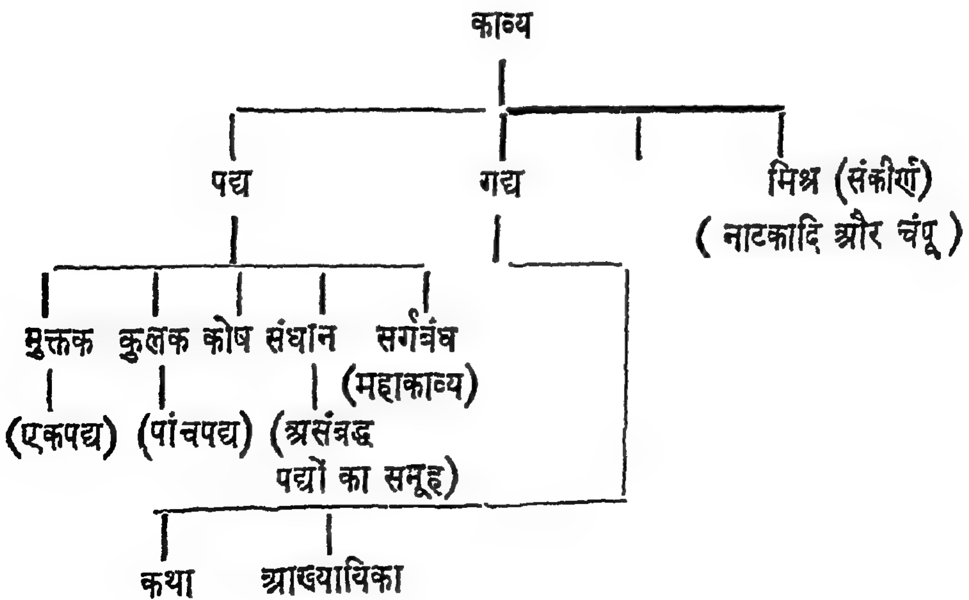
काव्य के विभाग

काव्य का वर्गीकरण साहित्य ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार से किया गया है। अग्निपुराण में काव्य के श्रव्य, अभिनेय (दृश्य) और प्रकीर्ण यह तीन भेद बताये गये हैं—

'श्रव्यं चैवाभिनेयं च प्रकीर्णं सकलोक्तिभिः'

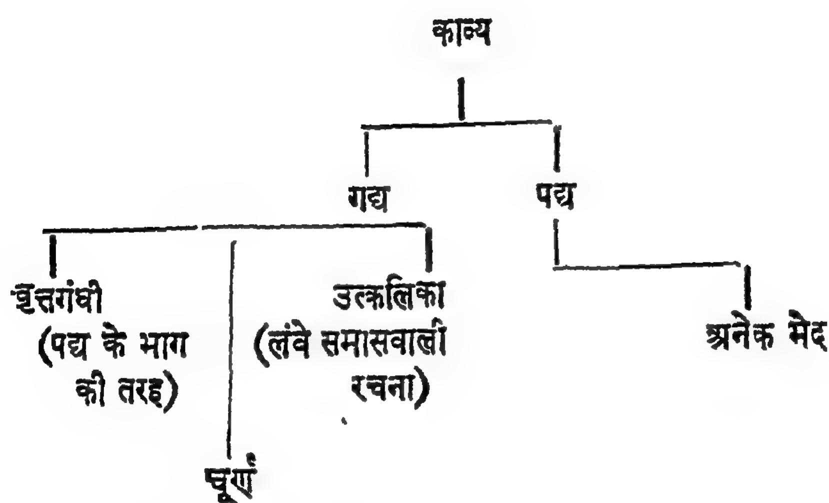
—३३७।३६

भामह ने काव्य को गद्य और पद्य दो भागों में विभक्त करके फिर संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश यह तीन भेद बताये हैं, फिर वह देवचरित, उत्पाद्य वस्तु कलाश्रय और शास्त्राश्रय यह चार भेद और इनके सर्गबन्ध (महाकाव्य), अभिनेयार्थ (नाट्य), आख्यायिका, कथा और अनिबद्ध यह पांच भेद बताता है (का० लं० १।१६-१८) और इसके बाद काव्य के इन विभागों को स्पष्टता करता है (का० लं० १९-३०) और दण्डी ने (का० द० १।११) अग्निपुराण के मतानुसार गद्य, पद्य और मिश्रित यह तीन भेद बता कर फिर इन भेदों को—



इस प्रकार विभक्त किया है। उसके बाद वह काव्य को संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्र भाषाओं में विभक्त करता है।

दण्डी के बाद वामन ने (काव्यालङ्कार सूत्र १।३।२१।२६), काव्य का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—

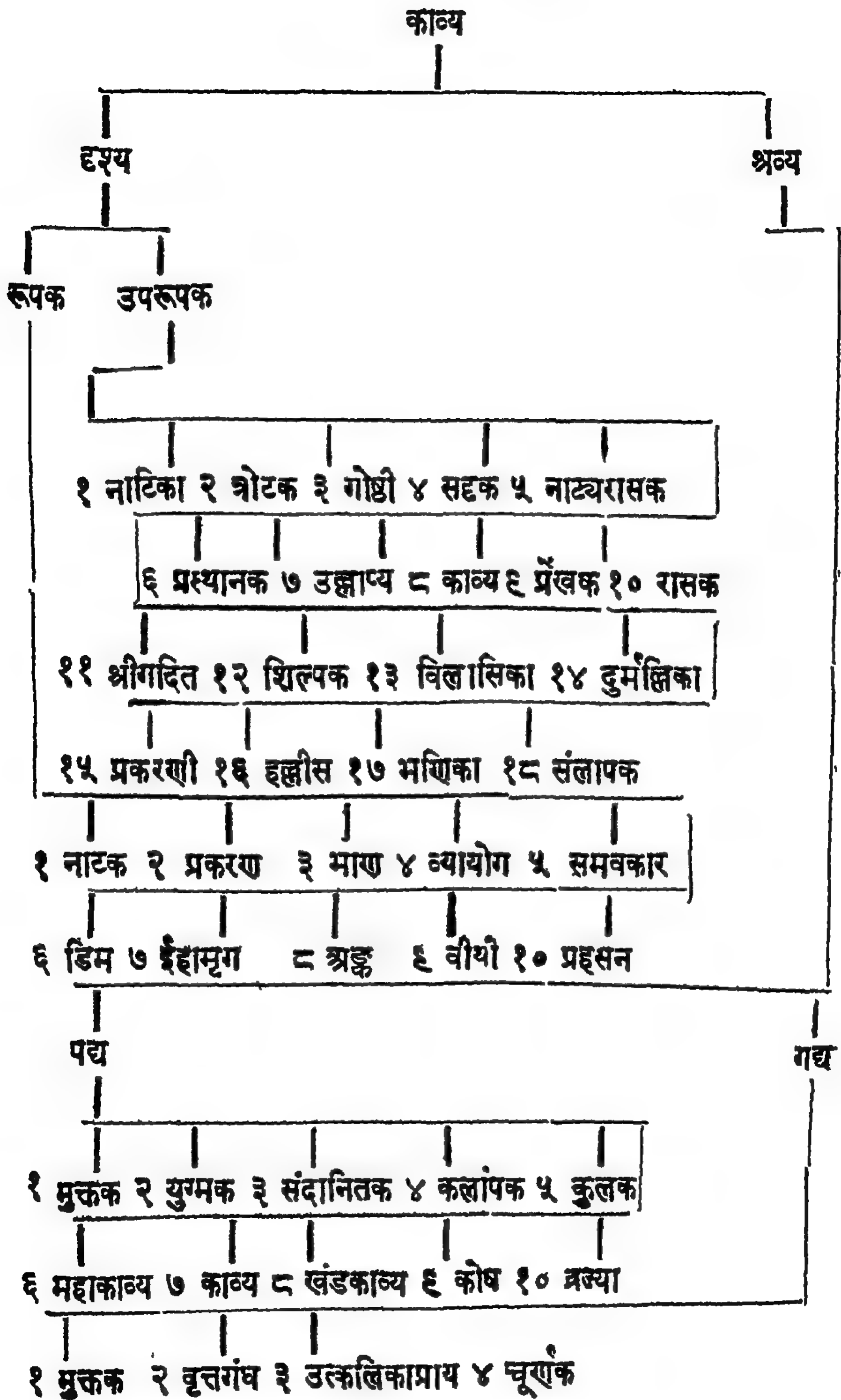


(छोटे समासवाली रचना)

रुद्रट ने काव्य के गद्य और पद्य (छन्दोबद्ध) दो भेद बतला कर उनको प्राकृत, संस्कृत, मागधी, पैशाची, शूरसेनी और अपभ्रंश इन छः भाषाओं में विभक्त किया है।

हेमचन्द्र ने काव्य को प्रेक्ष्य (दृश्य) और श्रव्य दो भेदों में विभक्त कर के प्रेक्ष्य को पाठ्य और गेय दो भेदों में और श्रव्य को महाकाव्य, आख्यायिका, चम्पू और अनिबद्ध इस प्रकार चार भेदों में विभक्त किया है और हेमचन्द्र ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और ग्राम्यापभ्रंश भाषाओं का भी उल्लेख किया है तथा आख्यान आदि को कथा के भेद बताये हैं।

विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के छठें परिच्छेद में काव्य का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—



काव्य
दृश्य
श्रव्य
रूपक
उपरूपक
१ नाटिका २ त्रोटक ३ गोष्ठी ४ सट्टक ५ नाट्यरासक
६ प्रस्थानक ७ उल्लाप्य ८ काव्य ९ प्रेंखक १० रासक
११ श्रीगदित १२ शिल्पक १३ विलासिका १४ दुर्मल्लिका
१५ प्रकरणी १६ हल्लीस १७ भणिका १८ संलापक
१ नाटक २ प्रकरण ३ भाण ४ व्यायोग ५ समवकार
६ डिम ७ ईहामृग ८ अङ्क ९ वीथी १० प्रहसन
पद्य
गद्य
१ मुक्तक २ युग्मक ३ संदानितक ४ कलापक ५ कुलक
६ महाकाव्य ७ काव्य ८ खंडकाव्य ९ कोष १० व्रज्या
१ मुक्तक २ वृत्तगंध ३ उत्कलिकाप्राय ४ चूर्णक

काव्य के इन भेदों के आचार्यों ने लक्षण और किसी-किसी ने उदाहरण भी दिखा कर स्पष्टता की है। यहां ग्रन्थ-गौरव भय से केवल नाम मात्र का उल्लेख किया गया है।



पद्यानुक्रमणिका

ऐतिहासिक नामानुक्रमणिका

———

इस ग्रंथ के लिखने में सहायक और उपयोग में लाये गये ग्रंथों की नामावली

१ अग्निपुराण—आनन्दाश्रम संस्करण पूना

२ अभिधावृत्तिमातृका (मुकुल भट्ट) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

३ अमरकोष

४ अर्थशास्त्र (कौटिल्य)

५ अलङ्कार शेखर (केशव मिश्र) निर्णयसागर प्रेस सन् १८६५

६ अलङ्कारसर्वस्व (रुय्यक) जयरथ की विमर्शिणी सहित—निर्णयसागर प्रेस, बंबई सन् १८६३

७ अलङ्कार सूत्र (रुय्यक) समुद्रबन्ध की व्याख्या अनन्तशयन संस्करण सन् १६२६

८ आनन्दवृन्दावन चंपू (कर्णपूर गोस्वामी) मथुरा

६ आश्रमोपनिषद्

१० उज्वलनीलमणि (श्रीरूपगोस्वामी) नि० सा० प्रेस, बंबई

११ उत्तररामचरित (भवभूति)

१२ ऋग्वेद

१३ एकावली (विद्याधर) बाबे संस्कृत सीरीज

१४ औचित्यविचारचर्चा (क्षेमेन्द्र) नि० सा० प्रेस बम्बई

१५ कठोपनिषद्

१६ कर्पूरमंजरी (राजशेखर) नि० सा० प्रेस, बंबई

१७ कविकण्ठाभरण (क्षेमेन्द्र) नि० सा० प्रेस, बंबई

१८ कामसूत्र (वात्स्यायन)

१९ काव्यप्रकाश (मम्मटाचार्य) वामनाचार्यकृत बालबोधिनी व्याख्या-निर्णयसागर प्रेस, सन् १९०१

२० काव्यप्रकाश—श्री गोविन्दठक्कुरकृत प्रदीप और नागेश भट्टकृत उद्योत व्याख्या सहित

२१ काव्यप्रकाश—माणिक्यचन्द्रकृत संकेत व्याख्या

२२ काव्यमीमांसा (राजशेखर) गायकवाड़ संकेत व्याख्या

२३ काव्यादर्श (दण्डी) कुसुमप्रतिभा व्याख्या लाहोर द्वितीयावृत्ति

२४ काव्यानुशासन (हेमचन्द्र) निर्णय सा० प्रेस, सन् १९०१

२५ काव्यानुशासन (वाग्भट) निर्णयसागर प्रेस, सन् १९१५

२६ काव्यालङ्कार (भामह) विद्याविलास प्रेस, बनारस

२७ काव्यालङ्कार (रुद्रट) नि० सा० प्रेस, सन् १८८६

२८ काव्यालङ्कारसारसंग्रह (उद्भट) भंडारकर पूना सन् १९२५

२९ काव्यालङ्कारसारसंग्रह (उद्भट) निर्णयसा० प्रेस, सन् १९१५

३० काव्यालङ्कारसूत्र (वामन) सिंहभूपालकृत कामधेनु व्याख्या विद्याविलास प्रेस, बनारस १९०७

३१ किरातार्जुनीय (भारवि)

३२ कुट्टनीमत (दामोदर गुप्त) निर्णयसागर प्रेस

३३ कुवलनयानन्द (अप्पय्यदीक्षित) श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई

३४ चन्द्रालोक (पीयूषवर्ष जयदेव) गुजराती प्रिंटिंग बांबे

३५ चित्रमीमांसा (अप्पय्य दीक्षित) नि० सा० प्रेस

३६ छान्दोग्य उपनिषद्

३७ जसवन्तजसोभूषण (मुरारिदान) मारवाड़ स्टेट प्रेस, जोधपुर

३८ दशरूपक (धनंजय) निर्णयसागर प्रेस

३९ देवीशतक (श्री आनन्दवर्धनाचार्य) नि० सा० प्रेस,

४० ध्वन्यालोक (ध्वनिकार) नि० सा० प्रेस, सन् १८९१

४१ नागरीप्रचारिणीपत्रिका, बनारस

४२ नाट्यशास्त्र (श्री भरतमुनि) नि० सा० प्रेस, सन् १८६४
४३ नाट्यशास्त्र (श्री भरतमुनि) अभिनवगुप्तपादाचार्यकृत अभिनव भारती व्याख्या सहित—गायकवाड़ संस्करण
४४ नैषधीयचरित (श्रीहर्ष)
४५ प्रतापरुद्रयशोभूषण (विद्यानाथ) बोंबे सीरीज
४६ प्रसन्नराघव नाटक (जयदेव)
४७ प्राचीनलेखमाला, निर्णयसागर प्रेस बंबई
४८ बालरामायण (राजशेखर)
४६ श्रीभगवद्गीता
५० भक्तिरसायन (श्री मधुसूदन सरस्वती) अच्युतग्रन्थमाला बनारस
५१ भट्टि काव्य
५२ श्री मद्भागवत
५३ भामिनी विलास (पण्डितराज जगन्नाथ) नि० सा० प्रेस, बंबई
५४ मनुस्मृति
५५ महाभारत
५६ महाभारतमीमांसा (श्री चिंतामणि विनायक वैद्य)
५७ माधुरी पत्रिका, लखनऊ
५८ मालवकाग्निमित्र (कालिदास)
५६ मुण्डकोपनिषद्
६० मेघदूत (कालिदास)
६१ मृच्छकटक (शूद्रक)
६२ यशवन्तयशोभूषण (सुब्रह्मण्य शास्त्री) मारवाड़ स्टेट प्रेस
६३ याग्यवल्क्य स्मृति
६४ रसतरंगिणी (भानुदत्त) बनारस
६५ रसमंजरी (भानुदत्त)
६६ रघुवंश (कालिदास)

६७ रसगङ्गाधर (पण्डितराज जगन्नाथ) नि० सा० प्रेस, सन् १८६४
६८ राजतरंगिणी (कल्हण)
६६ वक्रोक्तिजीवित (कुन्तक) ओरियंटल सीरीज कलकत्ता
७० वाग्भटालङ्कार (वाग्भट) नि० सा० प्रेस, बंबई
७१ वाल्मीकीय रामायण—गोविन्दराजीय भूषण आदि तीन व्याख्या सहित—गुजराती प्रिटिंग बांबे
७२ विक्रमोर्वशीय (कालिदास)
७३ विद्यापीठ पत्रिका, बनारस
७४ वेणीसंहार (नारायण भट्ट)
७५ वृत्तिवार्तिक (अप्पय्यदीक्षित) नि० सा० प्रेस, बंबई
७६ व्यक्तिविवेक (महिम भट्ट) निर्णयसा० प्रेस,
७७ श्रृंगारप्रकाश (भोजराज) ला प्रिटिंग मद्रास
७८ श्रृंगारतिलक (रुद्रभट्ट) निर्णयसागर प्रेस,
७९ श्रीकण्ठचरित (मंखक) निर्णयसागर प्रेस,
८० श्वेताश्वतरोपनिषद्
८१ शिशुपालवध (माघ)
८२ संस्कृतवाङ्मयाचा त्रोटक इतिहास (चिन्तामणि विनायक वैद्य)
८३ सरस्वतीकण्ठाभरण (भोजराज) निर्णयसागर प्रेस, बंबई
८४ साहित्यदर्पण (विश्वनाथ) रुचिरा व्याख्या
८५ साहित्यदर्पण (विश्वनाथ) श्रीकाणे सम्पादित नि० सा० प्रेस,
८६ सुभाषितावली (वल्लभदेव)
८७ स्वप्नवासवदत्ता (भास)
८८ हरिभक्तिरसामृत (श्रीरूपगोस्वामी) अच्युतग्रन्थमाला बनारस
८९ हरविजय (रत्नाकर) नि० सा० प्रेस, बंबई
९० हिन्दीमेघदूत विमर्श (कन्हैयालाल पोद्दार)

———

अंग्रेजी के सहायक ग्रंथों की
नामावली

1 Bhandarkar, Dr. Rama & Homer.
2 Cambridge History of India.
3 J. Dahlmann : Das Mahabharata Als Epos Und Rechtsbach.
4 B. S· Dalal : A History of India.
5. S. K De · History of Sanakrit Poetics.
6 Indian Antiquity.
7 James Mill & H. H. Wilson : History of British India.
8 Journal of the Asiatic Society of Bengal.
9 Journal of the Royal Asiatic Society.
10 P. V. Kane : Introduction to Sahitya Darpan.
11 Lionel D. Barnett : Antiqities of India.
12 Macdonell : History of Sanskrit Literature.
13 Max Muller . History of Ancient Sanskrit Literature.
14 Max Muller : India what can it teach us.
15 R. C. Mazumdar : Ancient Indian History.
16 R. G. An Outline of Ancient Indian History and Civiliza-tion.
17 Monier Williams : Indian Wisdom.
18 Mountstuart Elphinston : The History of India.
19 Oldenberg : Das Mahabharata.
20 Peterson : Kashmir Roport.
21 Rameshchandra Dutt . History of Civilization in Ancient India.
22 P. C. Roy : Translation of Mahabharata.
23 C. V. Vaidya : The Mahabharata A Criticism.
24 Vincent A. Smsth · The Oxford History of India.
25 Weber : History of Indian Literature.
26 Winternitz : History of Indian Literature.
